

ISSN 2350-1065 MUKTANCHAL

वर्ष 3, अंक 1, जूलाई - दिसम्बर 2016

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

# मुक्तांचल

मूल्य : 50 रुपये



विद्यार्थी मंच



उस पार से...

मुक्तिबोध

(१३ नवंबर १९१७ - ११ सितंबर १९६४)



नहीं होती, कहीं भी खतम कविता नहीं होती  
कि वह आवेग-त्वरित काल यात्री है  
व मैं उसका नहीं कर्ता,  
पिता धाता  
कि वह कभी दुहिता नहीं होती,  
परम स्वाधीन है वह विश्व-शास्त्री है।  
गहन-गंभीर छाया आगमिष्यत् की  
लिये, वह जन-चरित्रा है।  
नये अनुभव व संवेदन  
नये अध्याय-प्रकरण जुड़  
तुम्हारे कारणों से जगमगाती है  
व मेरे कारणों से सकुच जाती है  
कि मैं अपनी अधूरी बीड़ियाँ सुलगा,  
खयाली सीढ़ियाँ चढ़कर  
पहुँचता हूँ  
निखरते चाँद के तल पर,  
अचानक विकल होकर तब मुझी से लिपट जाती है।

(चकमक की चिनगारियाँ)

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

# मुक्तांचल

त्रैमासिक

वर्ष-3, अंक- 9, जुलाई-सितम्बर 2016

संपादक : डॉ. मीरा सिन्हा  
सह-संपादक : डॉ. अर्चना पाण्डेय  
प्रकाशक : आनंद कुमार सिन्हा  
प्रबंध संपादक : आनंद प्रसाद नोनिया  
कला संपादक : शुभागता श्रीवास्तव  
आकल्पक : सोनू प्रजापति  
संपादन : अवैतनिक

## व्यवस्थापन :

सुलेखा कुमारी, प्रियंका सिंह, जीवन सिंह

## विशेष सहयोग :

डॉ. इतु सिंह : खिदिरपुर कॉलेज, कोलकाता  
डॉ. मनीषा झा : उत्तर बंग विश्वविद्यालय, दार्जिलिंग  
डॉ. पुनीत कुमार राय : शा. महाविद्यालय, शंकरगढ़, छत्तीसगढ़  
राजीव रंजन : अरुणाचल विश्वविद्यालय, अरुणाचल

मुक्तांचल A/c- 50200014076551  
HDFC BANK, BURRABAZAR,  
KOLKATA- 700007  
IFSC CODE- HDFC0000219

पत्रिका में व्यक्त विचारों से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं  
'मुक्तांचल' से संबंधित सारे विवादों के लिए न्याय-क्षेत्र  
कलकत्ता उच्च न्यायालय होगा।

## संपादकीय कार्यालय :

आधुनिक अपार्टमेंट, 6/2/1 आशुतोष मुखर्जी लेन  
सलकिया, हावड़ा-711 106, पश्चिम बंगाल  
संपर्क - 0332675 7195/1686  
ई-मेल - muktanchalquarterly2014@gmail.com

## संपर्क :

संपादक : 098314 97320,  
Email : sinhameera48@gmail.com  
सह- संपादक : 098308 39032  
Email : pandeyarchanaphd@gmail.com  
प्रबंध संपादक : 09748322234  
Email : anand87prasad@gmail.com

मुद्रक : शिक्षण, 50, सीताराम घोष स्ट्रीट,  
कोलकाता-700 009

## आधुनिक कविता पर विशेष

## मूल्य

एक अंक- ₹ 50/-

## सदस्यता शुल्क

वार्षिक- ₹ 200/-, आजीवन- ₹ 2000/-

## संस्थाओं के लिए

वार्षिक- ₹ 250/-, आजीवन- ₹ 2500/-

डाकखर्च (प्रत्येक अंक के लिए) अतिरिक्त ₹ 30 देय होगा।

‘केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा से सहयोग प्राप्त’

## अवस्थिति

शो	संस्तुति	
	आलेख	
ध	10 प्रो. सूर्यप्रसाद दीक्षित :	छायावादी काव्य का वैशिष्ट्य
	16 प्रो. मुक्तेश्वर नाथ तिवारी :	‘कविता सबसे पहले शब्द है’: अज्ञेय
स	20 डॉ. मनीषा झा :	समकालीन हिंदी कविता : अध्ययन की समस्याएँ और स्वरूप
	24 डॉ. सोनम सिंह :	नयी कविता का सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य मुक्तिबोध की दृष्टि में
मी	34 डॉ. ओमप्रकाश एच.शुक्ल :	हिंदी गजल : दुष्यंत के बाद
	अनुशीलन	
क्ष	39 डॉ. रंजना अरगड़े :	‘सरोज-स्मृति’ जीवन के यथार्थ की शोकान्तिका
	43 मीना कुमारी :	सत्योदक से जन-प्राण को सींचता
ण		अविराम काव्य-‘यात्री’ का संवेदन-संसार
	52 भैरव सिंह :	मैंने उसको जब-जब देखा लोहा देखा : केदारनाथ अग्रवाल
सृ	58 विमल वर्मा :	अनुभूति की समसामयिकता
	64 डॉ. उमेश चंद्र शुक्ल :	पंत की परिवर्तन कविता : एक दृष्टि
ज	विमर्श	
	68 प्रो. जगदीश्वर चतुर्वेदी :	संस्कृत काव्यशास्त्र की समस्याएँ
न	75 सुधीर रंजन सिंह :	कविता के प्रतिमान: एक बहस
	पुनर्पाठ	
सं	80 पाण्डेय शशिभूषण शीतांशु :	असाध्य वीणा: ‘जो शब्दहीन सबमें गाता है’
	अन्तःपाठ	
चा	85 डॉ. राजेन्द्र मिश्र :	वह ट्रेजडी वो बावड़ी में अड़ गयी
	89 शशिभूषण द्विवेदी :	संसार को अंगूठा दिखाता अंगूठा: ‘एकलव्य’
र		

शोध	गवेषणा	
	94 प्रो. अवधेश नारायण मिश्र :	स्वच्छंदतावाद : तात्त्विक स्वरूप
समीक्षण	100 ऋचा :	कविता की हुंकार : 'क्यों शाहिद-ए गुलबाग से बाजार में आवे'
	प्रतिलेखन/प्रतिलेख	
	104 देवनाथ सिंह आनंद गौतम :	कसौटी-कविता: कवि-मन दृष्टि और सृष्टियाँ
	कविता	
	109 डॉ. रामदरश मिश्र :	जब मैं यहाँ से जाऊँगा, दीवार, परदा, राह, कविता बोलने लगती है, सीढ़ी
	111 विष्णु चंद्र शर्मा:	अपने में मान बूढ़ा, विज्ञापनदाता से
	112 यश मालवीय :	पिता का माथा विंध्याचल सा, कितना भी मौसम झुलसाए
सृजन	113 तरसेम गुजराल :	किताब से सीखा, भूख के दिनों कवि, हरापन बचाया है मैंने
	114 स्वप्निल श्रीवास्तव :	वायलिन, हाट-बाजार, सभा, कैसे पार कर पाऊँगा नदी, महफिल, मरने का दुख, नामजद, बटन
	116 मधु प्रसाद:	घूम रहे भिनसारे, पथराए संवेदन
	117 ऋतेश पाण्डेय:	यूँ घर जाता हूँ, विस्तार शहर का, वह मनचाहा चित्र नहीं बना पाता, लापता पेड़ और कवि
	सरगम के सुर साधे	
संचार	118 बुद्धिनाथ मिश्र :	एक नदी गुजर गयी, देवदार
	नई पहल नया कदम	
	120 परमजीत पंडित :	प्रचंड-वृष्टि
	कहानी	
	121 कुशेश्वर :	छज्जू पाकेटमार की शादी
	126 सिद्धेश :	फन्टूस
	128 विवेक द्विवेदी :	बेशक मैं गुनहगार था

शोध	भाषान्तर	
	135 सारदा बैनर्जी :	निर्वाचित कविता-शंख घोष की कविताएँ (बांग्ला कविता)
समीक्षा	साक्षात्कार	
	137 राजा अवस्थी:	कमल किशोर गोयनका से बातचीत
	142 रवि शर्मा :	अनूप अशेष से बातचीत
	पुस्तकायन	
	148 डॉ. कमल कुमार:	खोई हुई कविता को याद करते हुए
गण	151 मंजुला उपाध्याय मंजुल :	जीवन को ढूँढ़ती कविताएँ
	154 आनंद प्रसाद नोनियाँ :	आधी आबादी का सच से सामना
	गतिविधियाँ	
सृजन	157 साहित्यिक गतिविधियाँ	
	159 अभिमत	
संचार		

## संस्तुति

कविता का यह अंक आपके सामने है। मेरी गुहार पर नये-पुराने सभी सुधी बंधुओं ने बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया और यह अंक तैयार हो गया। मैं सभी वरिष्ठ एवं कनिष्ठ आलोचकों, प्राध्यापकों एवं रचनाकर्मियों की शुक्रगुजार हूँ जिनकी गंभीर हिस्सेदारी 'मुक्तांचल' को आकार दे रही है। किसी भी देश अथवा भाषा के साहित्य का ककहरा कविता से शुरू होता है। कविता सबसे आदिम विधा है। यह जन्मना 'सब्जेक्टिव' है और कर्मणा बस एक ऐसी अभिव्यक्ति जिसमें भावों का गहरा संश्लेष होता है और प्रभाव डालने की अद्भुत ताकत भी। संसार की प्रायः सभी भाषाओं में यह विधा पुराण और इतिहास को भेदती हुई अपनी श्रुत परंपरा में जीवित रही है। लोक ने इसे सँवारा है, रूप दिया है और आचार-आचरण में दृष्टांत की तरह ढाला है। कविता हमेशा एक तरह की वियुक्तता, अभाव या पीड़ा का इजहार है। पंत पहले कवि को वियोगी की संज्ञा से अभिहित करते हैं, ऐसा वियोगी जिसके 'आह से निकला होगा गान' और यही नहीं 'उमड़कर आँखों से चुपचाप बही होगी कविता अनजान', इन पंक्तियों से दो-तीन बातें निकलकर आती हैं। प्रथमतः वियुक्तता अथवा अभाव या एक तरह का रिक्ति-बोध और तब उससे उत्पन्न दर्द या 'मेलेन्कोलिया', अवसाद फिर कविता का अश्रु रूप में म्रान्वित होना एक विशिष्ट संकेत है कि कविता द्रवणशील होती है। वह 'आह' से उत्पन्न होकर आँखों की राह चलती है, अर्थात् वह चेतना को थामे रहती है तथा करुणा को प्रवाहित करती है। व्यक्ति मन 'स्व' से 'पर' की तरफ यात्रित होता है। इसी तरह प्रसाद 'घनीभूत पीड़ा को दुर्दिन में आँसू बनकर' बरसते देखते हैं और 'जीवन धन इस जले जगत को वृंदावन बन जाने दो, कि कामना करते हैं। अज्ञेय अपमान अवज्ञा के धुँधलाते कड़वाहट से 'दीप अकेला स्नेह भरा' को पंक्ति को दे देने की सिफारिश करते हैं। मुक्तिबोध संवेदनात्मक ज्ञान की हिमायत करते हुए आभ्यन्तर की माँग तो करते हैं किंतु ज्ञानात्मक संवेदना उन्हें कहीं ठहरने नहीं देती है और वे 'सब्जेक्टिविटी' से 'ऑब्जेक्टिविटी' की तरफ मुड़ जाते हैं तथा 'रस्सी के पुल से शिखरों की यात्रा' करते हुए उस 'अरुण कमल' की खोज करते हैं जो मुक्ति का पर्याय है।

साहित्य की विविध विधाओं में कविता की विधा हर काल-हर युग में मुक्ति प्रसंग से कहीं अधिक जुड़ी रही है। मुक्ति के संदर्भ एवं मायने समयानुकूल बदलते रहे हैं। हिंदी साहित्य के संत कवियों ने 'सीकरी' से विरक्ति दिखाकर भव्य भौतिकता से परहेज जताया था। 'सन्तन को कहा सीकरी सों काम' तो दूसरी तरफ बहुत सारे कवि अपने रचना कर्म को बचाये रखने के लिए संरक्षण की लंबी परंपरा में जीते रहे, रचते रहे और तब से लेकर

आज तक वह परंपरा भी मलिन नहीं हुई है। उनका भी अपना दर्द है— परस्पर द्वंद्व है, वियुक्तता है, भौतिक जीवन की खराश है। सब कुछ है परंतु वह 'आत्म' नहीं है, 'सब्जेक्टिविटी' है ही कहाँ, मौलिकता तो दूँदे नहीं मिलती। निर्धारित विषयों पर लिखी जाने वाली कविता समारोहों में वांछित होती हैं। कवि समादृत होते हैं, उन्हें दो बातें आकर्षित करती हैं 'एक्सपोजर' और 'प्लेटफॉर्म' जब वहाँ तक पहुँच गये तब आसमान पर सीढ़ियाँ लगाना आसान हो जाता है; खैर, मायूस करती हैं आज की रचनाएँ क्योंकि संवेदित नहीं कर पातीं। कविता सिर्फ़ इबारत नहीं होती न ही सुखरू बनाने वाला कोई औजार। काश 'एक्सपोजर' की खोज में रत रचनाकार इस बात को समझ पाते। ...आज कविता जिस मुकाम पर है वह मुफलिसी का सबब नहीं है। वियुक्तता या रिक्तता का किस्म भी बदल चुका है। क्योंकि मुद्रा की छल-चल-छाया में तैरती है कविता, उसकी गहराई में आत्मा का अवशेष ही नहीं रहा है, सब कुछ जैसे जड़मूल से खत्म हो चुका है। किसी हद तक अब 'सेटेलाइट' से जिंदगी को देखने-परखने की आदत बनती जा रही है इसलिए जो जन्मना कवि थे उन्होंने अनुभूतियों को तहाकर रख दिया है और कर्मणा कवि तख्तियों की तलाश में भटकते रहते हैं— जुगाड़ जम जाने पर लिखते, छपते हैं— उनका लिखा कोई बजाये और दिग्-दिगन्त तक झनक जाये— महिमा से मण्डित हो भौतिक लिबास किस रंग की, किस बहर की, किस विमर्श की; आलोचक की पैनी नजर छूटती है और कविता दम तोड़ देती है... सपाट और बेअसर /जैसे शब्दों के डब्बे/ में दूँस दी गई हो।

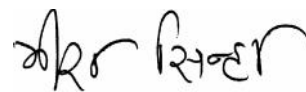
आज का परिवेश रचनात्मक सोच की आजादी नहीं देता। हर बात की तौल बाजार के बाट से होती है— बिकेगी या नहीं! जो दर्द था, जो तनाव रहा है, जो विसंगतियाँ रही हैं— वहाँ से मानवीय संवेदना के सभी रेशे टूटते उलझते नजर आ रहे हैं। लेखक चाहे किसी भी 'संघ', 'वाद' या 'मंच' से जुड़ा हो अपनी सोच, अपने व्यवहार एवं निर्णय की स्वतंत्रता को महसूस नहीं कर पाता। निरंतर दबाव की नियति लेखक के दिल एवं दिमाग पर हावी रहती है और उसका सर्जनात्मक कर्म अवरुद्ध हो रहा है। प्रतिष्ठानों एवं अनुष्ठानों में जुटने वाले रचनाकर्मी— जिल्द बनते हैं— स्थापित और सम्मानित होते हैं। उन्हें 'एक्सपोजर' चाहिए होता है। अतः उनका रोना भी 'रुदाली' का रोना होता है क्योंकि उन्हें रोने की कीमत बख्श दी जाती है। इस प्रकार प्रभुता संपन्न, वर्चस्वशाली, सत्तासीन वर्ग ही साहित्य, कला और संस्कृति को न केवल अपनी कनात की छाँव ही देता है बल्कि दाना-पानी भी मुहैया करता है कि ऐसा ही लिखें, ऐसा ही बोलें।

'मुक्तांचल' का मुख्य स्वर अकादमिक है। अध्ययन-अध्यापन से जुड़े अपने मित्रों से मेरा अनुरोध है कि वे अपने पेशे की ईमानदारी से जुड़ें और निरंतर शोध एवं समीक्षण का विस्तार करें। बदलते परिप्रेक्ष्य में साहित्य के बहुत सारे सवाल अध्येताओं के सामने खड़े हैं। जरूरी है कि हम उन सवालों से लड़ें और नई रोशनी पैदा करें। अतीत में हिंदी भाषा और साहित्य के



अधिकांशतः चिंतक किसी न किसी विश्वविद्यालय के परिसर से जुड़े रहे थे, बचे हुए वरिष्ठ जन आज भी अपनी वदान्यता बनाए हुए हैं, 'मुक्तांचल' उनका आभारी है। आजकल समारोहों का दौर अधिक हावी है— मनीषी, चिंतक और विद्वान समारोही अधिक हो गये हैं अतः उनकी व्यस्तता भी बढ़ चली है। परिश्रम से एक आलेख तैयार करने की तुलना में किसी एक समारोह में व्याख्यान देना अधिक लोकप्रियता देता है फिर 'मुक्तांचल' की उबड़-खाबड़ धरती पर पारिश्रमिक का भी कोई डौल नहीं है। आश्चर्य तब हुआ जब एक जाने-माने वरिष्ठ विद्वान ने पारिश्रमिक के बगैर लिखने में अपनी असमर्थता जाहिर की। कहा— हम लोग रोज 'कुआँ' खोदते हैं रोज पानी पीते हैं तो जनाब पानी पी-पी कर बड़े प्रकाशकों के चंगुल में ही फँसे रह जाते हैं— वे जितना घर चलाते हैं आप उतना ही चलते हैं। बड़े-बड़े सिद्धांतों के जुमले जोड़ना आसान है धरती पर उसे कार्यान्वित करना अत्यंत कठिन। मुझे लगा मैं क्या इस बार भी हार जाऊँगी। बड़े-बड़े दिग्गजों की तूती के सामने अपनी क्या मजाल।— फिर भी....खैर, विषयांतर हो गया। खलिश जो रहती है, निकल ही आती है।

यद्यपि कि 'मुक्तांचल' में शोध-समीक्षण एवं सृजन को समान रूप से वरीयता दी जाती है। सृजन पक्ष के रचनाकारों से मेरा अनुरोध है कि वे 'मुक्तांचल' में प्रकाशन के लिए ऐसी रचनाएँ ही प्रेषित करें जो अपने में रचनात्मक संवाद की संभावना लिए हुए हो। सीधी-सपाट रचनाएँ 'मुक्तांचल' जैसी अकादमिक पत्रिका का अभिप्रेत नहीं है। हम कई नये स्तंभों की खोज में रहते हैं और उनकी शुरुआत भी करते हैं। हमारा कविता का एक स्तंभ 'सरगम के सुर साधे' का आरंभ वरिष्ठ कवि पाषाण जी की कविताओं के साथ शुरू हुआ था। यह स्तंभ हर बार किसी न किसी वरिष्ठ कवि के आत्म-वक्तव्य एवं कविता के साथ जारी है। इस बार हमने प्रलेखन/प्रतिलेखन के स्तंभ की शुरुआत श्री आनंद गौतम जी के आलेख से की है। पत्रिका को पढ़ने के पश्चात कोई भी अगर आलेख अथवा विमर्श आपको प्रतिक्रियायित करता है तो उसके पक्ष या विपक्ष में अपना प्रलेखन अथवा प्रतिलेखन आप प्रेषित कर सकते हैं। यह पाठकीय अभिमत से भिन्न होगा क्योंकि इसका स्वरूप विश्लेषणात्मक होगा। हमारी नजर हमेशा हिंदी साहित्य के उच्च शिक्षण एवं शोध से जुड़े संस्थानों एवं विश्वविद्यालयों की तरफ होती है क्योंकि हमारे सपनों का 'मुक्तांचल' विद्यार्थियों एवं आचार्यों के आँगन में ही स्थापित होगा।



संपादक

## छायावादी काव्य का वैशिष्ट्य

प्रो. सूर्यप्रसाद दीक्षित

प्राक्तन अध्यक्ष एवं आचार्य (हिंदी विभाग)

लखनऊ विश्वविद्यालय

छायावाद जागरण का काव्य रहा है। इसे शक्ति काव्य भी कहा जा सकता है। आधुनिक युग में प्रथम बार छायावाद को ही विराट मानवीय चेतना की भाव भूमि पर प्रतिष्ठित होने का श्रेय प्राप्त हुआ है। यद्यपि इस काव्य को उद्दाम वैयक्तिकता का विस्फोट माना गया है, फिर भी विश्व दृष्टि को भी आत्मसात् करने में छायावाद ने पहल की है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि विज्ञान के चाकचिक्य से बढ़ती हुई अति बौद्धिकता और उससे उत्पन्न जीवन विभीषिका से हमें सचेत करते हुए जनजीवन को एक मंगलमय भविष्य के सुनहरे स्वप्न दिखाकर उन्हें कुंठित होने से बचाने का स्तुत्य कार्य छायावाद ने किया है। इस काव्यान्दोलन की प्रमुख वैचारिक देन निम्नवत है-

**आत्माभिव्यक्ति :** छायावाद में व्यष्टि और समष्टि चेतना का अपूर्व समन्वय दिखाई देता है। इस काव्य ने व्यक्ति स्वातंत्र्य को प्रेरित किया। फिर विश्वबोध में उसका विलयन किया। निराला की एक प्रसिद्ध पंक्ति है- “मैंने मैं शैली अपनाई”। इसमें कवि का ‘मैं’ समूचे वर्ग की पीड़ा को अपनी भाव निधि मानता है। प्रसाद जी के ‘आँसू’ में भी इसी प्रकार वैयक्तिक विरह को विश्व-वेदना-रूप में परिणत किया गया है। कवि की यही कामना है-

‘चुन-चुन रे कन-कन से जगती की सजग व्यथा।’ यहाँ व्यक्तित्व का उदात्तीकरण हुआ है। कवि पंत और निराला का काव्य भी आत्माभिव्यक्ति की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। प्रसाद जी तो आत्म की अभिव्यक्ति की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। प्रसाद जी तो आत्म की अभिव्यक्ति की दिशा में मौन ही रहे हैं। वे स्पष्ट कहते हैं-

“सुन करके क्या भला करोगे मेरी भोली आत्मकथा।

अभी समय भी नहीं, थकी सोयी है मेरी मौन व्यथा।”

‘आत्मा’ का यह प्रगल्भ रूप निराला के गीतों में भरा पड़ा है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं-

“मैं अकेला! देखता हूँ आ रही मेरे दिवस की सान्ध्य वेला!”

“स्नेह निझर बह गया है, रेत ज्यों तन रह गया है”

“अभी न होगा मेरा अंत!”

“मेरा अंतर वज्र कठोर”

“मैं ही वसंत का अग्रदूत।” आदि।

पंत जी ने जहाँ 'स्वयं' को संबोधित किया है, वहाँ उनका 'आत्म' बहुत मुखर है। वे पहले प्रकृति चित्रण करते हैं, फिर उसी में आत्म दर्शन करने लगते हैं। 'एकतारा' में कवि एकाकी नक्षत्र का रूपांकन करते-करते आत्माभिव्यक्ति करने लगा है। 'नौका विहार' कविता का अंत भी आत्माभिव्यक्ति के साथ हुआ है- "इस धारा सा ही जग का क्रम!"

पंत जी जगजीवन के उल्लास के कवि रहे हैं-

"जगजीवन में उल्लास मुझे, नव आशा नव विश्वास मुझे।" वे स्वयं की समीक्षा करते हुए कहते हैं- "मैं प्रेमी उच्चादर्शों का, संस्कृति के स्वर्गिक स्पर्शों का।" उनकी तो यही कामना रही है- "जीवन की लहर-लहर से हँसकर खेले खेल रे नाविक। 'जीवन का अंतस्तल में नित बूड़-बूड़ से भाविक।" आत्माभिव्यक्ति का स्वर महादेवी जी के- "मैं नीर भरी दुःख की बदरी।" या "पथ मेरा निर्वाण बन गया।" आदि गीतों में व्यक्त हुआ है। तात्पर्य यह है कि छायावादी काव्य में आत्माभिव्यक्ति का मौन मुखर स्वर आद्यंत विद्यमान है।

**रुढ़ियों से मुक्ति का प्रयास :** छायावादी काव्य विनत विद्रोह का काव्य है। उसने प्रथम बार पौराणिकता का निषेध किया और यूरोपीय विद्वानों द्वारा थोपे गये इतिहास को नकार कर नया राष्ट्रीय इतिहास निर्मित किया। ये कवि किसी राजनीतिक विचारधारा के अनुगत नहीं रहे, न मार्क्स के न गाँधी के। उनका अपना चिंतन रहा है और अपनी प्रणाली भी। छायावादी कवि निराला ने हर प्रकार की रुढ़ि पर प्रहार किया और नये विषय, नयी भाषा के साथ नये छंद (मुक्त छंद) का प्रवर्तन किया। कवि पंत ने ठीक ही कहा था- "कट गये छंद के बंध प्रास के रजत पाश।" निराला जी का जयघोष था- "तोड़ो-तोड़ो कारा! निकले फिर गंगा जल धारा।" प्रसादजी के शब्दों में- "पुरातनता का निर्मोक" प्रकृति को एक पल के लिए भी सह्य नहीं है। इसी ध्येय से पंत जी ने यह कामना की "द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र"। अथवा "नष्ट भ्रष्ट हो जीर्णपुरातन।" 'परिवर्तन' कविता तो इस महाकाल की चेतना का ज्वलंत प्रमाण है।

निराला जी के काव्य में नवता के प्रति बड़ा आग्रह

है। वे निरंतर 'नवगति-नवलय ताल छंद नव, नवल कंठ नवजलद मंद्र नव के' अभिलाषी रहे हैं। उनके गद्य में भी रुढ़ियों से मुक्ति पाने की छटपटाहट दिखाई देती है। छायावाद के इस विद्रोही स्वरूप के प्रति पुरातनपंथी आलोचकों की प्रतिक्रिया अनुकूल नहीं रही और उन्होंने अंध प्रथाओं के समर्थन में इस काव्यान्दोलन का विरोध किया, किंतु नई युगधारा को कौन रोक सकता है? छायावाद में मानवीय प्रेम सौंदर्य के जो रंग बिरंगे चित्र उभरते हैं, द्विवेदीयुगीन कोरी नैतिकता की दृष्टि से आपत्तिजनक थे। प्रसाद के 'आँसू' में कवि अपने संयोग वियोग के मुक्त उद्गार व्यक्त किये। इसी प्रकार पंत की कविता 'पत्नी के प्रति' या 'ग्रंथि' में चित्रित दृश्यों से, साथ ही निराला के श्रृंगारिक गीतों से महादेवी की रहस्यानुभूति द्वारा सड़ी गली रुढ़ियों को आघात लगा। छायावाद काव्य का यह विद्रोही भूमिका ऐतिहासिक विकासक्रम में महत्वपूर्ण है।

**प्रकृति-प्रेम :** छायावादी कविता का प्रकृति से बड़ा घनिष्ठ संबंध रहा है। प्रकृति इन कवियों के देश प्रेम और व्यक्ति स्वातंत्र्य की आकांक्षा की पूरक रही है। छायावादी कवि ने प्रकृति को सर्वसुंदरी कहा है। पंत जी के कथनानुसार उन्हें कविता करने की प्रेरणा प्रकृति से मिली है। वास्तव में ये चारों कवि निसर्ग के कवि रहे हैं। प्रसाद जी ने अपने निबंध 'प्रकृति सौंदर्य' में प्रकृति को विलक्षण ईश्वरीय देन कहा है और विश्वात्मा की छाया भी माना है। उनके अनुसार यह प्रकृति 'परम रमणीय अखिल ऐश्वर्य भरी (कामायनी) हुई है। वह अनंत वर्ण रंजित मनोहारिणी छटा है, जो मनुष्य को आत्मचैतन्य की ओर अग्रसर करती है। निराला जी ने तो प्रकृति के अनेक कोमल और रौद्र रूपों को चित्रित किया है और बार-बार मानवीकरण (नारीकरण) किया है। 'तुलसीदास' नामक काव्य में उन्होंने प्रकृति के माध्यम से चित्त का उदात्तीकरण कराया है। तात्पर्य यह है कि प्रकृति छायावादी की चिर सहचरी रही है।

बाह्य प्रकृति के अनेक रूप छायावाद में चित्रित हुए हैं, किंतु पर्वतीय पर्यार्य तथा सागर, सरिता और निर्झर के दृश्य अपेक्षाकृत अधिक हैं। प्रसाद जी ने हिम शिखरों को शोभनतम कहा है और उसके विभिन्न रूपों को विभिन्न संदर्भों में अभिव्यक्त किया है। पंत स्वमेव 'पर्वतपुत्र' हैं।

उन्होंने 'हिमाद्रि' अल्मोड़े का पावस, गिरि पूर्वांचल के प्रति, आदि कविताओं में पर्वतीय प्रकृति की बार-बार परिक्रमा किया है। उनके जैसा सूक्ष्म और विशद प्रकृति-चित्रण समूची हिंदी कविता में अन्यत्र कहीं प्राप्त होता है। सागर, सरिता, निर्झर तथा जल प्रवाह की ध्वन्यात्मक व्यंजना निराला की कविताओं में बहुत है। 'बादल राग', 'अलि घिर आये घनपावस के', 'प्रपात के धारा' आदि कवितायें इस दृष्टि से विलक्षण हैं। ऋतु सौंदर्य का प्रकृति चित्रण में विशेष महत्त्व है। इन कवियों ने पावस, शरद और वसंत ऋतु के मनोमुग्धकारी चित्र प्रस्तुत किये हैं। ये कृतियाँ गौरव-प्रतीत हैं। प्रकृति के विभिन्न कालखंड जैसे- उषा (सूर्योदय), संध्या, चंद्र ज्योत्स्नामयी अर्धरात्रि आदि के प्रति इन कवियों ने आसक्ति प्रदर्शित की है। प्रसाद का गीत 'बीती विभावरी जाग री' निराला की 'संध्या सुंदरी', पंत की कविताएँ 'संध्या के बाद', 'एक तारा' आदि चिरस्मरणीय रहेंगी। इन कवियों ने प्रकृति के छोटे से छोटे तत्त्वों पर दृष्टि डाली है, जैसे पहला तारा, ओस बिंदु, विभिन्न पशु-पक्षी एवं वनस्पतियाँ। तात्पर्य यह है कि छायावादी कवियों ने प्रकृति को उसकी परिपूर्णता में ग्रहण किया है। उन्होंने सौन्दर्योपासक कलाकार के रूप में प्रकृति की वंदना की है। इन्हें यों तो प्रकृति के सभी रूप प्रिय हैं, किंतु करुण कोमल रूप अपेक्षाकृत अधिक रुचिकर लगे हैं। इन्होंने प्रकृति से समात्मभाव स्थापित किया है। इनके विषय चयन का अपना मनोवैज्ञानिक आधार रहा है। प्रकृति को इन्होंने प्रेम, सौंदर्य, रहस्य, आनंद, अध्यात्म, एकांतप्रियता और स्वच्छंदता का सेतु माना है। पंत जी ने तो इसे 'देवि का सहचरिप्राण' अर्थात् अपना सर्वस्व स्वीकार किया है। निष्कर्ष यह है कि यह प्रकृति छायावादी काव्य सौंदर्य का मूलधार है।

**नारी विषयक दृष्टिकोण :** छायावादी काव्य नारी के प्रति सर्वाधिक उदार दिखाई देता है। नारी के प्रति इन कवियों में न भक्तिकालीन कवियों के जैसा तिरस्कार भाव है और न रीतिकाव्य जैसा कायिक कौतुकी कदाचार है। इन्होंने द्विवेदी युगीन परहेजी संस्कार एवं प्रगतिवाद, प्रयोगवाद के यौनाकुल आवेशज्वार से ऊपर उठकर नारी को मानवीय सौंदर्य की अधिष्ठात्री, मानवीय करुणा की विधात्री अर्थात्

जीवन के समस्त शुभ संकल्पों की निर्मात्री घोषित किया है। प्रसाद के मतानुसार तो-

*नारी तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास रजत नग पग तल में।  
पीयूष स्रोत सी बहा, करो जीवन के सुंदर समतल में।*

कवि ने नारी को दया, माया, मधुरिमा, अगाध विश्वास आदि शुभ एवं श्रेयस्कर भावों का प्रतीक घोषित किया है। छायावादी कवियों की दृष्टि में नारी विलास की सहचरी न होकर उच्चतम भूमियों तक ले चलने वाली शक्ति है। पुरुष की क्रूरता को मनुष्यता के रूप में परिणत करने का कार्य नारी शक्ति का ही है। वे कहते हैं-

*'शासन करोगी तुम क्रूरताओं पर, मानस की माधुरी से।'*

निराला जी ने नारी के प्रति सदाशयता प्रदर्शित की है। वे महाशक्ति के उपासक रहे हैं। उनके मतानुसार जैसे तुलसीदास को रत्नावली से प्रेरणा प्राप्त हुई, उसी प्रकार स्वयं उन्हें मनोहरा देवी से प्राप्त हुई। उन्होंने नारी को पारम्परिक तथा आधुनिक इन दोनों रूपों में अंकित किया है। पंत की नारी तो स्वप्नलोक की मानसी प्रतिमा है। वे उसके सौंदर्य के चितरे हैं और आदर्श नारीत्व के पूजक भी। महादेवी जी स्वयं नारी जीवन उसकी विरह वेदना अर्थात् भारतीय नारी की समस्त मनोभूमि की चित्रकर्त्री रही हैं उनके गद्य में तो नारी जीवन की कुछ प्रतिक्रियाएँ यत्र-तत्र प्रकट हो गयी हैं, किंतु उनका कविता में किसी प्रकार का मतवाद अर्थात् 'नारीवाद' नहीं उभरा है। हाँ, कवयित्री की संवेदनाएँ अवश्य मुखर हुई हैं। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि हिंदी कविता की सुदीर्घ परंपरा में छायावादी काव्य ने प्रथम बार नारी के प्रति एक स्वस्थ दृष्टिकोण प्रकट किया है।

**युग यथार्थ की अभिव्यक्ति :** छायावादी काव्य ने यथार्थ का वह अर्थ नहीं लिया, जिससे लघुत्वकामी दृष्टि अथवा अधः प्रेक्षण का मंतव्य निकलता है। उनकी दृष्टि में यथार्थ एक व्यापक सत्य-तथ्य है। इन कवियों ने अपनी समकालीन सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक व्यवस्था को खुली दृष्टि से देखा था और भरसक समस्याओं का समाधान भी खोजा था। प्रसाद जी ने कामायनी में विगत तथा वर्तमान के साथ-साथ भावी युग जीवन की भी रूपरेखा प्रस्तुत करने की चेष्टा की। निराला की कई कविताएँ, जैसे

‘वह तोड़ती पत्थर’, ‘दीन’, ‘विधवा’, ‘छोड़ दो जीवन यों न मलो’, ‘दान’ आदि युगीन यथार्थ की अभिव्यक्ति हैं। पंत जी ने ‘युगांत’, ‘ग्राम्या’ और ‘युगवाणी’ में इस युग यथार्थ को अभिव्यक्ति दी है। जब वे कहते हैं ‘यह तो मानव लोक नहीं रे, यह है नरक अपरिचित’ तो वहाँ युग का कटु यथार्थ बोल उठता है। इन कवियों का यथार्थ किसी राजनीतिक मतवाद से ग्रस्त नहीं है। वह इनकी व्यापक लोक संवेदना से उत्पन्न है और इनके काव्य के जनाधार का प्रमाण है।

**राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना :** छायावाद राष्ट्रीयता का पोषक रहा है। नवजागरण की उस बेला में अपनी स्वाधीनता के लिए विदेशी शासकों के विरुद्ध सत्याग्रह (संघर्ष) करती हुई भारतीय जनता को राष्ट्र के अतीत गौरव अर्थात् उसकी सांस्कृतिक चेतना से अवगत कराना बहुत आवश्यक था। इसीलिए प्रसाद जी ने अपने नाटकों में राष्ट्र का क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत किया। उनकी काव्य कृतियों में बौद्ध करुणा से शैवागम के आनंदवाद तक की अनेक दार्शनिक विचारधाराओं का संदेश है। इसी प्रकार निराला जी में वेदांत, योग तथा शाक्तमत, पंत जी में मार्क्सवाद, अरविंद दर्शन और गाँधीवाद, महादेवी जी में बौद्ध करुणा तथा अद्वैत दर्शन की पर्याप्त अनुगूँज है। भारतीय अध्यात्म के अतिरिक्त इन कवियों ने सामाजिक संचेतना के श्रेष्ठ पक्षों की ओर संकेत किया है और इन सबसे राष्ट्रीय एकता को प्रश्रय दिया है। प्रसाद जी ने तो अपने एक गीत— “हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार” में भारत देश के हजारों वर्षों का स्वर्णिम इतिहास अंकित कर दिया है। निराला जी का प्रसिद्ध गीत “भारति जय विजय करे” और पंत जी का प्रख्यात गीत— “भारत माता ग्रामवासिनी” इन कवियों की राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना की दृष्टि से उल्लेखनीय है। प्रसाद जी ने तो विदेशी, विधर्मी और विभाषी शत्रु कन्या कार्नेलिया तक से भारत की वंदना करायी है। उनका यह गीत राष्ट्रीय चेतना का अनन्त प्रमाण है— “अरुण यह मधुमय देश हमारा है” इसी प्रकार इस प्रयाण गीत में राष्ट्रीयता का ओजस्वी-तेजस्वी स्वर मुखरित हुआ है—

“हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती

स्वयं प्रभा समुज्ज्वला स्वतंत्रता पुकारती—

अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञा सोच लो

प्रशस्त पुण्य पंथ है, बड़े चलो, बड़े चलो।”

तात्पर्य यह है कि राष्ट्रीय चेतना की दृष्टि से छायावाद एक सम्पन्न काव्य है।

**छायावादी काव्य का विशिष्ट रचना विधान :**

छायावाद ने शिल्प विधि में अपनी पृथक् पहचान बनायी है। इन कवियों के काव्य सौष्ठव को समझने के लिए इनके बिम्बविधान अथवा कल्पना विधान को भलीभाँति समझना होगा और उसी के साथ-साथ उनकी काव्य भाषा तथा काव्य शिल्प को भी।

**कल्पना का नवोन्मेष :** छायावादी कविता का सर्वाधिक

महत्त्वपूर्ण पक्ष है— अनुभूति और कल्पना का विधान, जो बहुत ही विलक्षण है। कामायनी में श्रद्धा की मुखच्छवि घटाटोप के बीच खिले गुलाबी रंग के बिजली के फूल जैसी प्रतीत होती है। उस मुख पर थिरकती हुई स्मिति को कवि ने अनेक उत्प्रेक्षाओं द्वारा उपस्थित किया है। प्रसाद जी की कल्पना बहुत सुदूरगामी है। प्रकृति के परिप्रेक्ष्य में उन्होंने बड़े विराट एवं सूक्ष्म बिम्ब प्रस्तुत किए हैं। कवि ने पृथ्वी को सिंधु की सेज पर संकुचित बैठी हुई नवोद्भा बधू के रूप में जिस प्रकार चित्रित किया है, वह एक विदग्ध कल्पना है— “सिंधु सेज पर धरा बधू .... तनिक संकुचित बैठी सी।” इसी प्रकार हिमालयी प्रकृति को श्वेत कमल कहना और उस पर प्रतिबिंबित अरुणिमा को ‘मधुमय पिंग पराग’ कहना एक विलक्षण उक्ति है कल्पना और अनुभूति का ऐसा मणिकांचन संयोग दुष्कर है।

प्रसाद जी की काव्य कला बिंबविधायिनी कल्पना और रूपक रचना के सहारे बहुशः व्यक्त हुई है। — “बीती विभावरी जाग री” शीर्षक गीत इसका विलर उदाहरण है। इन कल्पना चित्रों में बड़ी गूढ़ार्थ व्यंजना है। कवि ने अप्रस्तुतों का प्रयोग करके यत्र-तत्र एक विंबमाला सी उपस्थित कर दी है। बिंबधर्मिता उनकी काव्य कुशलता की सर्वोपरि सिद्धि है।

निराला जी की बिंबविधायिनी क्षमता उनकी कई कविताओं, जैसे ‘राम की शक्ति पूजा’, ‘सरोज स्मृति’ और खण्ड काव्य ‘तुलसीदास’ में विशेषतः उद्भाषित हुई है। उन्होंने



दृश्यों और ध्वनिबिंबों में विशेष प्रयोग किया है, जैसे- ‘नत नयनों का आलोक उतर, काँपा अधरों पर थर थर थर, ज्यों मालकौश नव वीणा पर।’

निराला जी के बिंबों में बड़ी व्यंजनातिशयता है। जनक वाटिका में राम और सीता के पूर्व राग का चित्रण यहाँ रूपकातिशयोक्ति पूर्वक कितनी वचन विदग्धता के साथ प्रस्तुत किया गया है-

नयनों का नयनों से गोपन, प्रिय संभाषण  
पलकों का नव पलकों पर प्रथमोत्थान-पतन  
काँपते हुए किसलय झरते पराग समुदय  
गाते खग नव जीवन परिचय, तरु मलय वलय।

पंत जी तो कोमल कल्पनाओं के राजकुमार कहे जाते हैं। सुकुमार सौंदर्य के सम्मूर्तन में उन्होंने अद्भुत क्षमता प्रदर्शित की है। गंगा की रूपहली रेती और उस पर खिली चाँदनी को देखकर कवि की कल्पना जागती है:-

“सिकता की सस्मित सीपी पर मोती सी ज्योत्स्ना नहीं विचार।” वस्तुतः पंत जी कोमल कल्पनाओं के बहुत धनी हैं।

काव्य बिंबों की सृष्टि में महादेवी जी भी बहुत प्रवीण हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

“अवनि अंबर की रूपहली सीप में, तरल मोती सा जलधि जब काँपता।”

इन कवियों के अधिकतर काव्यांश बिंब, कल्पना, गूढार्थ व्यंजना, रूपक रचना आदि गुणों से ओत प्रोत हैं। वस्तुतः काव्य कल्पना के नव-नवोन्मेष की दृष्टि से छायावादी काव्य अतुलनीय है।

**नयी काव्य भाषा :** छायावादी कवियों ने काव्य शिल्प को सर्वाधिक प्राथमिकता दी है। प्रसाद जी के अनुसार काव्य के सौंदर्य बोध का मुख्य आधार है- शब्द विन्यास कौशल। निराला ने भी काव्य को भावनात्मक शब्दों की ध्वनि और शब्द व्यापार कहा है। और पंत ने शब्द चित्र, चित्रभाषा तथा भाषा संवेदना पर बल दिया है। वस्तुतः इन कवियों को शब्द प्राणाधिक प्रिय रहे हैं। निराला जी तो घोषणा करते हैं कि “एक शब्द बँधा ध्वनिमय साकार।” महादेवी जी भी सुगठित और स्वच्छ भाषा के प्रयोग में बहुत सचेत रही हैं। तात्पर्य यह है कि छायावादी काव्य भाषा ललित-लवंगी कोमल-कांत पदावली की भाषा है।

उसमें असाधारण लक्ष्यार्थ, व्यंग्यार्थ, प्रतीकार्थ, अमूर्तन व्यापार और संप्रेषण संवेदना है।

छायावादी काव्य भाषा प्रचलित अर्थों में बहुत भिन्न भी है। उसमें अर्थ की छायाएँ हैं, जिन्हें गद्यात्मकता के अभ्यस्त व्यक्ति कठिनाई से समझ पाते हैं। इन कवियों ने विशेषण विपर्यय के सहारे मधुमय अभिशाप, सुंदर पाप, घायल आँसू, नीरव भाषण, मधुर व्यथा, निद्रित स्वप्न जैसे प्रयोग किए हैं। तात्पर्य यह है कि छायावादी भाषा चेतस है और दूरगामी भी। इनकी शब्दावली संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी से काफी रूपांतरित है। नए शब्द भी इन कवियों ने गढ़े हैं, जैसे- स्वप्नोत्पल, पांशुल, शब्दोच्छल, फेनिल, टलमल, बातुल आदि। पंत जी ने तो स्वेच्छापूर्वक पवन, वायु, भोर आदि को स्त्रीलिंग रूप में प्रयुक्त किया है। इन कवियों के कुछ प्रयोग बड़े वैचित्र्यपूर्ण हैं, जैसे- तरुवासिनी (कोयल) शैवालिनी (सरिता) धरारमण (वसंत) कुंजबिहारी (भ्रमर) शशि हासिनी (चाँदनी) जलवाह (बादल) गंधबह (वायु) मलयवालिका (वायु) आदि। कोमलता के उद्देश्य से इन्होंने देशज और तद्भव शब्दों के अनेक प्रयोग किए हैं, जैसे परम (स्पर्श) नखत (नक्षत्र) ढिंग (निकट) पांति (पंक्ति) आदि। निराला जी ने तो आंचलिक शब्दों के प्रयोगों की अति कर दी है, जैसे- नाधौ, बद्धी, कौड़े, सैवारा, हरहा, लौनी, निबारो आदि। इन कवियों ने घरेलु बोलचाल की भाषा और मुहावरेदानी का परहेज किया है। इन्होंने मधु, लघु, स्वर्ण, सित, नील आदि शब्दों को तकियाकलाम की तरह प्रयुक्त किया है। तात्पर्य यह कि छायावादी शब्द संपदा अतिशय व्यापक विशद अर्थात् विशिष्ट है।

**नया काव्य शिल्प :** छायावादी कवियों ने प्रायः पाँच प्रकार के काव्य रूपों का प्रयोग किया है। १. मुक्तक काव्य २. गीति काव्य ३. प्रबंध काव्य ४. लम्बी कविताएँ ५. नाट्य काव्य। इनमें मुक्तक काव्य सर्वाधिक लोकप्रिय हुआ है। छायावादी काव्य तो सहज भावोच्छ्वास है। गीतिकाव्य उसका अनिवार्य अंग है। प्रबंध काव्यों के अंतर्गत केवल ‘कामायनी’, ‘प्रेमपथिक’ (प्रसाद) ‘ग्रंथि’, ‘लोकायतन’, ‘सत्यकाम’ (पंत) और ‘तुलसीदास’ (निराला) का नामोल्लेख किया जा सकता है। ‘कामायनी’

और 'तुलसीदास' उच्च स्तरीय महाकाव्य एवं खंडकाव्य है, भले ही प्रबंध पद्धति की शास्त्रीयता का पूर्ण निर्वाह इनमें न मिलता हो। इन काव्यों में 'यूटोपिया' और फैंटेसी का मुक्त प्रयोग किया गया है। लंबी कविताओं में 'प्रलय की छाया', 'शेरसिंह का शास्त्र समर्पण', 'सरोज स्मृति', 'राम की शक्ति पूजा', 'परिवर्तन' आदि कविताएँ गीति नाट्य या काव्य रूपकों में करुणालय, (प्रसाद) पंचवटी प्रसंग (निराला) शिल्पी, सौवर्ण, रजत शिखर (पंत) आदि चिरस्मरणीय हैं। प्रसाद जी का आँसू एक प्रकार का एकार्थक मुक्तक है और छायावाद के विशिष्ट प्रबंध विधान का प्रतीक काव्य है।

छायावादी काव्य की छंद योजना वैविध्यमयी है। निराला जी ने प्रथम बार मुक्त छंद का आविष्कार करके कविता को तुकबंदी से मुक्त किया था। इन कवियों ने प्रायः सभी प्रकार के छंदों के प्रयोग किए हैं, जिसमें अंग्रेजी के सानेट, फारसी के गज़ल, संस्कृत के वर्णिक और मात्रिक छंद उल्लेखनीय हैं। इनके छंदों में ध्वन्यात्मकता का निर्वाह हुआ है और ओज, प्रसाद, माधुर्य तथा प्रायः समस्त वृत्तियों अथवा शैलियों का प्रयोग भी।

तात्पर्य यह है कि इन कवियों का काव्य शिल्प भावानुरूप, कोमल, करुण और समग्रतः उदात्तरूप धारण करके प्रकट हुआ है, जो निस्संदेह बड़ा वैशिष्ट्यपूर्ण है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि छायावादी कविता आधुनिक हिंदी काल का शिखर है। यह सर्वथा स्वायत्त और शुद्ध कविता है। इनकी पूर्ववर्ती कविता पौराणिकता से ग्रस्त रही है। परवर्ती कविता राजनीति मतवाद से त्रस्त हो गयी है। छायावाद ने प्रथम बार पुराख्यानो का साहसपूर्वक निषेध किया। 'राम की शक्ति पूजा' तथा 'पंचवटी प्रसंग' में निराला जी ने रामकथा परंपरा से घटनाएँ तो ली, किंतु उसकी परिणति मानवीय संघर्षेच्छा में करके मानवतावाद की पुष्टि की। प्रसादजी ने 'करुणालय' और 'कामायनी'

में पंतजी ने 'सत्यकाम' में औपनैषदिक धरातल पर मानवता का जयघोष किया छायावाद के पूर्व जो अतिमानवीयता छापी हुई थी और छायावाद के पश्चात जो लघुमानवतावाद एवं अमानवीकरण उभर आया है, उसके परिप्रेक्ष्य में छायावादी मानवताबोध का वैशिष्ट्य स्वतः सिद्ध है।

इधर छायावाद को पलायनवाद सिद्ध करने का उपक्रम किया गया है। उसे 'रोमैन्टिसिज्म' का हिंदी रूपांतरण मान लेना इस बुद्धि-विभ्रम का मूल कारण है या सच है कि छायावादी कवियों ने जीवन-संघर्ष में रस नहीं लिया। 'तज कोलाहल की अवनी रे' उनका मूल मंतव्य रहा है। यह भी सच है कि अपने समकालीन जीवन की दैनंदिन (साम्यिक) घटनाओं को उन्होंने काल का विषय नहीं बनाया। वे मानव जीवन की शाश्वत समस्याओं और संभावनाओं के कवि रहे हैं। प्रसाद ने चिरंतन आनंद का सपना देखा, निराला ने ऊर्जा का उद्घोष किया, पंत ने आस्था का संबल पकड़ा और महादेवी ने करुणा को स्वर दिया। युग के समग्र योगक्षेम के ये ही चार मुख्य उपादान हैं। इन्हें सम्यक् रूप से न ग्रहण कर पाने के कारण छायावादी भावुकता, छायावादी अवसाद, छायावादी यूटोपिया आदि आरोप गढ़े गये हैं। छायावादी कवि सर्वथा युगसचेत रहे हैं। जो विषय उन्हें काव्योपम नहीं लगे, उन्हें नाटकों उपन्यासों और कहानियों में ढालकर उन्होंने अपना युगबोध व्यक्त किया है। कविता द्वारा उन्होंने चिरअतीत और सुदूरभविष्य की कड़ियाँ जोड़ी हैं तथा संततवादी जीवन की मीमांसा की है कविताई उनकी प्राथमिकता रही है। कविता साफगोई में ही नहीं होती। वह लक्षणा-व्यंजना द्वारा विशेषतः उद्भासित हो सकती है, बशर्ते कवि के पास सशक्त संवेदना, प्रगाढ़ अनुभूति और सशक्त भाषा हो। ये तीनों विशेषताएँ छायावादी कविता में भरी पड़ी हैं। आज इनका अभाव हो गया है, इसलिए छायावादी काव्य सम्प्रति बहुत प्रासंगिक हो गया है।

संपर्क : 'साहित्यिकी', डी. 54, निराला नगर, लखनऊ- 226020, मो. 09451123525

## ‘कविता अथवा पहले शब्द है’ : अज्ञेय

प्रो. मुक्तेश्वर नाथ तिवारी

आचार्य, हिंदी विभाग

विश्वभारती, शांतिनिकेतन

अर्जित नूतन वैचारिक दृष्टिपथ के कारण निराला की परवर्ती कविता का नेतृत्व जाने-अनजाने अज्ञेय के हाथों आ गया। कुछ शाश्वत, कुछ प्रयोग और कुछ परंपरा को आयत करके अज्ञेय ने कविता की जमीन बनानी शुरू की। यह अज्ञेय ही थे जिन्होंने कविता-कर्म के लिए भारतीय काव्यशास्त्र के समानांतर ठीक-ठीक पश्चिमी और जापानी (हाइकू के विशेष संदर्भ में) काव्यशास्त्र को ले आए। पश्चिम का अध्ययन अज्ञेय जी का पुख्ता साबित हुआ और ‘न्यू सिग्नेचर्स’ की तर्ज पर सप्त कवियों का एकत्र छपना (तारसप्तक) हिंदी में स्वयं एक अभिनव प्रयोग था। दुहाई संपादकीय-कौशल की ही देनी पड़ेगी। वैचारिक कटुतावाले सात कवि जो ‘एक दूसरे के कुत्ते से भी जलन रखते थे’ ‘तारसप्तक’ में परस्पर बँधे-बँधे से नजर आए। यह स्वयं एक बड़ी बात थी। ‘प्रयोग’ का कोई वाद न मानते हुए भी इन कवियों को एक अस्मिता मिली ‘प्रयोगवादी’ कहलाकर। हिंदी आलोचना में तब ‘प्रयोगवाद’ को विश्लेषित-विखंडित करने के लिए गरमाहट आई। यह सन् १९४३ के थोड़े अर्से बाद की घटना है। सन् १९५१ में अज्ञेय जी ने तत्कालीन कविता प्रवृत्तियों के हवाले से कविता को ‘नई कविता’ कहा, तब फिर भूचाल आया। अज्ञेय ने ‘प्रयोग-प्रयोग’ कहा तो भाग्य या दुर्भाग्य से हिंदी कविता में प्रयोगवाद नामक काव्यांदोलन चल पड़ा और जो उन्होंने कविता को ‘नई’ क्या कहा, ‘नई कविता’ का आंदोलन सिर उठाने लगा। ये एक-दो उदाहरण अज्ञेय की नेतृत्वकारी क्षमता के हैं। अज्ञेय घोषणाएँ करते और बात बड़ी समझ ली जाती। कविता के भीतर से (कलगी बाजरे की) अज्ञेय की एक मौलिक घोषणा आई कि ‘उपमान सारे मैले हो गए हैं’ और कि शब्दों के भीतर से ‘देवता कर गए हैं कूच’। अब तक अज्ञेय की कविता की शब्दाविधानवादी परिकल्पना सही ढाँचे में प्रकाशित हो चुकी थी। वे कविता को ‘सबसे पहले शब्द’ कहकर उसका संज्ञान लेने लगे थे। यही नहीं उन्होंने यह भी परिमित करके कह डाला कि ‘अंत में बच जाने वाली बात भी यही है कि कविता शब्द है।’ अज्ञेय के वाक्यों में दृढ़ता झलकती रहती है गोया वह जो कह रहे हैं वह ठोका-बजाया हुआ कह रहे हैं; कि वे जो कह रहे हैं वह शास्त्र-कथित, परीक्षित और काव्यानुभूति से उपजा हुआ कोई तथ्य कह रहे हैं। अज्ञेय ने, ध्यातव्य है, दो बड़ी बातें कहीं— एक तो उपमानों को नया करने के लिए और दूसरी बात कि कविता शब्दार्थ की नहीं है, वह केवल शब्द है। एक नए नेतृत्वक्षम कवि के काव्य-जगत् के सब लोगों से इतना—सी अपील। कवि को नया होना है, इसलिए उसे नये उपमानों का आसरा रहे। और उधर कि बासनों के समान शब्दों का भी ‘मुलम्मा’ टूट गया है, इसलिए नए कवि को नए शब्द लेने होंगे। ध्यान देकर देखने से पता चल ही जायेगा कि कवियों के लिए अज्ञेय द्वारा बदी गयी ये दो शर्तें कवि मात्र के लिए निहायत ही जरूरी हैं, पर अज्ञेय पर यह जानिए कि दोष यह मढ़ा गया कि

वे खिलंदड़ कलावादी हैं अथवा 'शब्दों की फाँक' में उलझ-पुलझ गए हैं। शब्दों के प्रति सावधानता के कारण ही अज्ञेय लघुबंध वाली कविताएँ यहाँ तक कि हाइकू रचते हैं। प्रतीक और समास के चलन को इसलिए भी अज्ञेय के काव्य में सहज खोजा एवं पाया जा सकता है। अज्ञेय के काव्य की चमक उनकी छोटी-छोटी कविताओं या हाइकू कविताओं में भी है जो शब्द-पेशल प्रतीकात्मकता और सामासिकता के नैसर्गिक गुण धारण किए हुए भी हैं। अज्ञेय के काव्य की रचना-प्रक्रिया की समस्या यदि कुछ देख पड़ती है तो उसका निदान प्रतीक-व्यवस्था और भाषा की सामासिकता की कलाई खोल देने पर ही मिल सकता है। यों यह बिसार न दिया जाए कि सामासिकता तत्समता से उपजी प्रवृत्ति है और कि अज्ञेय की रचना-प्रक्रिया तत्समता के बरक्स तद्भवता को भी गले लगाती है। यह तद्भवता जमीनी गंध है- तृणगंधा है अथवा 'हरी घास पर क्षण भर' भी है। इसलिए कवि-बानगी तत्समता और तद्भवता दोनों में है। तत्समता 'बोधि' है, तद्भवता 'पश्य' है; तत्समता को लेकर कवि विचार से दर्शन की तरफ बढ़ता है, वहीं तद्भवता वह कुछ भी है जिसे देखा और जिया गया है अर्थात् एक संगत जीवनानुभूति का ही संवहन तद्भवता करती है। अज्ञेय की कविता में जीवनानुभूति खोजनेवाले उनकी तद्भवता के बगलगीर बनें और उनकी कविता के विचार-पक्ष को खँगालने के लिए तत्समता में गोते लगाएँ। यह फिर भी अलग-अलग की जाने वाली क्रियाएँ नहीं हैं। जीवन और विचार साथ-साथ पाएँ इसके लिए अज्ञेय की तद्भवता और तत्समता दोनों की समेकित प्रतीति आवश्यक है। अज्ञेय को पढ़ते हुए बारहों यह बोध होता है कि जीवन में सुनी हुई अनगिन क्षुधित-मलिन मुखों की आर्त-कातर वाणी उनको भूली न होगी; घर-चौपाल से लेकर बाजार और खलिहान तक मलिन मुखोंवाले जन जो भाषा बोलते हैं, वह भाषा काव्य में प्रयुक्त किए जाने पर अनुभूति को स्वाभाविक, गतिज और प्रामाणिक बनाती है। अज्ञेय की भाषाई-चेतना में यह बात विशेषतया महत्त्व की है:

डैनोंवाले डीलवाले/ डौल के बेडौल

उड़ने जहाज

कलस-तिसूल वाले मंदिर-शिखर से ले

तारघर की नाटी मोटी चिपटी गोल धुस्सों वाली

उपयोग-सुंदरी

बेपनाह काया को:

(बावरा अहेरी/ पृ. १६)

भाव की भव्यता के बीच चाहे पूरी तत्समता की माँग जायज-सी लगती हो, पर भरती के देसी शब्दों का विधान तो उपर्युक्त कविता-पंक्तियों में आया है, वह क्या है? तत्समता के साथ देसी क्या भदेस शब्दों का शब्द-संयोजन अज्ञेय की सब दिन की 'काव्यभाषा की मोटी प्रवृत्ति रही है। 'मैं ही हूँ पादाक्रांत रिरियाता कुत्ता' और 'काँगड़े की छोरियाँ/ कुछ भोरियाँ सब गोरियाँ' जैसी काव्यात्मक टेक किसे भूली होगी? ऊपर की पंक्तियों में 'त्रिशूल' का 'तिसूल' किया जाना तद्भवता का विशेष आग्रह प्रकट करता है। अन्यान्य शब्द यथा 'कलस', 'डौल', 'बेडौल', 'धुस्सोंवाली' क्या कम अपीलीय हैं?

काव्यात्मक संदेश कहने और उसे प्रस्तुत करने की रीति के लिए अज्ञेय सदैव याद किए जाएंगे। अज्ञेय आत्मस्फूर्ति नहीं, आत्मसंयम के कवि हैं। इसलिए उनका संदेश जैसे कि 'आत्मदान' का ही केन्द्रीय संदेश पक्ष लें, किसी हड़बड़ी में गढ़कर परोसा गया संदेश-पक्ष नहीं है। उनकी केन्द्रीय भंगिमा को उकेरनेवाली पंक्ति है 'तेरे आवाहन से पहले ही/ मैं अपने को लुटा चुका हूँ।' इसी प्रकार, 'मैं हूँ, और मैं दे दिया गया हूँ' जैसी समर्पणशील पंक्तियों का उल्लंघन बारंबार अज्ञेय की कविता में होता है। इस आत्मदान को, अज्ञेय बड़ी ऋजुता और स्पष्टता के अर्थ में सम्प्रेषित करना चाहते हैं। भाषाई धुँधलके से बचते हुए, छायावादी संस्कारों वाली भाषा के घटाटोप से निकलकर अज्ञेय की वैचारिकता और यकिंचित् दार्शनिकता उनके किसी दूसरे समकालीन से अधिक मोहक और जाज्वल्यमान है। विचार और दर्शन की जुगाली करने वाली भाषा यों अज्ञेय के यहाँ तत्समता और तद्भवता की क्रमिक आवाजाही का यथेष्ट प्रमाण छोड़ती है:

मैं जिया हूँ, और मेरे भीतर से जी लिया गया है;

मैं मिटा हूँ, मैं पराभूत हूँ, मैं तिरोहित हूँ

मैं अवतरित हुआ हूँ, मैं आत्मसात् हूँ

अमर्त्य, कालजित् हूँ।

(कितनी नावों में कितनी बार/ पृ. ३३)

तद्भव और तत्सम क्रियापदों की क्रमिकता उपर्युक्त उदाहरण में द्रष्टव्य है। यही एक-दो उदाहरण नहीं, बल्कि अज्ञेय की काव्यधारा के सब पड़ावों पर भाषिक द्वैत की यही क्रमिकता अवलोकनीय है।

अज्ञेय ने विराट् को साधा है, लघु को भी छोड़ा नहीं है। 'सागर' उनके काव्य-विषयों में यदि विराट् है तो 'मछली' लघु है। मछली सागर में -जनमी है, जियी है, पली है, जियेगी' कहकर लघुता को पूरी तद्भवता बख्श कर अज्ञेयजी तद्भव क्रियापदों के अम्बार लगा देते हैं। विषय के अनुरोध पर अज्ञेयजी भाषिक द्वयता- तद्भवता और तत्समता को साधते हैं। दान की महाक्रिया के प्रसंग का एक और उदाहरण प्रस्तुत करते हुए उनकी तत्समता को रेखांकित करना लक्ष्य है:

लो, यह स्मृति, यह श्रद्धा, यह हँसी,

यह आहूत, स्पर्श-पूत भाव

यह मैं, यह तुम, यह खिलना,

यह ज्वार, यह प्लवर,

यह प्यार, यह अडूब उमड़ना-

सब तुम्हें दिया। (आँगन के पार द्वार/ पृ. १३)

हम उपर्युक्त पंक्तियों में तत्समता का जब संज्ञान लेते हैं, तब 'श्रद्धा', 'आहूत', 'स्पर्श-पूत भाव', 'ज्वार', 'प्लवन' आदि शब्द विषय की उदात्त पटभूमि को द्योतित करते हैं पर इन शब्दों को आगे से और पीछे से, ऊपर से और नीचे से घेरे रहते हैं तद्भव शब्द या शब्दों की देशीयता के गुंजलक- 'लो', 'हँसी', 'खिलना', 'अडूब', 'उमड़ना' इत्यादि ऐसे ही शब्द हैं।

अज्ञेय ने प्रस्तावित किया है कि दान अकारथ नहीं जाता। दानी को प्रतिदान मिलकर रहता है:

कुछ मिलेगा, अवश्य मिलेगा,

पर उतना ही जितने का तू है अपने भीतर से दानी!

(कितनी नावों में कितनी बार/ ७७)

ऊपर के उदाहरण में 'कुछ मिलेगा' अवश्य मिलेगा' वाक्यांश पर टिप्पणी करना समीचीन होगा। काव्यनायक भाव-पेशल होकर आश्वस्ति की भंगिमा में अपने कथन की पुनरुक्ति करता है। दान करने से 'कुछ' मिलेगा, उधर मिलेगा 'अवश्य'। 'मिलेगा' क्रिया एक बार पुनरुक्त हुई

है। नीचे की दूसरी पंक्ति में 'मिलेगा' क्रिया की आकांक्षा है, परंतु यहाँ निगरण। ध्यातव्य है कि अज्ञेय भाषा की सर्जना को, उसके प्रवाह को, उसकी चिरायु को बहुत महत्व देते हैं।

अज्ञेय के शब्द विधान के पहले पड़ाव पर किंबहुता पुनरुक्ति आदि से भी अधिक ध्यातव्य है उनके द्वारा शब्दों की प्रयुक्ति अथवा शब्द-चयन। विराट् ज्ञानात्मक संवेदना के धनी थे अज्ञेय जी। वे यद्यपि शब्द-क्रीड़ा के खिलंदड़ कवि नहीं हैं, क्योंकि उनमें बाल-हठ नहीं है, वे मजाकियाँ किस्म की फब्तियाँ कसने वाले कवि भी नहीं। उनका गांभीर्य भी औदार्य है और बहुप्रशंसित भी। उनकी प्रतिभा एक बड़ी प्रतिभा है। उनकी तो मान्यता है कि सच्ची कृति का कर्म स्तिमित चिर 'संस्कार' है। वे प्रवीण, ज्ञान-संबलित होकर उत्तयोतम शब्द-विधान से अपने युगों के स्वप्न को नयी आलोक-मंजूषा समर्पित कर रहे हैं।' आने वाला समय यह स्वीकारेगा कि अज्ञेय की कविता से शब्दों को नई अर्थच्छवि प्राप्त होती रही है। अज्ञेय की 'सागर-मुद्रा' शीर्षक कविता-संग्रह की समीक्षा लिखते हुए नंदकिशोर आचार्य ने लिखा था, "नयी जमीन तोड़ने की कोशिश का साक्ष्य उसकी काव्यभाषा ही होती है क्योंकि उसके नये रूपों और भंगिमाओं के माध्यम से ही तो वह यथार्थ की भी एक नयी पहचान, सत्य की एक नई रचना कर पाता है। हमारे वरिष्ठतम कवियों में संभवतः अज्ञेय ऐसे अकेले कवि हैं जिनके लगभग हर संग्रह में इस सर्जनेषणा के प्रमाण मिल जाते हैं।' (सर्जक का मन, पृ. १०९) अज्ञेय अपने कविता-कानन में नाम एवं यश इसी 'सर्जनेषणा' से कमा सके हैं। स्वयं अज्ञेय के शब्द हैं: 'सभी सर्जन केवल/ आँचल पसार कर लेना है।'।

अज्ञेय ने एक बड़ी संज्ञा को चुना था। उनकी कविता का अन्तर्लोक भीतर की ओर झाँकने को प्रेरित करता है यद्यपि इस अन्तर्लोक में बाहरी संसार की चिल्ल-पों भी अनुपस्थित नहीं हैं। उन्होंने 'बाहरी संसार' को बहुत बार भीतरी वायवीयता से रूपायित कर दिया है। एक उदाहरण इस क्षेत्र में यथेष्ट होगा। उनकी कविता में स्त्री (आश्रय) प्रायः अनुपस्थित हैं; एकल काव्यनायक (मैं) आद्यन्त उनके यहाँ प्रेम का भोक्ता ठहरता है। 'प्रेम' की जगह



अज्ञेय के काव्य-संसार में 'प्यार' शब्द है। इस प्यार की विषयवस्तु को उनके सभी संग्रहों में आठ-दस कविताओं के अंतराल पर प्रकट होते देखा जा सकता है:

“क्योंकि ये ही सब चीजें तो प्यार हैं—  
यह अकेलापन, यह अकुलाहट,  
यह असमंजस, अचकचाहट,  
यह खोज, द्वैत, यह असहाय विरह-व्यथा”

(कितनी नावों में कितनी बार, पृ. १२)

“हमने शिखरों पर जो प्यार किया  
घाटियों में उसे याद करते रहे  
फिर तलहटियों में पछताया किये  
कि क्यों जीवन यों बरबाद करते रहे!” (वही, पृ. ३७)

‘आँगन के पार द्वार’ संग्रह में प्यार को उन्होंने जीवन्मुक्ति का उपकरण घोषित किया है:

पर एक जो प्यार है न, उसी के द्वारा  
जीवन्मुक्त मैं किया गया हूँ (पृ. ३२)

अज्ञेय का विराट काव्यलोक है। जीवन, इतिहास, संस्कृति और सभ्यता की विशद गवेषणाएँ उनके काव्य-संसार में हैं। आत्मदीप्त कवि हैं। पारंपरिक अर्थ में वे कवि कहाकर ‘उन्मेषा’, ‘संधाता’, ‘अर्थवाह’ और ‘कृतव्यय’ के कर्म से प्रतिबद्ध हैं, परंतु ऐसे सभी कर्मों के औदार्य से कभी-कभी परांगमुख भी होना पड़ता है क्योंकि कवि-कर्म अन्ततः इन दिनों लिखे हुए को झूठ साबित करते जाने का नाम है:

मैं सच लिखता हूँ  
लिख-लिख कर सब

झूठा करता जाता हूँ। (आँगन के पार द्वार, पृ. ५३)

अज्ञेय ने अपने काव्य की प्रेरक परिस्थितियों का खुलासा स्वयं कविता के भीतर किया है। अज्ञेय विशिष्ट परिस्थितियाँ रेखांकित कराते हैं— एक, परिवेश जिसे वे कविता में ‘वन-खण्डी’ कहते हैं, दूसरी आत्मचेतना जिसे वे अपनी ‘शिरा’ कहते हैं एवं तीसरी परिस्थिति जहाँ मिला-जुलाकर इतिहास (एवं भूगोल) की निर्मित की हुई है:

वन-खण्डी की दिशा-दिशा से  
गूँज-गूँजकर आते हैं आह्वान के स्वर।

भीतर अपनी शिरा-शिरा से  
उठते हैं आह्लाद और सम्मान के स्वर,  
पीछे अध-डूबे, अवसान के स्वर।  
फिर सबसे नीचे, पीछे, भीतर, ऊपर,  
एक सहस आलोक-विद् उन्मेष  
चिरन्तन प्राण के स्वर। (वही, पृ. ५७)

अज्ञेय का काव्य सुचिंतित विषयवस्तु और सुरेखित भाषाई खाकों की सचेत उपज है। उसमें भारतीय मनुष्य का ‘सम्मान’ और ‘अवसान’ सब सुरक्षित हैं। गतिज दृष्टिकोण उर्वर चिंतनभूमि, ‘मैं’ की प्रभावोत्पादकता, अविस्फोट कथन-भंगी और रहस्योद्घाटन कौशल इत्यादि उनके काव्य के ऐसे प्रमुख लक्षण हैं जो उन्हें उनके ही समकालीनों से अलग करते हैं। उनकी कोई तुलना या नकल नहीं हो सकती। अज्ञेय की परवर्ती काव्य-पीढ़ी अज्ञेय को आदर से देख सकती है, उनकी नकल अथवा उनके पंथ का अनुसरण नहीं कर सकती। अज्ञेय के काव्य में बहुज्ञता और ज्ञानामृत है, परवर्ती पीढ़ी में इन दो तत्त्वों को पाना अपेक्षाकृत कठिन है। सबसे बड़ी बात जो अज्ञेय में दृष्टिगोचर होती है, वह है व्यवस्था। वे कविता को व्यवस्था में रखकर देखते हैं। उनकी कविता का आँगन व्यवस्थित कविता का आँगन है। वे बहुत से भारतीय समयों के ‘सत्य’ और ‘सचाई’ को हमारे सम्मुखीन करते हैं। अज्ञेय अपने अप्रस्तुतों के लिए नितांत मौलिक हैं। केशकम्बली जब ‘असाध्य वीणा’ को झंकृत कर देता है तब श्रोताओं की अनुभूति को अज्ञेय जी दसियों अप्रस्तुतों से अभिव्यंजित करते हैं। ये अप्रस्तुत रोमांच पैदा करते हुए बिम्ब-विधान कहने में बड़े कारगर हैं। वीणा की झंकृति ‘पायल-ध्वनि’, ‘शिशु की किलकारी’, ‘मछली की तड़पन’, ‘उड़ती चिड़ियाँ की चहक’, ‘मण्डी की टेलमटेल’, ‘ग्राहकों की बोलियाँ’, ‘मंदिर की घंटा-ध्वनि’, ‘लोहे पर हथौड़े की चोटें’, ‘नौका पर लहरों की अविराम थपक’, ‘बटिया चमरौंधे की चाप’, ‘दुलिया से बहते पल की छुल-छुल’ इत्यादि बिम्बात्मक रूपों की सृष्टि करती है। अज्ञेय, सिद्ध हैं कि सन्धाता कवि हैं; भाव के, विषय के, भाषा के, शैली के। उनकी रीति केवल उन्हीं की हो सकती है।

**संपर्क :** संपादक, विश्व भारती पत्रिका (हिंदी), हिंदी भवन, शांति निकेतन- 731235, मो. 0944765831

## समकालीन हिंदी कविता : अध्ययन की समस्याएँ और स्वरूप

डॉ. मनीषा झा  
ऐसोसिएट प्रोफेसर,  
उत्तर बंग विश्वविद्यालय

समकालीन कविता हिंदी की ऐसी काव्यधारा है, जिसकी समय-सीमा और स्वरूप को लेकर काफी बहस हो चुकी है और विभिन्न मत व्यक्त किए जा चुके हैं। समकालीन हिंदी कविता के समग्र मूल्यांकन की समस्या और आवश्यकता आज भी बनी ही हुई है। अतः यहाँ समकालीन कविता के अध्ययन की समस्याओं और स्वरूप पर विचार किया जा रहा है।

समकालीन कविता किसे कहा जाय ? यह कब से शुरू होकर कब तक चलती है ? इन प्रश्नों पर मत व्यक्त करते हुए कुछ आलोचक इसे मात्र जनोन्मुखी कविता तक सीमित कर देते हैं। ऐसे यह प्रश्न उठता है कि जनोन्मुख चेतना से इतर जो कविता इस कालखंड में लिखी गई, उसे कहाँ डाला जाय ? उसका मूल्यांकन कैसी कविता या किस युग की कविता के रूप में हो ? इसलिए समकालीन कविता अपनी संपूर्णता में समय-सापेक्ष अधिक लगती है। इस कविता में जनोन्मुख विचारधारा से लेकर आधुनिकतावादी विचारधारा की कविताएँ आती हैं। अकविता आंदोलन के बाद की कविताओं को समकालीन कविता मानना उचित है। सीमा-रेखा तय करने की बात आए, तो १९६७ को प्रारंभिक समय माना जा सकता है, क्योंकि तब तक अकविता आंदोलन समाप्त हो गया था और कविता में समय और समाज के प्रति नया रुझान सामने आने लगा था। इसकी अंतिम सीमा क्या हो ? कभी-कभी आज की कविता को युवा कविता कहकर इसे समकालीन कविता से इतर मानने की कयावद की जाती है। पर युवा कविता पद भ्रामक है। कविता स्वभावतः युवा होती है। युवा कहानी की तर्ज पर युवा कविता को नहीं चलाया जा सकता। किसी तर्क-संगत नाम के अभाव में आज की कविता को भी समकालीन कविता के अन्तर्गत रखना होगा।

समकालीन कविता के अध्ययन को लेकर समय-सीमा एक बड़ी समस्या है। चूंकि समकालीन कविता एक बड़े कालखंड की कविता है, ऐसे में समकालीन कविता के अध्ययन का आधार क्या हो ? किन बिंदुओं से इस कविता का समग्र अध्ययन किया जाए ? अब तक समकालीन कविता पर जो टिप्पणी या आलोचना उपलब्ध है, उनमें इस काव्यधारा को दशकों में बांटकर अध्ययन की प्रवृत्ति मिलती है। जैसे, सातवें दशक की कविता, आठवें दशक की कविता, नौवें दशक की कविता, नयी सदी या इक्कीसवीं सदी की कविता- इसे आज की कविता या इधर की कविता भी कहा गया। इस विभाजन से समकालीन कविता का पूर्ण रूप सामने नहीं आता। एक काव्यधारा का दशकों में टुकड़े-टुकड़े विभाजन समग्र मूल्यांकन की

दिशा में बाधा उपस्थित करता है। अतः इस समस्या के निराकरण में, समकालीन हिंदी कविता का अध्ययन दो चरणों में बांटकर करना ठीक रहेगा। पहला चरण सन् १९६७ से लेकर १९९० तक, दूसरा चरण सन् १९९१ से लेकर अब तक। १९९० विभाजक सीमा इसलिए कि इसके बाद भूमंडलीकरण तथा आर्थिक उदारीकरण की नीतियों में भारत के शामिल हो जाने से, देश के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक आदि सभी क्षेत्रों में व्यवस्थागत परिवर्तन की प्रक्रिया भी शुरु होकर तेज होने लगती है। इसके परिणाम स्वरूप जीवन की नई-नई चुनौतियाँ सामने आती हैं।

समकालीन कविता के पहले चरण और दूसरे चरण के स्वभाव में स्पष्ट अंतर परिलक्षित होता है। इस अंतर को विस्तार से समझने के लिए कवि-आलोचकों की टिप्पणियों पर दृष्टिपात अपेक्षित है। आज की कविता पर टिप्पणी करते हुए अरुण कमल लिखते हैं- ‘आज की कविता अभी ठीक दस वर्ष पहले की कविता के मुकाबले ज्यादा, स्याह, उदास और अकेली है। पहले से अधिक, अपने समय की आलोचना, जो है उसका प्रतिपक्ष।’ स्पष्ट है कि आज की कविता यानी समकालीन कविता का दूसरा चरण पहले चरण की कविताओं से भिन्न स्वभाव का है। इसके स्वभाव की भिन्नता उनके इस कथन से भी स्पष्ट है- ‘नवें दशक की कविता को पढ़ते हुए जो बात सबसे पहले ध्यान खींचती है; वह है उसका अ-राजनीतिक स्वरूप। धूमिल और उनके बाद हिंदी कविता स्पष्टतः राजनीतिक रही है। कभी कम कभी ज्यादा। रघुवीर सहाय और मुक्तिबोध, श्रीकांत वर्मा भी, राजनीतिक आशय के बिना संभव नहीं। लेकिन इधर की कविता प्रायः अ-राजनीतिक है।’ अरुण कमल के मत से यह स्पष्ट होता है कि समकालीन कविता के दोनों चरणों को बाँटने वाला मुख्य बिंदु राजनीतिक रुझान है। आज की कविता पर अपनी बात रखते हुए राजेश जोशी लिखते हैं कि ‘बहुत बार लगता है कविता अ-पोलोटिकल होती जा रही है।’ (समकालीनता और साहित्य, पृ. ३९) मदन कश्यप भी मानते हैं कि नवें दशक की कविता का स्वरूप अ-राजनीतिक है। वे लिखते हैं- ‘‘यह सही है कि नवें दशक की कविता

में राजनीतिक सरोकार कमजोर पड़े और उत्सवधर्मिता बढ़ी, लेकिन यह भी सच है कि इस दौरान सामाजिक सरोकारों का विस्तार हुआ। पहली बार स्त्री, दलित और आदिवासी को कविता में ठीक-ठाक जगह मिली।’’ रेवती रमण राजनीति को समकालीन कविता की पृष्ठभूमि मानते हैं ‘‘समकालीन हिंदी कविता की एक राजनीतिक पृष्ठभूमि भी है। उसके प्रणयन के पीछे यह विश्वास काम करता है कि विपक्ष में केवल कविता है।’’ इस तरह समकालीन कविता के पहले चरण का मूल स्वभाव राजनीतिक रुझान को स्वीकार किया गया है। इस दौर में अति राजनीतिक आग्रह के कारण कविता अतिक्रांतिकारिता से भी युक्त हुई, जिसे कुमार विकल, गोरख पांडेय, वेणु गोपाल, आलोक धन्वा आदि कवियों ने समृद्ध किया। इस तरह सातवें-आठवें दशक यानी समकालीन कविता के पहले चरण में विचारधारा की सशक्त अभिव्यक्ति की हुई है। कहीं-कहीं तो इसे ही समकालीन कविता माना गया और इस काल में आधुनिकतावादी दृष्टि वाली कविता को इस दायरे से बाहर रखा गया। समकालीन कविता के अंतर्गत उनका मूल्यांकन नहीं किया गया। यह परिदृश्य बदल गया जब भूमंडलीकरण की विचारधारा सामने आई। फलतः कविता में सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति निम्न रूपों में होने लगी। यहाँ तक कि पहले चरण में सक्रिय कवि- राजेश जोशी, अरुण कमल, मंगलेश डबराल, उदय प्रकाश, ज्ञानेन्द्रपति आदि की कविताएँ भी प्रतिरोध के अन्य रास्ते तलाशती नजर आती हैं। यानी सामाजिक-सांस्कृतिक-आर्थिक-व्यवस्थागत बदलाव ने नये पुराने सभी को प्रभावित किया।

समकालीन कविता के पहले चरण में पूँजीवाद और सत्ता के विरुद्ध विचारधारा का स्वर तेज है तथा सामान्य जन के प्रति पक्षधरता का स्वर स्पष्ट है, मानो पूँजीवाद और सत्ता वर्चस्व ही सबसे बड़ी चुनौती हो। पर दूसरे चरण की कविताओं में विचारधारा के स्वर का लोप भी हुआ, जो पहले के कवियों के लिए अखरनेवाली बात थी। अरुण कमल लिखते हैं- ‘इधर की कविताएँ अधिकांशतः छोटे-छोटे विषयों और आशयों की कविताएँ हैं। स्थिर, शांत और सौम्य। घर-परिवार, गृहस्थी-प्रकृति-लोकजीवन

के सुकोमल दृश्य और बिंब जो दृश्य-पटल पर जरा-सा ठहरकर विसर्जित हो जाते हैं, इधर की कविता में लगातार बढ़ते गए हैं। कह सकते हैं कि कविता ज्यादा घरेलू और पालतू हो गई है।” बात यह हुई कि समकालीन कविता के पहले चरण की कविताओं की अपेक्षा दूसरे चरण की कविताएँ अ-राजनीतिक स्वभाव वाली हैं। इसके पीछे मूलतः समय का दबाव था। अब कविता में समय-सजगता मूल चिन्ता दिखने लगी। कहना चाहिए कि पहले चरण की कविता में जो स्थान राजनीतिक विचारों का था, अब वह स्थान समय की पहचान ने ले लिया। कविता का घरेलू और पालतू हो जाना अलग से बहस का विषय है। विनोद दास ने नोट किया है- “यह सही है कि इधर कवि अकेला हुआ है। जिन मूल्यों और प्रतिबद्धताओं के लिए अपनी कविता में आवाज उठाता है, उन्हें समाज में आगे ले जाने वाली राजनीतिक और सामाजिक शक्तियाँ कमजोर हुई हैं। लेकिन यह भी सच है कि हमारे समय और समाज में छोटे-छोटे स्तरों पर प्रतिरोधी कार्रवाइयाँ भी चल रही हैं।” प्रतिरोध समकालीन कविता की ताकत है।

वस्तुतः पूँजी, बाजार, स्वार्थ, हिंसा तथा अमानवीयता के विरुद्ध आवाज या प्रतिरोध समकालीन कविता का वास्तविक स्वरूप है। क्षेत्रीयतावाद, आतंकवाद, व्यक्तिवाद भेद-भाव की बढ़ती खाई, सांप्रदायिकता, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, पर्यावरण प्रदूषण आदि विविध चुनौतियों का सामना करने के कारण समकालीन कविता का दायरा बढ़ा है। इस कविता में वर्चस्व के प्रति प्रतिरोध, बाजारवाद, अमानवीयता, सांप्रदायिकता आदि के प्रति प्रतिरोध दर्ज है। संपूर्ण समकालीन कविता में प्रतिरोध का स्वर प्रबल है। इस कविता के वरिष्ठ कवि केदारनाथ सिंह की कविता में दाने मंडी जाने से इनकार कर देते हैं- “नहीं/हम नहीं जायेंगे/खलिहान से उठते हुए/ कहते हैं दाने।”

दाना में सबसे बड़ा सरोकार सामान्य जन का होता है, जो बाजार जाने के प्रति प्रतिरोध करता है। यह वास्तविकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय बाजार के लिए जन का भी तभी तक महत्त्व रहता है, जब तक वह पूँजी को गति देने वाला मशीन बना रहता है। जहाँ वस्तु और पूँजी ही सब कुछ हो, वहाँ मनुष्य गरिमाहीन हो जाता है। इस नए बाजार में सब

कुछ चक्कमक है। एयर कंडीशनिंग है। भूमंडलीकरण और आर्थिक उदारीकरण के आ जाने से इस देश में बाजार का स्वरूप विस्तार हुआ है और बदला है, तो कविता में इसे भी रेखांकित किया गया है। बाजार के कारण मनुष्य और समाज का स्वरूप बदला है तो यह भी कविता में दर्ज हुआ है। राजेश जोशी लिखते हैं-

“यही है हमारे समय का एक सबसे पूरा बिंब  
और एक दिलचस्प प्रहसन भी  
कि जो जगह भरी होती थी कभी खूबसूरत शब्दों से  
वहाँ अब चमकदार जूते भरे हैं  
और उनमें न किसी यात्रा की धूल है  
न किसी पांव के पसीने की गंध।”

बाजार के प्रति प्रतिरोध का स्वर समकालीन कविता के वरिष्ठ कवि से लेकर युवा कवि तक में देखा जा सकता है संजय कुंदन, निर्मला पुतुल, हेमंत कुकरेती की कविता में यह स्वर प्रबल है।

उपभोक्तावाद का चलन बाजारवाद से आया। इसकी प्रवृत्ति है कि यह सजीव-निर्जीव हर वस्तु और हर प्राणी को मात्र एक वस्तु के रूप में देखता है। इस विचार में पूँजी और पैसा ही सब कुछ है। भौतिक सुख-साधन इकट्ठा करने और उसे भोगने में ही जीवन की सफलता मानी जाती है। पूँजी और बाजार की नीतियों के साथ चलने में ही जीवन की सफलता समझी जाती है। नया समय सबको बदल रहा है। जीवन का पैमाना और कसौटी बदल रहा है। संजय कुंदन ने ‘चुप्पी का शोर’ में दर्ज किया है-

“वातानुकूलित केबिन में बैठा है  
अपने समय का एक तेज तर्रार वक्त  
उत्पाद बेचने की कला पर  
लगातार विचार करता हुआ।”

जो बाजार की नीतियों में शामिल हैं, वे वातानुकूलित कमरे में बैठकर पूँजी का कारोबार करते हैं। समकालीन कवि कठिन समय, हिंसक समय, संवेदनहीन समय, जो मूलतः पूँजीवाद और उपभोक्तावाद की देन है, को रेखांकित करते हुए प्रतिरोध करते हैं। नीलेश रघुवंशी ‘पागल समय’ कविता में लिखती हैं- “कितना पागल समय है ये/ घूम रहे हैं जिसमें सब बौराए-बौराए।”

विश्व-बाजार के आतंक ने सहज-सामान्य-स्वाभाविक को हाशिए पर ठेल दिया है। समकालीन कवि उसे चुन-चुनकर बाहर लाता है।

समकालीन कविता में प्रतिरोध के बिंदु और भी हैं। सांप्रदायिकता कटुता, रक्तपात, हिंसा, आतंक, बर्बरता की विभीषिका चित्रित करते हुए उसके प्रति प्रतिरोध आखिरकार किया गया है। इस दिशा में राजेश जोशी, लीलाधर जगूड़ी, लीलाधर मंडलोई, मदन कश्यप, ज्ञानेंद्रपति, कात्यायनी, सविता सिंह आदि कवियों की कविताएँ उल्लेखनीय हैं। सांप्रदायिकता की स्थितियाँ चित्रित करते हुए उसके स्थान पर मानवीय श्रम की स्थापना ज्ञानेंद्रपति इन पंक्तियों में करते हैं-

“हम मेहनतकशों का तो एक ही मजहब है

काम और क्या ?

फजूल की बातें हैं बाकी सब।”

श्रम की स्थापना और श्रमजीवी की गरिमा का बखान समकालीन कविता के पहले चरण से लेकर दूसरे चरण तक विद्यमान है। पूँजीवाद के प्रति प्रतिरोध इस कविता के दोनों चरणों में मौजूद है। मानवीय संबंध, प्रकृति और मनुष्य का अन्त्योन्याश्रित संबंध, मनुष्य का सामाजिक तथा पारिवारिक जीवन दोनों चरणों की कविताओं में प्रमुखता से चित्रित है। दूसरे चरण की कविता में कुछ और जीवन संघर्ष आ जुड़े। जैसे अब केवल वर्गगत वैषम्य ही नहीं, जातिगत और लिंगगत वैषम्य भी प्रमुखता से चित्रित किए गए। जिसके परिणामस्वरूप स्त्री-विमर्श, दलित विमर्श, आदिवासी विमर्श का स्वर कविता में स्थान पाने का अधिकारी हुआ। पर्यावरण संकट को गहराई से अनुभव करते हुए समकालीन कवि प्रकृति और मनुष्य की मुक्ति का रास्ता प्रशस्त करते हैं।

समकालीन कविता में वैविध्य है। वैविध्य दोनों पक्षों में

है- विषय पक्ष में भी और अभिव्यक्ति पक्ष में भी। कविता का क्षेत्र विस्तृत हुआ है। आज कविता को विविध जीवन-स्थितियाँ, जीवनानुभव मिल रहे हैं, जिससे कविता का दायरा विस्तृत हो रहा है। समकालीन कविता की एक प्रमुख विशेषता वैविध्य है, यह विशेष रूप से रेखांकित किया गया है। परमानंद श्रीवास्तव अपने ‘कठिन समय में कविता’ शीर्षक लेख में नीलेश रघुवंशी, पवन करन, कुमार अंबुज, नीलाभ, अनामिका आदि कवियों का हवाला देकर कहते हैं- “इधर की कविता का वैविध्य चकित करता है।” कविता में जीवन का व्यापक संदर्भ चित्रित किया गया है, इसे राजेश जोशी भी रेखांकित करते हैं। उन्होंने लिखा है- “आज की कविता के पास विषयों का कोई संकट नहीं है। उसमें एक साथ इतने अधिक चरित्र, घटनाएँ और दृश्य हैं जो संभवतः पहले कभी नहीं थे।” अरुण कमल की टिप्पणी है- “जीवन के जितने सारे क्षेत्र, अनुभव, भंगिमाएँ अभी आ रही हैं, उतनी पहले नहीं थीं। चीखने से लेकर स्वगत तक पूरा विस्तार मिलता है।” अपने लेख ‘कविता का आज’ में अरविंद त्रिपाठी लिखते हैं- “समकालीन कविता में एकरूपता की जगह विविधता का संसार रचा गया है।” इस तरह, समकालीन कविता के वैविध्य पर लगभग सभी आलोचक एवं कवि एकमत हैं।

वस्तुतः समकालीन कविता अपने स्वरूप में वैविध्यपूर्ण तथा वृत्ति में प्रतिरोधयुक्त है। समकालीन कविता में समस्त भेद-भाव और मनुष्यता को बांटने वाली स्थितियों की पहचान कर उसके प्रति प्रतिरोध दर्ज किया गया है। इस कविता में मनुष्य तथा प्रकृति के अस्तित्व की रक्षा का प्रयास दिखता है। वर्गगत, जातिगत और लिंगगत वैषम्य बढ़ाने वाले तत्वों की खबर ली गई है। समकालीन कविता में प्रतिरोध तथा संघर्ष का सौंदर्य प्रबल है।

#### संपर्क :

उत्तर बंग विश्वविद्यालय, राजाराममोहनपुर, सिलीगुड़ी,  
दार्जिलिंग-734013 (प. बंगाल) मो. 9434462850



## नयी कविता का सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य मुक्तिबोध की दृष्टि में

डॉ. सोनम सिंह

१९४३ ई. में तारसप्तक के प्रकाशन के साथ कविता के क्षेत्र में एक नयी धारा दृष्टिगत होने लगी। इन कविताओं की विशेषता यह थी कि इन्होंने छायावादी मानदंड स्वीकार नहीं किया। नये यथार्थ ने नये प्रतीक और नयी उपमाएँ प्रदान कीं। यह नयी काव्य-धारा साहित्य में नयी कविता के नाम से सामने आयी। तारसप्तक के विषय में लिखते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है- “तारसप्तक के प्रकाशन की ओर तीन-चार बड़े आदमियों को छोड़कर भद्र साहित्य में किसी का ध्यान आकर्षित नहीं हुआ।... फिर भी तारसप्तक नये लेखकों में प्रचलित हुआ। नये ढंग की कविताएँ की जाने लगीं। जगह-जगह नये-नये लेखक पैदा हुए। उनके लिए तारसप्तक ने पार्श्वभूमि पैदा कर दी थी।”

वस्तुतः तारसप्तक के ये कवि प्रयोगवादी के रूप में सामने आये किंतु कालान्तर में यही कवि आगे चलकर नयी कविता के प्रमुख हस्ताक्षर बनें। दूसरा सप्तक के प्रकाशन के साथ परिस्थितियाँ बहुत कुछ बदल गयी थी। नयी कविता की टेकनीक प्रचार पा चुकी थी। जिन व्यक्तिगत और सामाजिक-राजनैतिक स्थिति-परिस्थितियों से तारसप्तक वालों को जूझना पड़ा, वे परिस्थितियाँ दूसरा सप्तक वालों के पास न थीं। तारसप्तक के कवियों में, वर्तमान दुःस्थिति के भाव से ग्रस्त रहने की मनोदशा के कारण उत्पन्न नकारवादी नैराश्यमूलक निवेदन, राजनैतिक विरोध, सामाजिक तथा व्यक्तिगत अंतर्विरोध इत्यादि प्रवृत्तियाँ प्रबल थीं। दूसरा सप्तक में न इतना सामाजिक व्यंग्य है और न राजनैतिक विरोध न इतनी पीड़ादायी आत्म-चेतना। वस्तुतः इसके विपरीत “दूसरा सप्तक वालों की टेकनीक सधी हुई है, और उनके काव्य-शिल्प भी अपेक्षाकृत सरल हैं। सामाजिक व्यंग्य, प्रगतिशील प्रवृत्ति और राजनैतिक स्वर क्षीण है, वह भी सिर्फ गूँज भर है। तारसप्तक वालों ने जितने मनोभावों को और मनुष्य दशाओं को मथा है, उतना दूसरा सप्तक वालों ने नहीं।” मुक्तिबोध का यह उद्धरण संकेत देता है कि वस्तुतः दूसरा सप्तक के कवियों को बहुत से भाव पके-पकाये मिल गये थे। छन्द, भाव, भाषा, शैली सभी उन्हें तैयार मिले थे। इसके लिए उनको कोई बौद्धिक संघर्ष नहीं करना पड़ा था। यह एक बड़ा कारण था कि दूसरा सप्तक के कवियों में संघर्ष का स्वर उतना तीव्र नहीं था। इसके विपरीत उसमें मनोहर प्राकृतिक दृश्यांकन, निसर्ग सौन्दर्य का अनेक रूपकों में चित्रण, वातावरण के सुघर रेखाचित्र और काव्य-शिल्प की रमणीयता के दर्शन होते हैं।

साहित्य में दूसरा सप्तक के आते-आते दो स्पष्ट धाराएँ नयी कविता में दृष्टिगोचर होने लगी थी। पहली धारा कलावादी कवियों व लेखकों की थी, जिनके अगुआ अज्ञेय थे। इस श्रेणी के अन्य कवियों में धर्मवीर भारती तथा सर्वेश्वर का नाम लिया जा सकता है। इन कलावादी धारा के कवियों ने कुछ नये मानदंड रचे थे और कवि से इनकी गुजारिश थी कि वे इन नये मूल्यों को अपने काव्य में प्रस्तुत करें। दूसरी धारा के लोग प्रगतिवाद के पक्ष के थे, इनमें मुक्तिबोध, नेमिचंद्र जैन, भारत-भूषण, गिरिजाकुमार माथुर, नरेश कुमार मेहता प्रमुख थे। इस संबंध में डॉ. नामवर सिंह ने लिखा है- “जब अज्ञेय मध्यवर्गीय परिवृत्ति के विरुद्ध वैयक्तिक असंतोष उगल रहे थे, नेमिचंद्र, गजानन मुक्तिबोध और भारत भूषण काव्य-क्षेत्र में आये। अज्ञेय की तरह इन कवियों में भी घोर असंतोष था, किंतु अज्ञेय के विपरीत इन कवियों में अपनी मुक्ति के लिए नवीन जन-आंदोलन से तादात्म्य स्थापित करने की आकांक्षा भी थी। इसीलिए इन कवियों में अज्ञेय के असंतोष से थोड़ा भिन्न एक नये ढंग की ‘कशमकश’ दिखायी पड़ती है। यह ‘कशमकश’ है ‘संस्कार और विवेक की’ आत्मस्थ होने की चाह को – असमर्थता को विवेक द्वारा चीर डालने की कशमकश। नेमि और मुक्तिबोध में यह कशमकश अधिक तीव्र तथा मार्मिक है और इन दोनों कवियों में भी मुक्तिबोध में ‘सक्रिय जीव-शक्ति’ और अधिक है।” डॉ. नामवर सिंह का यह विश्लेषण नयी कविता की इन दोनों धाराओं के अंतर को स्पष्ट करती है। कालान्तर में यह अंतर और भी स्पष्ट हो गया है मुक्तिबोध ने अपनी आलोचना में कई बार इस अंतर को प्रस्तुत किया है। नयी कविता के क्षेत्र में इन दोनों विपरीत विचार धाराओं ने अपने-अपने तरीके से काव्य में नयी वस्तु एवं नयी शैली को प्रस्तुत किया है।

कलावादी धारा के पुरस्कर्ता अज्ञेय के काव्य पर एकांगी, व्यक्तिवादी, क्षणवादी, आत्मबद्ध होने के आरोप हैं। वस्तुतः ‘लघु मानव’ की काव्य में प्रतिष्ठा इनके काव्य में स्पष्टतः दिखाई पड़ती है। अज्ञेय की विभिन्न कवितायें जैसे- ‘नदी के द्वीप’, ‘उड़ चल हारिल’, ‘यह द्वीप अकेला’, ‘आज थका हिय-हारिल मेरा’ इत्यादि अनेक कविताओं को देखा जा सकता है। व्यक्तित्व का प्रबल आग्रह, जिजीविषा की

उत्कट चेतना, सृजन और सम्पूर्ण व्यक्तित्व का समर्पण यहाँ द्रष्टव्य है। अज्ञेय की कविताओं में शिल्प के स्तर पर अभूतपूर्व कार्य हुआ है। उन्नत शिल्प ने भाषा, भाव, छंद एवं प्रत्येक शब्द के स्तर पर कार्य किया है। शिल्प के प्रति उनका आग्रह उनकी कविता ‘कलगी बाजरे की’ में प्रस्तुत हुआ है-

“अगर मैं तुम को ललाती साँझ के नभ की अकेली तारिका

अब नहीं कहता,

या शरद के भोर की नीहार-न्हायी कुँई

टटकी कली चम्पे की, वगैरह, तो

नहीं कारण कि मेरा हृदय उथला या कि सूना है

या कि मेरा प्यार मैला है।

बल्कि केवल यही ये उपमान मैले हो गये हैं।

देवता इन प्रतीकों के कर गये हैं कूच।

कभी बासन अधिक घिसने से मुल्लमा छूट जाता है।”

अज्ञेय की ये पंक्तियाँ न केवल कलावादी धारा के शिल्प के प्रति बरती गई सावधानी को बयान करती हैं बल्कि नयी कविता में वस्तु एवं रूप के प्रति जो नयापन एवं ताजगी थी उस प्रवृत्ति को भी रेखांकित करती हैं।

नयी कविता के कलावादी धारा स्कूल के कवियों से अज्ञेय को क्या आशाएँ थीं ये उनकी कविता ‘नया कवि: आत्म स्वीकार’ की पंक्तियाँ देखने पर और ज्यादा स्पष्ट हो जाती है। जहाँ वे कहते हैं:

“किसी की कली थी

मैंने अनदेखे में बीन ली,

किसी की बात थी

मैंने मुँह से छीन ली।

यों मैं कवि हूँ आधुनिक हूँ, नया हूँ:

काव्य-तत्त्व की खोज में कहाँ नहीं गया हूँ?

चाहता हूँ आप मुझे

एक-एक शब्द पर सराहते हुए पढ़ें।

पर प्रतिभा- अरे वह तो

जैसी आप को रुचे आप स्वयं गढ़ें।”

कवि की ये पंक्तियाँ स्पष्ट करती हैं कि कलावादी धारा का आग्रही होकर भी सौन्दर्यवाद की दुहाई देकर भी

कवि को अपने काव्य का वस्तु तत्त्व खोजने के लिए सुदूर यात्रा करनी पड़ती है, वस्तुतः यह सुदूर यात्रा जीवनानुभूतियों की जटिलता की ही यात्रा है।

किंतु फिर भी इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि नयी कविता की प्रगतिवादी धारा में जो अंतर्द्वन्द्व है, काव्य की कई सोपान हैं एवं आयाम है, वह कलावादी धारा में उतनी तीव्र नहीं है।

इस संदर्भ में डॉ. नामवर सिंह ने उल्लेख किया है। वस्तुतः दोनों धाराओं में तुलना के लिए उन्होंने अज्ञेय एवं मुक्तिबोध का उदाहरण देते हुए कहा है- “मुक्तिबोध के ‘तनाव’ और अज्ञेय के ‘तनाव’ की प्रकृति में अंतर है। अज्ञेय की दृष्टि में ‘मानसिक तनाव’ प्रमुख है, जिसे जीवन की विविधता का बोध ‘विश्रृंखल’ करता है। इसके विपरीत मुक्तिबोध का तनाव दुहरा है: एक ओर अपने परिवेश के साथ, दूसरी ओर स्वयं अपने अंदर। किंतु, अंततः ये दोनों तनाव परस्पर संबद्ध हैं। तनाव-संबंधी इन दोनों दृष्टियों की परिणति दो रूपों में हुई है।”

आगे नामवर सिंह ने यह भी कहा है कि “अज्ञेय की इस तनावहीनता से तो कहीं अधिक तनाव नितांत सौन्दर्यवादी कहे जाने वाले शमशेर बहादुर सिंह के काव्य में है।”

नयी कविता की इन दो धाराओं के विचारधारात्मक संघर्ष के इतिहास को जानने से पहले की पृष्ठभूमि पर विचार कर लेना भी आवश्यक है।

आरंभ में नयी कविता को प्रगतिवादी रवैये से अत्यंत प्रहार झेलने पड़े थे। अर्थभूमि के विस्तार के बावजूद नयी कविता को लंबी अवधि तक विरोधी आलोचना का शिकार होना पड़ा। परंपरागत काव्य-बोध से जुड़े आलोचक इसे कविता ही मानने को तैयार नहीं थे। यही वजह है कि मुक्तिबोध ने नयी कविता के ‘ग्राफ’ को और स्पष्ट करने के लिए आलोचना के क्षेत्र में कदम रखा। किसी जमाने में नयी कविता प्रगतिवाद के निकट थी। किंतु प्रगतिवादी रवैये से लगातार आक्रमण होने के कारण ‘नयी कविता’ ने भी आक्रामक रुख अपना लिया। इस संबंध में मुक्तिबोध ने स्पष्ट संकेत भी दिया है। उन्होंने लिखा है- “इसका कारण यह है कि प्रगतिवादी प्रवक्ताओं ने अपनी वही पुराने छर्रे वाली बंदूक और वही पुराने तमंचे निकाले जिनकी

आज कोई कीमत नहीं। संक्षेप में, उनके पास प्रगतिवादी प्रवक्ताओं के पास मध्यवर्गीय अंधसिद्धांतवादी अहंकार तो था, किंतु कला की सृजनशील प्रक्रिया में कला संबंधी समस्याओं में वह सूक्ष्म गति नहीं थी जो एक जीवन-मर्मज्ञ तथा कला-मर्मज्ञ के लिए आवश्यक होती है, यही नहीं लेखकों से विशेषकर नये ढंग के लेखकों से वे तन कर रहते थे।” ऐसी भयानक स्थिति से प्रगतिवादी समीक्षा को उबारने के लिए मुक्तिबोध को कला संबंधी समस्याओं से सीधे जूझना पड़ा। प्रगतिवादी समीक्षा को लेकर उनके मन में कितना प्रबल आग्रह था इसका पता उनके पत्र से लगता है जो नामवर सिंह के नाम लिखा गया था - ‘प्रिय, नामवर सिंह जी, कवि में आपने मेरे संबंध में जो कुछ लिखा। उसके लिए मैं किन शब्दों में धन्यवाद दूँ।... शुरु शुरु में तारसप्तक के प्रकाशन के अनन्तर ही, प्रगतिशील क्षेत्र में नयी कविता को बड़ी गालियाँ पड़ी। आलोचना आवश्यक थी विरोध आवश्यक नहीं था, खैर यह पिछली बात हुई। हुई गई लिखने का कारण यह है आगे चलकर क्या, इस आंदोलन को फिर से उठाना जरूरी नहीं है, विशेष संशोधनों के साथ।” नामवर सिंह के नाम लिखा गया यह पत्र प्रमाणित करता है कि मुक्तिबोध की दृष्टि कितनी विकसित व परिपक्व थी। प्रगतिशील आलोचकों ने ‘नयी कविता’ के कवियों के प्रति जैसा विरोधी रुख अपनाया था एवं मुक्तिबोध को इस बात ने आहत भी किया था, किंतु इसके बावजूद उन्होंने कलावादी धारा के नये कवियों की भाँति प्रगतिशील आंदोलन के प्रति आक्रामक रुख नहीं अपनाया बल्कि इसके स्थान पर वे नामवर सिंह से फिर इस आंदोलन को संशोधनों के साथ उठाने की बात कहते हैं। मुक्तिबोध की यही विचारधारा उन्हें आत्मकेन्द्रित नहीं होने देती, बल्कि उनके व्यापक आलोचना फलक एवं विराट कवि व्यक्तित्व की जमीन तैयार करती है। एक ऐसा कवि व्यक्तित्व जो समष्टि को लेकर चलता है। वस्तुतः यही कारण है कि नामवर सिंह ‘कविता के नये प्रतिमान’ में लिखते हैं- “यह तथ्य अनदेखा नहीं किया जा सकता कि ‘कविता के नये प्रतिमान’ के केन्द्र में मुक्तिबोध हैं। मूल्यों के अन्वेषण की प्रक्रिया में कभी-कभी प्रायः सबके सामने आदिकाव्य का यह प्रश्न उपस्थित

होता है- कोन्वस्मिन् सांप्रतं लोके... ? उत्तर में मुझे मुक्तिबोध ही क्यों दिखे, इसका उत्तर यदि स्वयं यह पुस्तक नहीं देती तो अलग से कोई उत्तर देना अनावश्यक है। ...इस पुस्तक का आधार यह धारणा है कि नई कविता में मुक्तिबोध की स्थिति वही है जो छायावाद में निराला की थी। निराला के समान ही मुक्तिबोध ने भी अपने युग के सामान्य काव्यों को प्रतिफलित करने के साथ ही उनकी सीमा को चुनौती देकर उस सर्जनात्मक विशिष्टता को चरितार्थ किया। जिससे समकालीन काव्य का सही मूल्यांकन संभव हो सके।” डॉ. नामवर सिंह का यह उद्धरण नई कविता में मुक्तिबोध की स्थिति को अत्यन्त गंभीरता से प्रस्तुत करता है। कविता के नये प्रतिमान में नामवर सिंह को जब भी नये प्रतिमानों को परखने की आवश्यकता पड़ी, तब-तब उन्हें मुक्तिबोध ही याद आते हैं।

मुक्तिबोध ने जिस तरह नई कविता में अपनी मुकम्मल स्थिति कायम की, ठीक उसी तरह आलोचना के क्षेत्र में भी उन्होंने नयी कविता और उसकी पृष्ठभूमि पर अत्यंत गहराई से विचार किया है। मुक्तिबोध के काव्य-चिंतन में कविता की व्याख्या उदात्त और विकासमान सामाजिक वस्तु मानकर की गई है। काव्य आत्मिक प्रयास होने पर भी मूलतः सामाजिक-सांस्कृतिक भूमि पर आधृत होता है। मुक्तिबोध ‘काव्य : एक सांस्कृतिक प्रक्रिया’ नामक निबंध में स्थापित करते हैं कि काव्य में सांस्कृतिक परंपरा का समाहार होता है और उसके मूल्य वैयक्तिक न होकर सामाजिक होते हैं। वे इसी अर्थ में प्रयोगवाद तथा नयी कविता को भी सांस्कृतिक परंपरा का अंग मानते हैं।

मुक्तिबोध ने नई कविता के काल की व्यक्तिवादी-कलावादी प्रवृत्तियों के प्रसार और प्रभाव के कारणों की खोज करते हुए उन ऐतिहासिक सामाजिक शक्तियों और विचारात्मक स्रोतों की ओर संकेत किया है जिनसे प्रगति विरोधी प्रवृत्तियों के सामाजिक, राजनीतिक संदर्भ और वर्गीय आधार का विश्लेषण करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है कि नई कविता में दो वर्ग हैं, उच्चमध्यवर्ग और निम्नमध्यवर्ग। यह उच्चमध्यवर्ग स्वाधीनता के बाद अवसरवाद का खूब शिकार हुआ है। उसका एक ओर देशी शोषक-शासक-वर्ग से गहरा रिश्ता है तो दूसरी ओर

उसने पश्चिमी साम्राज्यवाद की शीतयुद्ध कालीन विचारधारा को भी अपनाया है। इस उच्च मध्यवर्ग का उद्देश्य प्रगतिवादी साहित्य, संस्कृति और विचारधारा पर आक्रमण करना और प्रगति विरोधी कला-दर्शन, जीवन-दृष्टि और राजनीतिक दृष्टि का प्रचार-प्रसार करना है। मुक्तिबोध ने लिखा है कि- ‘स्वाधीनता प्राप्ति के उपरांत भारत में एक ओर अवसरवाद की बाढ़ आई। शिक्षित मध्यवर्ग में भी उसकी जोरदार लहरें पैदा हुईं। साहित्यिक लोग भी उसके प्रवाह में बहे और खूब बहे। इस भ्रष्टाचार, अवसरवाद और स्वार्थपरकता की पार्श्वभूमि में नई कविता के क्षेत्र में पुराने प्रगतिवाद पर जोरदार हमले किए गए और कुछ सिद्धांतों की एक रूपरेखा प्रस्तुत की गई। ये सिद्धांत और उनके हमने वस्तुतः उस शीतयुद्ध के अंग थे जिसकी प्रेरणा लंदन और वाशिंगटन से ली गई थी। नई कविता के आसपास लिपटे हुए बहुत से साहित्यिक सिद्धांतों में शीतयुद्ध की छाप है।’

नई कविता के आरंभ से जुड़े होने के कारण मुक्तिबोध उससे अत्यंत गहराई से जुड़े हुए थे। उसकी खूबियों एवं कमियों से वे बखूबी वाकिफ थे। संभवतः नई कविता पर होने वाले प्रगतिवादियों के साहित्यिक हमलों ने उन्हें बोलने पर मजबूर कर दिया। किंतु अपने समस्त कथन को अभिव्यक्त करते हुए मुक्तिबोध लगातार निष्पक्ष रहे हैं। उन्होंने अपनी आलोचना में जगह-जगह पर नई कविता की व्यक्तिवादी कलावादी धारा के कवियों और लेखकों के वास्तविक वर्गीय चरित्र का विश्लेषण किया है। मुक्तिबोध का विचार यह भी था कि प्रगतिवादी आलोचकों की नए कवियों के प्रति अकारण कटुता और कठोरता तथा कला के प्रति विमुखता ने विपक्षियों के हाथ मजबूत किए; विपक्षियों ने ‘प्रगतिवादियों की स्थूलता से लेखक वर्ग में उत्पन्न असंतोष’ का पूरा-पूरा लाभ उठाया और उन्हें अपने क्षेत्र में मिला लिया। कदाचित् इसका प्रायश्चित्त करने के लिए ही मुक्तिबोध ने प्रगतिवादी प्रतिमानों में कला-दृष्टि का सन्निवेश कर नए कवियों को मार्क्सवाद की ओर पुनः आकर्षित करना चाहा। अपने इसी कार्य में कहीं सृजन-प्रक्रिया का विवेचन करते हुए और कहीं कला की समस्याओं का चिंतन करते हुए उनका चिंतन अत्यंत गंभीर हो गया

है। इस विवेचन में उन्होंने बहुत सी नई मान्यताओं को खोजकर प्रस्तुत भी किया है।

हिंदी के मार्क्सवादी आलोचकों में मुक्तिबोध ने संभवतः सबसे पहले सर्वाधिक जोरदार ढंग से की नई कविता के प्रतिक्रियावादी साहित्यिक दृष्टिकोण के पीछे सक्रिय शीतयुद्धकालीन साम्राज्यवादी विचारधारा के वास्तविक रूप का उद्घाटन किया।

मुक्तिबोध ने शीतयुद्धकालीन साम्राज्यवादी विचारधारा के पीछे छिपे उद्देश्य को एक अन्य स्थान पर स्पष्ट किया है। उन्होंने लिखा है कि “एक कला सिद्धांत के पीछे एक विशेष जीवन-दृष्टि हुआ करती है। उस जीवन-दृष्टि के पीछे एक जीवन-दर्शन होता है और उस जीवन-दर्शन के पीछे आज के जमाने में राजनीतिक दृष्टि भी लगी रहती है। निःसंदेह, नयी कविता की एक फ़िलासॉफी के रूप में कला-सिद्धांत लाया गया। कला-सिद्धांत के पीछे सामाजिक-साहित्यिक मनोवृत्तियों का विश्लेषण करने वाला ‘आधुनिक भाव-बोध’ का सिद्धांत आया और ‘व्यक्ति-स्वातंत्र्य’ के नाम पर एक सामाजिक-राजनैतिक दर्शन भी प्रस्तुत हुआ और ये सब नयी कविता के समर्थन और विस्तार में ही आये यह एक ऐतिहासिक तथ्य है।” मुक्तिबोध के इस लंबे उद्धरण से स्पष्ट होता है कि उनके अनुसार नई कविता की इस धारा ने प्रगतिशील और विचारधारा के खिलाफ एक प्रगतिविरोधी कला-दर्शन गढ़ने का प्रयास किया था जिसका एक निश्चित प्रगतिविरोधी राजनीतिक अभिप्राय भी था। इस प्रगतिविरोधी कलादर्शन जीवन-दृष्टि और राजनीतिक दृष्टिकोण के विरुद्ध संघर्ष करना नई कविता के काल की मार्क्सवादी आलोचना का मुख्य दायित्व था। इस दायित्व को मुक्तिबोध पूरा किया। उनका यह आलोचनात्मक संघर्ष केवल साहित्य की दुनिया तक ही सीमित न रहा, बल्कि उसमें उन्होंने राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विचारधाराओं पर भी गहन अध्ययन-मनन किया। वस्तुतः मुक्तिबोध ने नई कविता की इस प्रगति-विरोधी कलावादी धारा के चिंतन में छिपी राजनीतिक दृष्टि के विरुद्ध संघर्ष में ‘समीक्षा’ को ‘हथियार’ की तरह इस्तेमाल किया। मुक्तिबोध ने इस संबंध में लिखा भी है कि “नयी कविता के डिफेंस में जब प्रगतिवादी दृष्टि का

विरोध किया गया, तब सबसे पहले जीवन और काव्यानुभूति की समानान्तरता का पैरेलैलिज्म का सिद्धांत स्थापित किया गया। कहा गया कि जीवन में प्राप्त होने वाली अनुभूतियाँ और सौन्दर्यानुभूति, ये दोनों चीजें अलग-अलग हैं। ...नयी कविता के बुर्ज से शीत-युद्ध चलाने वाले नीति-नियामकों का वह एक सोद्देश्य मानसिक विक्षेप है।”

नई कविता की व्यक्तिवादी धारा ने बड़े ही नाटकीय ढंग से जीवनानुभूति और सौन्दर्यानुभूति की समानान्तरता के सिद्धांत को सामने रखा। इस मान्यता के अनुसार सौंदर्यानुभूति जीवन के एक निगूढ़ क्षण में कल्पोद्भास या पूर्ण मानसिक द्रवण है। जीवनानुभूति सौन्दर्यानुभूति से पृथक् तो है ही, वह समानांतर भी है। मुक्तिबोध ने जीवनानुभूति और सौन्दर्यानुभूति की समानान्तरता की धारणा का खंडन किया है और दोनों की एकता पर बल दिया है। उन्होंने सौन्दर्यानुभूति की व्याख्या करते हुए लिखा है कि ‘सौन्दर्यानुभव जीवन के सार के रूप का प्रगाढ़ मार्मिक अनुभव है। किंतु यह तभी प्राप्त होता है। जब मनुष्य को अपने से परे जाने, अपने से ऊपर उठने, तटस्थ होने, निजबद्धता से मुक्त होने के साथ-साथ (और एक साथ) तन्मय होने का, विलीन हो जाने का मानवीय गुण और उस गुण का सामर्थ्य प्राप्त हो तभी ‘वह विशिष्ट’ की सामान्य में परिणति की मुक्त आत्मीयता का आनंद ले सकेगा।”

मुक्तिबोध ने सौंदर्यानुभूति को केवल कलाकार की ही विशिष्टता न मानकर उसे मनुष्यत्व का लक्षण कहा है। कलाकार की सौंदर्यानुभूति की क्षमता उसकी मनुष्यता की क्षमता पर, उसके व्यापक जीवन-विवेक पर निर्भर है, क्योंकि सौन्दर्यानुभूति वास्तविक जीवन की मनुष्यता है।

मुक्तिबोध का यह मानना था कि किसी भी कलाकार के लिए आवश्यक है कि उसके पास कोई विश्व दृष्टि हो, जिसमें उसकी जीवन दृष्टि तथा समस्त जीवनानुभव जुड़े हों। किंतु नयी कविता में इस विश्व-दृष्टि का नितांत अभाव था। मुक्तिबोध ने रचनाकार से विश्वचेतस् होने की बात कही है, किंतु नयी कविता की अपनी विशेष कोई दार्शनिक धारा या विचारधारा नहीं थी। वह तरह-तरह के झुकावों, दृष्टियों और विचारों का ढेर बन गयी थी। मुक्तिबोध ने कहा भी है, “आज बहुत-से कवियों के अंतःकरण में

जो बेचैनी, जो ग्लानि, जो अवसाद, जो विरक्ति है, उसका एक कारण (अन्य कई कारण हैं) ऐसी विश्व दृष्टि का अभाव है तो उन्हें आभ्यंतर आत्मिक शक्ति और मनोबल प्रदान कर सके तथा उसकी पीड़ाग्रस्त अगतिकता को दूर कर सके।”

उन्होंने नये कवियों से यह निवेदन भी किया है, वे अपने अंदर ऐसी विश्व-दृष्टि का विकास करें, जो उनकी भाव-दृष्टि का अनुशासन कर सके और उस भाव-दृष्टि में किसी-न-किसी प्रकार से उनकी विश्व-दृष्टि प्रतिच्छावित हो सके।

नई कविता की व्यक्तिवादी धारा ने अनुभूति के क्षण को अत्यंत महत्त्व दिया है। इस दृष्टि के अनुसार रचना का संबंध सौन्दर्यानुभूति से होता है और सौन्दर्यानुभूति का केवल क्षण ही हो सकता है इसलिए अनुभूति के क्षण को ही रचना में महत्त्व मिलना चाहिए। इस सिद्धांत में क्रोचे के अभिव्यज्जनावाद की गूँज सुनायी पड़ती है। इस तरह की विचारधारा का हिंदी आलोचना में पहले भी तीव्र विरोध आचार्य शुक्ल की वस्तुवादी दृष्टि ने किया था। वास्तव में इस क्षणवाद के अंतर्गत कलाकार और कला को वास्तविक जीवन प्रसंगों से काटकर क्षण की अनुभूति या अनुभूत क्षण तक सीमित रखनेवाली यह मान्यता विशुद्ध कलाकार और विशुद्ध कला की वकालत करती है। मुक्तिबोध ने इन कलावादियों के सौन्दर्यवाद के अंतरंग सखा क्षणवाद की आलोचना करते हुए लिखा है कि “यह सौन्दर्यवाद कलाकार को क्षणजीवी सौन्दर्यानुभूति के छोटे से मानसिक बिंदुओं में ही समेटकर, बाँधकर रखना चाहता है ताकि वह अपने समस्त व्यक्तित्व और समस्त अंतरजीवन की प्राणधाराओं को भूमिगत करके, केवल ऊपरी सतह पर उछाले गए बिंदुओं में अपने-आपको तृप्त मान ले और शेष को भूल जाए।”

मुक्तिबोध का यह उद्धरण स्पष्ट करता है कि साहित्य में क्षणवाद के नाम पर एक विशेष प्रकार के कटघरे में कैद होकर एक खास किस्म की अभिव्यक्ति शैली में ही कवि काव्य रचना करने के लिए बाध्य हो गया। काव्य में क्षण को इतना अधिक महत्त्व देकर वस्तुतः ‘जीवन’ को एक सिरे से खारिज करने की कोशिश की गयी।

मुक्तिबोध ने इस क्षणवाद की जड़ खोदते हुए आगे कहा है कि “कला का प्रसव सौन्दर्यानुभूति के क्षण में ही होता है, यह एक अनिवार्य नियम नहीं है। यदि सचमुच वैसा होता तो महाकाव्य और खंडकाव्य न लिखे जाते। तुलसीदासजी रामायण न लिख पाते। एजरा पाउण्ड अपने लम्बे काण्ड न लिख पाता। आधुनिक प्रदीर्घ काव्य केवल मानसिक-द्रवण के क्षण के उत्कर्ष रूप में नहीं लिखे गये हैं।... सच बात तो यह है कि टी.एस. इलियट जिस दांते को महान् मानता है, उसका काव्य भी क्षण का काव्य नहीं है। क्यों नहीं है? इसलिए कि क्षण इतने दीर्घ, विस्तृत, सतत और क्रमागत नहीं होते हैं।”

मुक्तिबोध का यह उद्धरण न केवल क्षणवाद की बखिया उधेड़कर रख देता है बल्कि इसके साथ ही यह भी प्रमाणित करता है कि संसार में जितने महाकाव्य या गंभीर साहित्य की रचना हुई है, वे किसी क्षणवाद की उपज नहीं हैं बल्कि उनके पीछे कवि के संचित जीवनानुभव रहे हैं। उसके सामाजिक सरोकार एवं संश्लिष्ट जीवन के चित्र रहे हैं। अपने इस कथन को और स्पष्ट करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है कि, “मानसिक द्रवण के क्षण का वास्तविक चित्रण अंशतः ही होता है... कलात्मक चेतना का विस्तार रचनाकाल तक सीमित नहीं वरन् मुख्यतः उस काल के बाहर होता है। ...दूसरे शब्दों में, कलात्मक चेतना का विस्तार जीवन-जगत् में विचरण करते हुए, संवेदनात्मक क्रिया-प्रतिक्रिया करते हुए होता है।” नई कविता के व्यक्तिवादी कलावादियों के बारे में मुक्तिबोध ने लिखा है कि समग्र मानव सत्ता के प्रति उनके मन में कोई अनुराग नहीं है। इन कलावादियों के क्षणवाद का कला-सृजन के संदर्भ में सामाजिक-राजनीतिक और नैतिक दायित्वों से घोर विरोध है।

अनुभूति के क्षण के नारे का गहरा संबंध अनुभूति की ईमानदारी और अनुभूति की प्रामाणिकता के नारे से था। इस संबंध में नयी कविता की कलावादी धारा की मान्यता थी कि रचनाकार के पास अनुभूति के केवल क्षण होते हैं, इसलिए सहज, क्षणिक अनुभूति ही प्रामाणिक हो सकती है और उसकी अभिव्यक्ति में ही रचनाकार की ईमानदारी प्रकट होती है। मुक्तिबोध ने अपनी रचना ‘एक साहित्यिक

की डायरी' में व्यक्तिवादियों की दी हुई 'व्यक्तिगत ईमानदारी' को प्रस्तुत किया है और फिर स्वयं के अकाट्य तर्कों से उन्हें खारिज करते हुए 'व्यक्तिगत ईमानदारी' को अपने सही रूप में प्रस्तुत किया है। उनका मानना है कि व्यक्तिगत ईमानदारी की जगह व्यक्तिगत फ़ाँड भी हो सकता है। उन्होंने कहा है- "व्यक्तिगत ईमानदारी का अर्थ है- जिस अनुपात में जिस मात्रा में जो भावना या विचार उठा है, उसको उसी मात्रा में प्रस्तुत करना।" इस संबंध में उन्होंने आगे कहा है- "व्यक्तिगत ईमानदारी वहाँ लक्षित होगी जहाँ, वस्तु का वस्तुमूलक आकलन करते हुए, लेखक उस आकलन के आधार पर वस्तुत्व के प्रति सही-सही मानसिक प्रतिक्रिया करे। यदि वह ऐसा नहीं करता, तो उसकी प्रतिक्रिया में सत्यत्व का आविर्भाव नहीं होगा।"

मुक्तिबोध के इस कथन के संबंध में डॉ. नामवर सिंह ने लिखा है कि, "इस प्रकार मुक्तिबोध ने ईमानदारी को आत्मनिष्ठता के दलदल से निकालकर वस्तुनिष्ठता की ठोस भूमि पर प्रतिष्ठित किया और ईमानदारी में 'सत्यता' के प्रश्न को जोड़कर मूल्यांकन के लिए एक वस्तुनिष्ठ वैज्ञानिक औजार प्रदान किया।" इस वस्तुनिष्ठ प्रतिमान के आधार पर ही मुक्तिबोध नई कविता के अंदर चलनेवाली आत्म-प्रवर्चना का उद्घाटन करने में समर्थ हुए। मुक्तिबोध को इस बात का ज्ञान था कि लेखक अपने जाने अनजाने में भी 'फ़ाँड' को जन्म देता है क्योंकि रचना-प्रक्रिया में बहुत से अंतर्निषेध चुपचाप समा जाते हैं। यह कलाकार का कर्तव्य है कि वह शुद्ध ज्ञान को यथार्थमूलक ढंग से साहित्य में प्रस्तुत करें और इसके लिए न केवल सतत संघर्ष करें बल्कि प्रयत्न करके उन अंतर्निषेधों को दूर करें। वस्तुतः व्यक्तिगत ईमानदारी के अंदर एक बहुत बड़ा संघर्ष निहित है। दूसरे शब्दों में कहे तो, साहित्य के क्षेत्र में व्यक्तिगत ईमानदारी स्वयंसिद्ध नहीं वरन् प्रयत्न-साध्य होती है। इस संबंध में डॉ. नामवर सिंह ने फिर से कहा कि, "भावना के ज्ञानात्मक आधार की कमजोरी के कारण जिस प्रकार छायावादियों ने छद्म भावनाओं की अभिव्यक्ति की, मुक्तिबोध को इसका पता था; इस अनुभव के आधार पर उन्होंने नए कवियों को भी ईमानदारी की रोमांटिक-छायावादी सीमाओं के प्रति आगाह किया।" इस संबंध में

गौरतलब है कि लक्ष्मीकांत वर्मा की पुस्तक 'नए प्रतिमान: पुराने निकष' की समीक्षा (आलोचना-६७, जुलाई संस्करण) करते हुए मलयज को भी 'अनुभूति की प्रामाणिकता' और 'क्षण की अनुभूति' जैसे शब्दों में रुमानी आत्मनिष्ठा की बू आने लगी। इस समीक्षा में मलयज को यह स्पष्ट दिखाई पड़ा कि नई कविता के दौरान प्रचलित मूल्यहीन 'अनुभूति की प्रामाणिकता' जैसे शब्द वस्तुतः शीत-युद्ध की उपज थे, जिनके मूल में प्रगति विरोधी अंध दृष्टि कायम थी। वस्तुतः नई कविता की व्यक्तिवादी धारा ने एक नया सौन्दर्यशास्त्र गढ़ने की कोशिश की ताकि मानव-संवेदना से लेखक का ध्यान हटाकर उसे व्यक्ति संवेदना में केन्द्रित कर दिया जाये। इस तरह लेखक व्यक्तिगत अनुभूति के नाम पर न केवल साहित्य के साथ छल करें, बल्कि आत्मछल का भी शिकार बने। मुक्तिबोध ने अनुभूति की ईमानदारी के नारे का जोरदार शब्दों में खंडन करते हुए कहा है कि, "अनुभूति की ईमानदारी का नारा देने वाले लोग, असल में, भाव या विचार के सिर्फ सब्जेक्टिव पहलू, केवल आत्मगत पक्ष के चित्रण को ही महत्व देकर उसे भाव-सत्य या आत्म-सत्य की उपाधि देते हैं। किंतु भाव या विचार का एक ऑब्जेक्टिव पहलू अर्थात् वस्तुपरक पक्ष भी होता है।" मुक्तिबोध ने अपने द्विआत्मक भौतिकवादी दृष्टिकोण के कारण ही 'अनुभूति की ईमानदारी' में निहित भाववाद को पहचाना और भाव या विचार के आत्मगत पक्ष और वस्तुगत पक्ष के समान महत्व पर बल दिया।

वास्तव में मुक्तिबोध की पैनी दृष्टि ने न केवल नयी कविता के पीछे छिपी कमजोर विचारधारा को पहचाना बल्कि उस छद्म आवरण को अपनी आलोचना की धार से बेनकाब कर दिया। वे कविता की रचना-प्रक्रिया को एक सांस्कृतिक प्रक्रिया मानते हैं और कहते हैं कि रचना में जो सांस्कृतिक मूल्य परिलिखित होते हैं, वे व्यक्ति की अपनी देन नहीं, समाज की या वर्ग की देन हैं, इसलिए कविता को केवल आत्माभिव्यक्ति समझना गलत है। मुक्तिबोध ने कविता को केवल आत्माभिव्यक्ति मानने की धारणा का खंडन करते हुए ही 'कला के तीन क्षण' के नाम से रचना-प्रक्रिया की तीन अवस्थाओं का विश्लेषण किया है। मुक्तिबोध ने अपने विश्लेषण के द्वारा यह स्थापित किया

कि सामाजिक दृष्टि रचनाकार की सौन्दर्य-प्रतीति में बाधक नहीं, सहायक ही है। वस्तुतः नई कविता के व्यक्तिवादी महानुभवों द्वारा गढ़े गये कला और साहित्य संबंधी सभी प्रश्न कृत्रिम और उत्तर झूठे हैं। मुक्तिबोध ने इन प्रश्नों और उत्तरों के भीतर छिपे सामाजिक इरादों, राजनीतिक अभिप्रायों और विचारधारात्मक उद्देश्यों की असलियत को सामने लाकर अपने समय की आलोचना को धार दिया।

नयी कविता के कलावादियों का एक सिद्धांत था लघु मानव का सिद्धांत 'लघु मानव' के सिद्धांत को प्रतिपादित करने वाले लक्ष्मीकांत वर्मा थे। लक्ष्मीकांत वर्मा ने अपनी पुस्तक 'नई कविता के प्रतिमान' में इस सिद्धांत के विषय में लिखा है कि नई कविता 'लघु मानव' के लघु परिवेश की आत्माभिव्यक्ति है। नई कविता की इस धारा में लघु मानव के सिद्धांत का बहुत अधिक महत्त्व रहा है। लक्ष्मीकांत वर्मा अपने को व्यापक मानवता के प्रति आस्थावान कहते हैं, लेकिन व्यापक मानवता के प्रति आस्थावान होते हुए भी लक्ष्मीकांत वर्मा, 'मानव समूह और समूह चेतना' अर्थात् समाज और सामाजिक चेतना से पूरी तरह आतंकित थे। उनका लघु मानव व्यक्ति मानव है और वह व्यक्ति, मानव-समाज से सदा भयभीत रहता है, मानों कि व्यक्ति की उत्पत्ति समाज से न होकर कहीं और से या फिर कहीं स्वयं व्यक्ति से हुई हो। लक्ष्मीकांत वर्मा सरीखे नई कविता के चिंतकों का यह मानना भी था कि आज का समाज इस 'लघु मानव' के व्यक्तित्व के विकास में सबसे बड़ा बाधक है। मानवता के लिए हानिकारक है। वस्तुतः वे लोग जिस मानवतावाद की दुहाई दे रहे थे, वह 'लघु-मानव' के सिद्धांत पर टिका हुआ है।

मुक्तिबोध ने इसके पीछे छिपी शीत-युद्धीय मानसिकता पर विचार करते हुए पाया कि 'लघु-मानव' का सिद्धांत समाज और सामाजिक चेतना से आतंकित है और व्यक्ति-सत्ता में ही अपनी अद्वितीयता खोजता और पाता है। दुःख की स्थिति को प्राकृतिक देन की तरह स्थायी मान लेने के बाद उसको दूर करने के सभी प्रयत्न निरर्थक ही लगेंगे। लघु-मानव के सिद्धांत के अनुसार सामाजिक परिवर्तन के सारे प्रयत्न और मानव-मुक्ति के सारे लक्ष्य निरर्थक हैं। इस सिद्धांत को स्वीकार करने का अर्थ है पूँजीवादी समाज-

व्यवस्था को समाप्त कर एक शोषण मुक्त समाज-व्यवस्था के निर्माण की आकांक्षा और कोशिश से मुँह मोड़ लेना। क्या यह अलग से कहने की जरूरत है कि लघु-मानव का सिद्धांत पूँजीवादी समाज-व्यवस्था के वर्तमान को मानव समाज का शाश्वत वर्तमान मानता है। मुक्तिबोध ने ठीक ही लिखा है कि- "यह मुख्यतः मानव-मुक्तिवादी विचारधाराओं के विरुद्ध है, इसकी तीखी नोंक खासकर साम्यवादी धारणाओं के विरुद्ध हैं क्योंकि साम्यवादी धारणाओं में यह बताया गया है कि मनुष्य चाहे तो अपना भाग्य परिवर्तन कर सकता है।" मुक्तिबोध के अनुसार दुःख के स्थायित्व, लघूत्व की मूल स्थिति तथा उच्चतर गुणों के माया स्वप्नत्व का पाठ पढ़ाकर मनुष्य को मानव-सत्ता के उच्चतर रूपांतर के कार्यों और कार्यक्रमों से अलग करना ही इस लघु-मानव के सिद्धांत का मुख्य उद्देश्य है। यही कारण है कि वे लघु मानव के सिद्धांत को नकारवादी, निराशावादी और प्रतिक्रियावादी कहते हैं।

आधुनिकता इन नयी कविता वालों का एक अन्य सिद्धांत था जो इनकी राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन-दृष्टि को प्रकट करती है। अपने अनेक दूसरे सिद्धांतों की तरह इस आधुनिकतावाद को भी नई कवितावालों ने पश्चिम के आधुनिक बुर्जुआ विचारकों से प्राप्त किया था। आधुनिकतावाद कला-दृष्टि और जीवन-दृष्टि के रूप में एक विश्व-व्यापी प्रवृत्ति रही है और इसके प्रगति-विरोधी तथा प्रगतिशील दोनों ही रूप कला और साहित्य में प्रकट हुए हैं। नई कविता के प्रगतिविरोधी व्यक्तिवादियों ने इतिहास और परंपरा से मुक्ति के आग्रही आधुनिकतावाद को ही स्वीकार किया। इस संबंध में डॉ. मैनेजर पांडेय ने कहा है कि "नई कविता के आधुनिकतावादियों ने आस्था, अनास्था, अस्तित्व के संकट, संत्रास और मृत्युबोध आदि को ही आधुनिक भाव-बोध की प्रमुख विशेषताओं के रूप में प्रचारित किया और इन्हें अपनी कविताओं में उतारा। इन आधुनिकतावादियों में से कुछ अस्तित्ववाद से भी प्रभावित हुए थे। इस दौर में आधुनिकता की जितनी चर्चा हुई उतनी शायद ही किसी दूसरी समस्या की हुई हो। आधुनिकतावादियों ने आधुनिकता को कविता और कहानी में प्रगतिवाद और यथार्थवाद के विरोधी सिद्धांत के रूप में प्रचारित किया। हिंदी के यथार्थवाद



विरोधी आधुनिकतावादियों ने आधुनिकता के नाम पर उधार कि विचारों, कल्पित स्थितियों और संकुचित मनोवृत्तियों की अभिव्यक्ति को ही आधुनिकता मान लिया और अपने समय के समाज और जीवन की व्यापक गतिविधियों से आँख मूँदकर अपनी चेतना के घेरे में चक्कर काटते रहे।” डॉ. मैनेजर पांडेय का यह उद्धरण नई कविता की उन तमाम कमजोरियों को उजागर करता है, जिन्हें नई कविता वालों ने आधुनिकता का जामा पहनाने की कोशिश की है। वास्तव में इसमें अस्तित्ववाद की गहरी छाप भी मौजूद है।

डॉ. रामविलास शर्मा ने भी नई कविता में मौजूद अस्तित्ववाद की छाप को गहरे रूप में अनुभव किया था। उन्होंने लिखा है- “रोमांटिक काव्य की व्यक्तिवादी प्रवृत्ति क्रमशः विकृत होती हुई अब अस्तित्ववाद के रूप में प्रकट हुई है। चरम व्यक्तिवाद को वह सामाजिक दर्शन का रूप देकर प्रस्तुत करती है। रोमांटिक कवि रूढ़ियाँ तोड़कर नये सौंदर्यबोध की उपेक्षा और मानवमूल्यों की अस्वीकृति को ही एक रूढ़ि का रूप दे दिया। यह बात फ्रांस के अस्तित्ववादियों पर उतनी लागू नहीं होती जितनी हिंदी में अनेक अनुवर्तियों पर। रोमांटिक कवियों में एक प्रदर्शनवादी रुझान था, दुनिया को यह दिखाने की आकांक्षा कि वह कितने पतित, पीड़ित अथवा त्रस्त हैं। नयी कविता में यह रुमानी प्रदर्शनप्रियता चरम सीमा तक पहुँच गई है।”

किंतु डॉ. रामविलास शर्मा ने नयी कविता के सकारात्मक पक्ष को भी उजागर किया। उन्होंने कहा है- “आधुनिक हिंदी कविता में एक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति है जिसे हम नया यथार्थवादी रुझान कह सकते हैं। कविता की पुरानी शब्दावली, पुराने छंद, पुरानी प्रतीक-योजना नये कवियों को इसलिए पसंद नहीं आते कि वह यथार्थ जीवन के बोलचाल से यथार्थ जीवन के चित्रों से मेल नहीं खाती। नये हिंदी कवि भाषा और छंद से लेकर प्रतीक-योजना तक यथार्थ की भूमि पर बढ़ने का प्रयत्न कर रहे हैं, यह उनके आधुनिकता बोध का सकारात्मक पक्ष है।”

डॉ. रामविलास शर्मा ने नयी कविता के संबंध में अन्य कई महत्वपूर्ण तथ्यों को सामने रखा है। उन्होंने कहा है कि “सन् १९५४ में ‘नयी कविता’ के प्रकाशन से शुरू होने

वाली नयी कविता अस्तित्ववादी कविता है तो छायावादी ‘शिशु आस्था’ के विरुद्ध व्यक्तिनिष्ठ विवेक पर बल देती है, जो मानव को लघु-मानव बनाकर उसकी विवशता और पराजय के भोगने को कवि की परम उपलब्धि मानती है। सन् १९५८ में ‘कृति’ के प्रकाशन से शुरू होने वाली नयी कविता क्रमशः उस पराजित पीढ़ी की कविता बनती जाती है जो व्यक्तिनिष्ठ मूल्यों के बदले मूल्यहीनता का झण्डा लेकर आगे बढ़ती है। भूखी पीढ़ी, नंगी पीढ़ी, अकविता, ताजी कविता आदि की अनेक संक्षिप्त अर्द्धविक्षिप्त पीढ़ियाँ इसी मूल्यहीनता के झण्डे के नीचे से एक दूसरे को ललकारती हैं। इस ललकारने की क्रिया के बावजूद इन सब में आंतरिक संगति है क्यों वे सभी साहित्य और राजनीति के प्रगतिशील तत्त्वों को अस्वीकार करती हैं।

डॉ. रामविलास शर्मा का यह भी मानना था कि १९४७ के पहले देश की जनता के सामने स्पष्ट सामाजिक लक्ष्य था- अंग्रेजी राज को खत्म करना। सन् १९४७ से पहले कुछ राजनीतिज्ञ और बुद्धिजीवी यह भी कहते थे कि अंग्रेजी राज खत्म करने के बाद यहाँ समाजवादी व्यवस्था कायम की जाएगी। सन् १९४७ के बाद यह सामाजिक लक्ष्य दूर होता गया। साहित्यकार समूह के विरोध में व्यक्ति-मूल्य लेकर सामने आये। इस प्रगति विरोधी नयी कविता के पक्षधर यह दावा करते रहे थे कि यह कविता भारतीय मध्यवर्ग की स्थिति को प्रतिबिंबित करती है, लेकिन वास्तविकता यह थी कि यह यूरोप और अमेरिका के मरणोन्मुख पूँजीवाद की संस्कृति को अधिक प्रतिबिंबित करती थी।

इस तरह हम अगर डॉ. शर्मा के विभिन्न कथनों का अवलोकन करें तो पाते हैं कि उनके और मुक्तिबोध के कथनों में पूर्णतः समानता है। नयी कविता के संबंध में डॉ. शर्मा के विश्लेषण से मुक्तिबोध एकमत दिखायी पड़ते हैं।

मुक्तिबोध का मानना था कि नयी कविता में तत्त्वतः सिर्फ नये डिजाइन की खोज हुई है। उसमें प्राण-प्रतिष्ठा होना अभी शेष है। मुक्तिबोध ने यह भी कहा कि जिंदगी में उठने वाले कर्कश विद्रोह के स्तर, दिन-भर ईंट पत्थर ढोनेवाली जिंदगी की भोली करुणा, चारों तरफ एक खास व्यवस्था में बद्ध शोषण और उत्पीड़न से उत्पन्न कराह के बीच से उठने वाली क्रांतिकारी चण्डता को अभिव्यक्ति

देना, नयी कविता में असुंदर और अशोभन माना गया। आगे चलकर जिन निम्नवर्गीय कवियों ने इन भावनाओं को व्यक्त किया, उन्हें आधुनिक-भाव-बोध से विहीन अकवि करार दिया गया। उनकी सौंदर्याभिरुचि को भोथरी और उनकी भावधारा को राजनीतिक कहकर असाहित्यिक ठहरा दिया गया। फलस्वरूप कवि बनने की आकांक्षा के कारण अपने आत्मतत्त्व, अपने जीवनगत वस्तु तत्त्व को ही काट देने की प्रवृत्ति कवियों में बढ़ी। इससे नयी कविता की शैलीगत रूढ़ियाँ निर्मित होती गयीं तो वस्तुगत रूढ़ि का कारण बनी। इन्हीं वस्तुगत रूढ़ियों या फिर कहे पर्याप्त नवीन वस्तु तत्त्वों के अभाव में नयी कविता निष्प्राण हो गयी। वस्तु एवं रूप की दृष्टि से विचार करने पर नयी कविता की तमाम वस्तुगत कमियाँ उजागर हो जाती हैं जिन्हें नयी कविता के क्षेत्र में विशेष सौन्दर्यशास्त्र के पीछे छिपाने की कोशिश की गयी। यह विशेष सौंदर्यशास्त्र कवि

को भाषा तथा भाव के कटघरे में कैदकर केवल कुछ ही विषयों पर विशेष पैटर्न एवं आत्मग्रस्तता में बाँधकर काव्य लिखने के लिए बाध्य करता था।

मुक्तिबोध ने अति न व्यापने वाले एवं अन्यो को भी व्यापने से रोकने वाली प्रवृत्ति का नयी कविता में विरोध किया। इसके साथ ही कवि से यह अनुरोध किया कि वह अपनी जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि को त्यागे अपने सेंसर को त्यागे तथा अनवरत रूप से स्वयं के अंदर संशोधन एवं परिवर्तन करता जाये। नयी कविता के संबंध में अपनी तीखी आलोचना को व्यक्त करते हुए मुक्तिबोध ने वास्तव में अपने समय के साथ गहरा एवं तीखा संघर्ष किया था। वे उस व्यक्तिवाद के साथ लगातार जूझते रहे जिसने नयी कविता के माध्यम से जनता के बीच चरम निराशा, कुंठा, घुटन एवं कभी न बदलने वाली पूँजीवादी संस्कृति को स्थापित करने की असफल चेष्टा की।

#### संपर्क:

पूर्ति फ्लावरर्स, फ्लैट नं. ई-2/207, बी.बी.टी. रोड,  
महेश तल्ला, कोलकाता-700141, मो. 900786231

## हिंदी ग़ज़ल : दृष्ट्यंत के छाद

डॉ. ओमप्रकाश एच. शुक्ल

अध्यक्ष हिंदी विभाग,  
गुजरात आर्ट्स एण्ड कॉमर्स कॉलेज  
एलिसब्रिज, अहमदाबाद

हिंदी ग़ज़ल को लेकर विद्वानों की चुप्पी देखकर डर लगता है, भले ही यह ज़लजले की खामोशी साबित न हो परंतु यह Inferiority Complex ग़ज़ल को दोयम दर्जे में बनाये रखने का काम करती है। क्या वजह है साहित्य की मुख्यधारा के तहत कविता, कहानी, उपन्यास के अनुपात में ग़ज़ल की समीक्षा नहीं हो रही है? जबकि ग़ज़ल को पढ़ने-सुनने वाले कम नहीं हैं। खेमेबाजी भी अजीब चीज है— प्रगतिशीलों की लिस्ट में सिरे से खारिज त्रिलोचन ग़ज़ल में अछूत नहीं हैं! इस खेमेबाजी का एक रूप यह भी है— कइयों को हिंदी ग़ज़ल में जगह नहीं दी गई— ‘वो तो उर्दूवाले हैं’। दिलचस्प बात यह है कि हिंदी-उर्दू के जानकार जो कि कई स्तरों पर यह भेद मिटाना चाहते हैं, वे भी इसके शिकार हो गए! संस्कृत भाषा को व्याकरण में बांधने का जो प्रयास हुआ अथवा हिंदी कविता एवं भाषा को लेकर जो द्विवेदीकालीन कवायद हुई उसका हथ्र हम देख चुके हैं। साहित्यिक हिंदी के पक्षधरों ने यह कभी न सोचा होगा कि अपने ही घर में हिंदी की ऐसी दुर्दशा होगी। उन्होंने फिल्मों, व्यवसायों, समाचार माध्यमों, गैरसाहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं और अनुवाद आदि की हिंदी को दोयम दर्जे का ही माना और उसके परिणाम सामने आ रहे हैं। यही बात हिंदी-उर्दू की ग़ज़लों की है। बशीर बद्र, निदा फ़ाजली जैसे कई ग़ज़लकार अब देवनागरी लिपि में नहीं लिखते, या उनके बिंब, प्रतीक, मिथक आदि हिंदी की धरातल पर फिट नहीं बैठते या कुछ व्याकरणिक धरातल भिन्न है तो इससे उनकी ग़ज़लें उर्दू की हैं— और उर्दू की हैं तो हिंदीवालों के लिए अछूत हैं! इतना ही नहीं उर्दू का कोई बड़ा शाइर अपनी पुस्तक को हिंदी में पहली बार छापने को तैयार नहीं! यह कैसी मानसिकता है? कहीं सोची समझी साजिश तो नहीं? भाषायी संकट के इस दौर में इस पर विचार करना निहायत जरूरी है। दो मिसालों पर गौर फरमाइये—

१. आँखों में रहा दिल में उतरकर नहीं देखा/ किशती के मुसाफिर ने समंदर नहीं देखा।

बेवक्त अगर आऊँगा सब चौंक पड़ेंगे/ इक उम्र हुई दिन में कभी घर नहीं देखा।।

२. सर झुकाओगे तो पत्थर देवता हो जाएगा/ इतना मत चाहो उसे बेवफा हो जाएगा।

हम भी दरिया हैं, हमें अपना हुनर मालूम है/ जिस तरफ भी चल पड़ेंगे, रास्ता हो जाएगा।।

क्या ये ग़ज़लें आम आदमी की बोलचाल की हिंदी में नहीं हैं? दूसरी मिसाल शमशेर की ग़ज़ल से लेंगे— ‘इल्म-ओ-हिकमत, दीन-ओ-ईमाँ, मुल्क-ओ-दौलत, हुस्न-ओ-इश्क/ आपको बाज़ार से जो कहिए ला देता हूँ मैं’। यहाँ अरबी-फारसी के शब्दों, अत्फ तथा इज़ाफ़त के बावजूद यह हिंदी की ग़ज़ल है।

भारतेंदु से लेकर निराला एवं शमशेर तक की ग़ज़ल-यात्रा में बड़े बदलाव आये हैं— भाव (विषयवस्तु) और शिल्प दोनों स्तरों पर। लेकिन, ग़ज़ल रचनाएँ बड़े पैमाने पर नहीं हुईं। सामाजिक-राजनीतिक चेतना, तत्कालीन परिस्थितियाँ, ग़ज़ल के परम्परागत ढाँचे का स्वीकार लेकिन प्रतिमानों

एवं सौंदर्यानुभूति से अलगाव और शिल्पगत विशेषताओं के कारण 'साये में धूप' को अद्भुत सफलता हासिल हुई। इसका अंदाज इस बात से भी लगाया जा सकता है कि दुष्यंत के बाद बड़ी मात्रा में ग़ज़लें लिखी गयीं और परवर्ती ग़ज़लगी ने जाने-अनजाने उनके ढाँचे और विषयवस्तु को अपनाया। दुष्यंत ने राजनीतिक-सामाजिक समस्याओं को ग़ज़ल में शामिल किया। समकालीन ग़ज़लों का विषय 'जनाना से या जनाना के बारे में बातचीत' से बहुत आगे निकल चुका है। राजेश रेड्डी के शब्दों में कहें तो- 'छोड़ों महबूब की बातें, शेर कहो कुछ घर-आँगन के'। आज का ग़ज़लगी खेत-खलिहान, किसान-मजदूर, गाँव-शहर, राजनीतिक-सामाजिक स्थितियाँ, दंगे-फसाद, धर्म और आडंबर, आम आदमी की पीड़ा, बाज़ार और वैश्वीकरण आदि से साक्षात्कार करता है, उससे जूझता है।

समकालीन हिंदी ग़ज़लों की सुखद स्थिति यह है कि वह करिश्माई की अपेक्षा वास्तविकता के करीब है, उसके हौसले बुलंद हैं। यह जुनून-यह ताकत आज़ाद आवाम की है। राजेश रेड्डी व्यक्ति और समाज के जिंदा रिश्तों के शाइर हैं। उन्होंने परंपरागत महबूब को छोड़कर- अपने सपनों से एक घर बनाया है, जिसमें सूरज की हरारत भी है, चाँद की रौशनी भी है, मुहब्बत भी है और इनके साथ तहज़ब की वह इंसानियत भी है- जो होशमंद जेहन की ज़रूरत भी है।

हरजीत सिंह बड़ी सादगी और आहिस्ते से अपनी बात रखते हैं। उनका निरीक्षण पैना और गंभीर है। बल्लीसिंह चीमा जैसी हुंकार या सुल्तान अहमद की-सी चुनौती और तेवर इनके यहाँ भले न हों परंतु घरेलू और आत्मीय चित्र विशेष उपस्थिति दर्ज कराते हैं। जिन मुद्दों या समस्याओं की ओर सरकार और समाज का ध्यान बहुत देर से गया, उसकी बात हरजीत बहुत पहले कर चुके हैं-

*“थी जो कल तक धूप जैसी प्यारी-प्यारी लड़कियाँ  
खो गईं किन बादलों में अब वो सारी लड़कियाँ  
इनके भीतर के दुखों को तुम नहीं पढ़ पाओगे  
हँसती-खिलती दिख रही हैं इश्तहारी लड़कियाँ”*

प्रेम की खातिर चाँद-तारे तोड़ लाना या आँसुओं से रेगिस्तान शादाब कर देना हरजीत सिंह की फितरत नहीं

है। प्रेम का अत्यंत घरेलू और आत्मीय चित्रण त्रिलोचन के यहाँ दीखता है, हरजीत सिंह के इस शेर पर गौर फरमाइये-

*“हम तुझे इतना प्यार करते हैं  
हम तेरी फ़िक्र ही नहीं करते”*

महेश अशक की ग़ज़लें सच्चाई बयाँ करती हैं, उनकी ग़ज़लें नक्राबपोश नहीं हैं। समाज और जीवन की वास्तविकताओं से रूबरू होने वाला यह शाइर अपने गिरेबान में झाँकने की हिम्मत रखता है। सुल्तान अहमद के शब्दों में 'महेश अशक सिर्फ समय का ही साक्षात्कार नहीं करते हैं, अपना भी साक्षात्कार बड़ी निर्ममता से करते हैं। रोजी-रोटी की तलाश में गये युवकों से गाँव खाली है, निर्यात का इकतरफा रास्ता आज भी खुला है 'जो भी अच्छा होता है शहर चला जाता है!' इस संदर्भ में महेश अशक के दो शेर देखें-

*“या तो बच्चे ही हैं, या बूढ़े मेरे घर के लोग  
पूरे कुनबे में कोई शख्स जवाँ है ही नहीं  
जाने किस शौ की कमी है कि मेरे होंठों पर  
बात अधिकार की आती है दुहाई की तरह”*

ज्ञान प्रकाश विवेक की ग़ज़लों में बड़बोलापन नहीं है, उनकी ग़ज़लें ज़मीनी हकीकत के करीब हैं। जीवन-अनुभव और सादगी इनके यहाँ उधार की चीज़ नहीं है। उन्हें सांप्रदायिक ताकतों और भयावह स्थिति की चिंता भी है और भविष्य के प्रति आस्था एवं विश्वास भी। 'उनकी ग़ज़लों में इन्कलाबी उफान देखने को नहीं मिलेगा। भयावह स्थितियों का साक्षात्कार मिलेगा। दंभी वीरता की अभिव्यक्ति से बढ़कर है डर का यह सच्चा बयान- 'घर की दीवारों काँपी थी/ कफ़रू में जब दर खटका था।' रोजी-रोटी के लिए भटकना एक बात है जिसके संदर्भ में कभी त्रिलोचन ने लिखा था- 'बिस्तरा है न चरपाई है जिन्दगी हमने खूब पाई है।' लेकिन भारत विभाजन के बाद सिंधी भाइयों और कश्मीरी पंडितों की पीड़ा को विस्थापितों का दर्द कह कर मखौल न उड़ाया जाय। इस संदर्भ में ज्ञान प्रकाश जी का यह विवेक काबिले तारीफ़ है-

*बोरिया ले के दर-बदर अपना  
ढूँते हैं जहाँ में घर अपना।*

समकालीन हिंदी ग़ज़लकारों में सुल्तान अहमद एक

ऐसी शख्सियत हैं जो अपनी बात बड़ी बेबाकी और आत्मविश्वास से कहते हैं। उनके यहाँ आस्था और विश्वास, साहस और चुनौती न कोई जुमलेबाजी है और न ही बाहर की चीज है। सांप्रदायिक दंगों का लहलुहान मंजर और तमाम तबाही दंगे के बाद की दहशतभरी जिंदगी और इसके बावजूद सच सामने न आने पर जीवन की लाचारी एवं बेबसी की पीड़ा जिस तरह सुल्तान अहमद की गज़लों में अभिव्यक्त हुई है, उसे दो-चार मिसालों से समझ पाना पूरी नाइंसाफी होगी। ये गज़लें सही अर्थों में 'Pure Literary' हैं न बाजारू हैं, न फिल्मी। आम आदमी पर लिखी जाने वाली और उनकी पक्षधर गज़लें शायद इसलिए भी आम आदमी तक नहीं पहुँच पातीं।

हिंदी कविता में रहस्यवाद के नाम पर बहुत कुछ लिखा गया, समीक्षकों को जो समझ में नहीं आया उस पर रहस्य का पर्दा डाल दिया— आत्मा से परमात्मा की बातचीत को हर कोई समझे यह जरूरी भी नहीं! हिंदी गज़ल भी इससे बच नहीं पायी। लेकिन कुछ अच्छी बातों पर गौर करना जरूरी है। धर्म और मिथक के साथ रहस्यभाव को प्रस्तुत करना एक बात है लेकिन इसमें ज़माने का दर्द और छटपटाहट को वाचा देना उससे बड़ी बात है। राजेश रेड्डी जब कहते हैं— 'गीता हूँ, कुर्आन हूँ मैं/ मुझको पढ़ इंसान हूँ मैं'। या महेश अशक कहते हैं— 'हमें, इक भूख है, जो काटती है/ कोई मस्जिद शिवाला कुछ नहीं'। या जब सुल्तान अहमद कहते हैं— 'लगी है भीड़ मस्जिद में भरा देखा है बुतखाना/ मगर जाता नहीं फिर भी किसी के दिल का वीराना'। या इसी संदर्भ में ज्ञान प्रकाश विवेक शेर अर्ज करते हैं—

“मंदिर की दीवार तोड़ कर उग आया पीपल का पेड़  
सभी आस्थाहीन पुजारी घबराया पीपल का पेड़।  
मंदिर की मूरत तो चुप थी मगर देख के जुल्मों—सितम  
सह न सका व्यवहार ये जग का, मुरझाया पीपल का पेड़”

तो उनकी वेदना और कशमकश की स्थिति स्पष्ट होती है और यह वास्तविकता पाठकों को छूती-झकझोरती है। ज्ञान प्रकाश विवेक की गज़लों में देवदासी एकाधिक बार आई है और सार्थकता के साथ भी— 'घुँघरुओं में बोलती रहती उदासी है जिन्दगी टूटी, थी—सी देवदासी है।' लेकिन

रहस्यात्मकता का एक अलग अंदाज भी है, उससे क्या हासिल होगा? कोई कह सकता है कि यह तो स्वान्तः सुखाय की चीज है! लेकिन अखरता इसलिए है क्योंकि यह ज्ञान प्रकाश जी कह रहे हैं—

“न मुस्कुराती है खुल के न खुल के रोती है  
वो देवदासी की तरह उदास होती है  
मैं बाल सुखाता हूँ तौलिया लेकर  
वो बार-बार उदासी के हाथ धोती है।”

इसके साथ-साथ ओढ़ी हुई अध्यात्मिकता पर भी नजर करना वाज़िब होगा। संसार से मुक्त या भगवान-भरोसे इस स्थिति को अनदेखा भी नहीं किया जा सकता—

“हैं कब तलक ये जमीं आसमान कितने दिन  
खुदा ही जाने हैं सारा जहान कितने दिन।

खुदा बता तो दुनिया—जहान का परदा  
रहेगा तेरे—मेरे दरमियान कितने दिन?

मर ही जाना है इक रोज तो जीना क्या है

ऐ खुदा! तू ही बता क्या है ये किस्सा क्या है?”

‘मर ही जाना है जब इक रोज तो जीना क्या है’ का उत्तरी सुल्तान अहमद के यहाँ एक कत्आ में मौजूद है

“सिर्फ मरने से मिट न जाऊँगा

मरके होना है क्या, बताऊँगा

मुझको देखो मिला के मिट्टी में

फ़स्ल बनकर मैं लौट आऊँगा।”

इसी तरह जब राजेश रेड्डी धर्म के ठेकेदारों और पाखंडों पर गज़ल लिखते हैं तो बात अलग दीखती है, यह अद्भुत सत्य भले न हो लेकिन बहुत दूर की कौड़ी भी नहीं है—

“मस्जिदों पर जान दी कुर्बा शिवालों पर हुए  
कितने काले तजरुबे उजली किताबों के हुए।”

एक स्थिति यह भी है कि जब समाज-सुधारकों या धर्म-धुरंधरों की तरह प्रवचन दिए जाते हैं, इन उपदेशात्मक-अनुभूतहीन स्टेटमेंट्स का क्या मतलब? वैसे आप कह सकते हैं कि कबीर की डाँट-फटकार का भी क्या मतलब निकला? विषयांतर न हो इसलिए मुद्दे के शेर पर गौर करें—

“अपने धर्मों से कहो और वो सीखें तहजीब  
अब ये जोखिम भी सरेआम उठाओ लोगों  
क्या लेकर आया था इंसान

क्या लेकर इंसान गया है

कुछ लोग यहाँ पर ऐसे जो साजिशें करते रहते हैं

तू उन लोगों की संगत में, खुद को मत कर घायल बाबा।”

सांप्रदायिक दंगों को प्रायः सभी ग़ज़लकारों ने अपनी ग़ज़ल का विषय बनाया है, और यह कोई ग़लत बात भी नहीं क्योंकि इसका शिकार होना कोई अच्छी बात नहीं है, इसके बावजूद उनकी संवेदना दंगा-पीड़ितों के साथ है। प्रशासन और दंगाइयों के प्रति उनका आक्रोश अभिव्यक्त हुआ है। इसलिए जब ज्ञान प्रकाश विवेक कहते हैं कि ‘सुल्तान की खूबी यह है कि वे दंगों को ‘सब्जेक्ट’ के तौर पर इस्तेमाल नहीं करते’, तो यह बड़ी बात है क्योंकि गुजरात के सांप्रदायिक दंगों के वे भुक्तभोगी रहे हैं— ‘नदी की चीख’ में संकलित सिर्फ ‘साबरमती’ को ही पढ़ लिया जाय तो दर्द, बेबशी, छटपटाहट, दहशत और तबाही का पूरा मंजर सामने आ जाता है, लेकिन इसके साथ आशा और विश्वास भी है। चंद अश’आर मौजू हैं—

“चीखी है चोट खाके नदी ऐसे धूप से

क्यों हो न जाय सुनके समुन्दर लहलुहान।

बारूद झर रहा है तिलस्मी परों से वो

इसकी वजह से आज है अंबर लहलुहान।...

दम तोड़ने लगे हैं ये मंजर लहलुहान

जिन्दा हैं फिर भी चंद कबूतर लहलुहान।”

एक बार इलाहाबाद के महाकुंभ में ऐसी भगदड़ मची कि लाशों का सुखवन फैल गया, कई बड़े कवियों ने भी उस घटना पर तत्काल लिखा था लेकिन घटना से रोज रूबरू होने वाले त्रिलोचन ने बहुत दिनों बाद लिखा— कई सॉनेट लिखे। सुल्तान अहमद भी आशु कवि-शायर तो हैं नहीं, परिस्थितियों और घटनाओं के पीछे का सच वो जानते हैं। उनके आक्रोश और चुनौती में हड़बड़ाहट या बौखलाहट नहीं है। ये वे चीजें हैं जो कवि को बड़ा बनाती हैं। इसकी पड़ताल करते हुए शिवकुमार मिश्र कहते हैं— ‘सुल्तान अहमद सीमित सामाजिक या मानवीय सरोकारों के रचनाकार नहीं है। तात्कालिकता के दबावों के बावजूद उनका सर्जक मन, तात्कालिकताओं से ऊपर उठकर ज़िंदगी को उसके बड़े परिप्रेक्ष्य और बड़े दायरे में देखता है। उनका सर्जक मन जानता है कि नंगी आँखों से देखी गई हर

बात सच नहीं होती।

हिंदी ग़ज़ल की कड़ी आलोचना सुल्तान अहमद लगातार करते आये हैं और अब मुकम्मल किताब के रूप में वे सारी बातें ‘ग़ज़ल: हिंदी ग़ज़ल’ में आ गई हैं। उनकी ‘कड़ी आलोचना’ के हिमायती ज्ञान प्रकाश विवेक का भी मानना है कि ‘सुल्तान जिस आलोचना की बात करते हैं, वह हिंदी ग़ज़ल के लिए, इस कठिन समय में बेहद जरूरी है। वरना तो क्या होगा— आलोचनाहीन विधा यानी अराजक होने का संशय। आलोचना बहुत ही जरूरी है और हिंदी कविता की आलोचना बराबर होती रही है, लेकिन शिल्प की ऐसी समझ हर किसी को तो होगी नहीं! बल्लीसिंह चीमा का एक शेर है—

“मुझे वो रोज कहते हैं गुले-गुलज़ार पर लिखना

कहा है कल के दंगे से जले बाज़ार पर लिखना।”

सुल्तान अहमद को इसमें ‘असंगति के कारण अर्थहीनता नजर आती है— ‘गुलो-गुलज़ार पर लिखने लिए कहने वाले दंगे से जले बाज़ार पर लिखने के लिए भला क्यों कहने लगे? उनका कोई भी चरित्र होता है। वास्तव में, इस चरित्र को समझने में भूल हुई है, ‘नदी की चीख’ का रचनाकार इस बात को क्यों भूल जाता है कि जहाँ भी सस्ती और घटिया राजनीति होती है वहाँ कोई मुकम्मल चरित्र नहीं होता या चरित्र मुखौटाधारी होता है। इस संदर्भ में भवानी प्रसाद मिश्र की कविता ‘गीत-फरोश’ का याद आना स्वाभाविक है। इसी तरह ज्ञान प्रकाश विवेक के यहाँ भी अर्थ की असंगति उन्हें खटकती है। शेर इस प्रकार है—

“काश, गिरती हई खपरैल को देखा होता

आपने गिरता हुआ ताश का घर देखा है।”

सुल्तान अहमद लिखते हैं— ‘यहाँ संबोध्य ने किसी गिरती हुई खपरैल को देखा होता, इसकी वज़ाहत नहीं की गयी है। अगर उसकी अपनी खपरैल नहीं गिर रही है, तो खपरैल गिरने को देखने से भी उसे क्या फ़र्क पड़ जाता?’ अब क्या कहा जाय? निश्चय ही, इन ये खपरैल टाटा, बिड़ला, अंबानी, अदानी के नहीं गिर रहे हैं। और कविता या ग़ज़ल में बहुत कुछ अनकहा रहता है, जिनकी वज़ाहत देना जरूरी नहीं होता। ‘घर की दीवारें काँपी थी/ कफ़्रू में जब दर खटका था’ का सत्य अनुभूति-सत्य हो या न हो

काव्य-सत्य अवश्य है और इसे खुद सुल्तान अहमद स्वीकार कर चुके हैं, तो उन्हें यह बात स्वीकार करना चाहिए कि खपरैल गिरने को देखने भर से शाइर को फ़र्क पड़ता है। हरजीत सिंह जब कहते हैं 'ये हरे पेड़ हैं इनको न जलाओं लोगों' तो तमाम दंगा-फसादों में मारे जा रहे नवयुवकों के प्रति गहरी संवेदना और चिंता है। यह जरूरी नहीं कि हर बार हाथ में अंगारे हों तभी हाथ जलने का अहसास हो; शाइर की नजर और संवेदना विशिष्ट होती है। किसी का घर ढहते देखने भर से उसे खुद का घर ढहने जितनी ही पीड़ा होती है-

“हरेक ढहते हुए घर में मैं ही था मौजूद  
ये और बात सलामत मेरा मकान रहा”

महेश अशक का एक शेर इस संदर्भ में मौजूद हैं-

“आदमीयत के लिए हम ही मिटे हर दौर में  
आप जैसे लोग तो बस कह ढाके सो गये।”

यहाँ 'आप' जैसे लोग तो बस कह ढाके सो गये' में 'आप' स्पष्ट नहीं है लेकिन पहले मिस्त्रे से पूर्वापर संबंध के आधार पर लक्षण द्वारा पता चलता है कि यह 'आप' इंसानियत का दुश्मन है। लेकिन 'यही होता तो रहा है' ग़ज़ल के बेमेल क़ाफ़िये बदमज़ा जरूर हैं। ये क़ाफ़िये क्रमशः इस तरह हैं- 'होता', 'बहता', 'तनहा', 'शब्दा', 'साया', 'ऊँचा', 'जिंदा', 'दाना'।

एक ही 'टाइप' के रदीफ़-क़ाफ़िये का प्रयोग एकाधिक ही नहीं, बार-बार होता रहा है। हिंदी ग़ज़लों में हमशक्ल रदीफ़-क़ाफ़ियों की भरमार दिखाई देती है। वास्तव में, नये रदीफ़-क़ाफ़ियों को प्रस्तुत करना कठिन काम है। दुष्यंत और बशीर बद्र के रदीफ़-क़ाफ़ियों का ही नहीं बल्कि ग़ज़ल की ज़मीन और बहों का भी प्रयोग कई ग़ज़लकारों ने किया है। खुद दुष्यंत भी इससे नहीं बच पाये। क्रमशः जॉन एलिया और दुष्यंत को देखें-

“जी ही जी में वो जल रही होगी/ चांदनी में टहल रही होगी।  
चाँदनी छत पे चल रही होगी/ अब अकेले टहल रही होगी।”

प्रेम किरण के ग़ज़ल संग्रह 'आग चखकर लीजिये' की कई ग़ज़लों की स्थिति यही है। नमूने के तौर पर दो मल्ले प्रस्तुत हैं-

“बहते पानी की तरह हो मत कहीं ठहरा करो  
रोज़ अपना बुत बनाओ, रोज़ ही तोड़ा करो।”

बशीर बद्र की ग़ज़ल का मल्ला है-

“यूँ ही बेसबब न फिरा करो, कोई शाम घर भी रहा करो  
वो ग़ज़ल कह सच्ची किताब, उसे चुपके-चुपके पढ़ा करो।”

'शब्द तपते-तपते अब अंगार होते जा रहे हैं' की वजाहत के लिए पूरी ग़ज़ल से गुजरना होगा। लेकिन 'फूल पत्तों की जगह अब बेगुनाहों के कटे सर' में अस्पष्टता जरूर है, फूल पत्तों की सर क्यों कटना चाहिए था? परंपरागत प्रतीकों में फूल-पत्तों से जो अर्थ ध्वनित होता है, वह यहाँ ठीक नहीं बैठता। 'वो सबेरे शाम खुलती खिड़कियाँ बस याद हैं/ किस तरह तुम फेंकती थी चिट्ठियाँ बस याद हैं' हसरत मोहानी की प्रसिद्ध ग़ज़ल 'चुपके चुपके रात दिन आँसू बहाना याद है, से बहुत मेल खाती हैं। पहले मल्ले में 'ठहरा' का क़ाफ़िया 'तोड़ा' के साथ अखरता है। ज्ञान प्रकाश विवेक की ग़ज़ल 'मैं तो बहता हुआ दरिया हूँ गुजर जाऊँगा' को पढ़ते ही अनायास एक और ग़ज़ल याद आती है-

“इतना टूटा हूँ कि छूने से बिखर जाऊँगा  
गर और दुआ दोगे तो मर जाऊँगा  
तुमसे बिछड़ा तो मत पूछ किधर जाऊँगा  
मैं तो दरिया हूँ समंदर में उतर जाऊँगा”

आम आदमी की जरूरतें निहायत मामूली होती हैं अपनी मामूली इच्छाओं को भी वह पूरी नहीं कर पाता। बच्चों की छोटी-छोटी जरूरतों की आपूर्ति न हो पाने का दर्द बच्चों और माता-पिता दोनों को है। राजेश रेड्डी और सुल्तान अहमद की एक-एक मिसालें द्रष्टव्य हैं-

“बिना खिलौनों के बचपन गुजार आए हैं  
हम अपने मन को बहुत पहले मार आए हैं  
क्या करेंगे जो खिलौना आप के बस में नहीं,  
उसकी खातिर आपका बच्चा दुखी हो जाये तो”

हिंदी ग़ज़ल अब 'ग़ज़ल' के परंपरागत अर्थ से बाहर निकल कर समाज के हरेक पहलुओं, विषयों पर लिखी जा रही है।

इसकी सम्प्रेषणीयता, भावबोध और छंद-विधान पर काफी चर्चा हुई है, होती रहेगी।

## ‘सरोज-स्मृति’ जीवन के यथार्थ की शोकांतिका

डॉ. रंजना अरगड़े

निदेशक, भाषा साहित्य भवन

अध्यक्ष, हिंदी विभाग, गुजरात यूनिवर्सिटी

क्या कहूँ आज जो नहीं कही....

कुछ कवि जीवन की समझ बढ़ाते हैं और कुछ जीवन के साथ साथ कविता की समझ भी बढ़ाते हैं। रवीन्द्रनाथ की तरह निराला जीवन के साथ साथ कविता की भी समझ बढ़ाने वाले कवि हैं। इसलिए निराला को पढ़ते-पढ़ाते समय हमेशा ही एक चुनौती का सामना करना पड़ता है। फिर चाहे वह ‘भिक्षुक’ जैसी सरल लगने वाली कविता हो या ‘जुही की कली’ जैसी रोमांटिक किस्म की कविता हो अथवा ‘राम की शक्ति पूजा’ हो अथवा ‘मौन निवेदन’ हो, अथवा... अथवा....अथवा कोई भी हो।

निराला की समग्र कविताओं में ‘सरोज स्मृति’ का एक विशेष स्थान है। उसे जीवन की यथार्थ शोकांतिका भी कहा गया है। सरोज की यह स्मृति भारतीय स्त्री की एक सातत्य पूर्ण करुण-स्मृति है जो निराला के पहले के समय से लेकर आज तक फैली हुई है। जिस तरह यह शोकांतिका अलग-अलग अवसरों पर हमारे सामने खुलती है हमेशा आश्चर्य में डालती है। यह निराला के जीवन की शोकांतिका है अथवा सरोज के जीवन का जो यथार्थ था, उसकी शोकांतिका है? या फिर वह मनोहरा देवी की, माँ के जीवन के लहुलुहान यथार्थ की शोकांतिका है? या फिर यह गुलाम हिंदुस्तान के स्वाभिमानी कवि, जो लगातार आर्थिक संघर्षों से दो-दो हाथ कर रहा हो, उसकी मातृविहीन बालिका के संघर्ष की कथा है। इन सब पर विचार करना आवश्यक है। सन् १९३५ की कोई एक सरोज, एक सामान्य घर की मातृविहीन बाला! गुलाम हिंदुस्तान की उस मातृविहीन के पास तब कोई ऐसा आधार था, उसका क्या यह हक था कि वह अपेक्षा कर सके, कि उसके पिता, पिता होने के साथ-साथ उसकी माँ भी बनें? क्या पिता से ऐसी उम्मीद रखने की कोई गुंजाइश उस समय ने उसे दी थी? क्या उस समय



इस प्रकार की सोच का होना संभव था? नहीं। यह संभव ही नहीं था। यह अपने आप में तत्कालीन सामाजिक जीवन के यथार्थ की कितनी बड़ी शोकान्तिका थी।

‘सरोज-स्मृति’ का प्रथम प्रकाशन १९३८ में हुआ था। यानी इस कविता को रचे ८० वर्ष बीत गए हैं फिर भी उसके आज के पाठकों को वह अच्छी लगती है। विश्वविद्यालय के परिसर के बाहर निकल कर देखें तो पता चलता है कि आज भी इसे पढ़कर लोगों के हृदय आर्द्र हो जाते हैं।

मूल्यों का, भावनाओं का, और न जाने किन-किन का क्षरण हो गया है, ऐसे में ‘सरोज-स्मृति’ के माध्यम से निराला ने पुत्री के रिश्ते की भूमिका का जैसा यथार्थ हमारे सामने उकेरा है और उससे ध्वनित होते आदर्श का हमारे सामने जो संकेत किया है वह महत्त्वपूर्ण है। उसे सुनना और समझना जरूरी है।

‘सरोज स्मृति’ को हम प्रायः निराला के जीवन संघर्ष तथा उसकी आर्थिक स्थिति के संदर्भ में ही देखते आए हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि निराला का जीवन संघर्षमय रहा। और जैसा कि वह अपनी दिवंगत पुत्री से कहते हैं कि— *“जाना तो अर्थागमोपाय, पर सदा रहा संकुचित काय, लख कर अनर्थ आर्थिक पथ पर, हारता रहा मैं स्वार्थ समर”*। (सरोज स्मृति) हम निराला से सहमत नहीं हो जाते अपितु अचानक अपने आप को उनके समर्थ में पाते हैं, कि हाँ, देखो यह हिंदी का वह कवि है जिसने पैसों के लिए कोई समझौता नहीं किया। फिर ‘चाहे रख न सके दधिमुख’ अथवा ‘चीनांशुक’ नहीं पहना सके हों। हमारे लिए अपने समय का एक मॉडल बन जाते हैं, निराला! ‘सरोज स्मृति’ कविता का बहुत सारा हिस्सा प्रकाशकों के साथ निराला के संघर्ष के बयानों से जुड़ा है। सवाल है कि निराला ने क्यों इस कविता का इतना बड़ा हिस्सा उन बातों से भर दिया जिसमें हिंदी के साहित्यिक जगत की क्रूरताओं का पता चलता है। (और यह शोकान्तिका आज भी रूप बदलकर विद्यमान तो है ही।)

निःसंदेह, लिखना, लेखक बनना यह निराला का चुना हुआ व्यवसाय था। हो सकता है व्यवसाय शब्द आपत्तिजनक लगे, तो यह कहा जा सकता है कि यह उनका चुना हुआ

पथ था। उनका अपना चुनाव था। अतः अपने व्यावसायिक क्षेत्र अथवा चुने हुए पथ में आने वाली समस्याओं से तो उनको जूझना ही था। और क्या तब निराला अकेले थे या अब भी हैं जिन्हें इस तरह के संघर्षों का सामना न करना पड़ा हो? यूँ भी, समझौता न करने वालों की कथाएँ किसी भी युग काल में ऐसी ही होती हैं! सवाल यह है कि निराला संघर्षों का सामना कैसे करते हैं। मनोहरा देवी की मृत्यु के उपरांत निराला ने अपने व्यक्तिगत जीवन को तप के रास्ते पर झोंक दिया। सरोज स्मृति में उस प्रसंग को निराला ने लिखा ही है कि किस तरह अबोध सरोज का कुंडली फाड़ना उन्हें संकेत दे जाता है कि जीवन की कौन-सी राह नहीं होगी। शायद इसीलिए वे कल्पना करते हैं कि सरोज इस पथ पर इसीलिए पहले चली गयी कि जब निराला वृद्ध होकर इस पथ पर जाएंगे तो निराला को पथ दिखाने वाली सरोज होगी। यह कल्पना ही है। पर इस कल्पना के पीछे निराला की वैचारिकता तो देखिए कि वे सरोज को, एक बेटी को इस रूप में स्वीकारते हैं कि वह राह दिखा रही है। यह अपने आप में बड़ी बात थी क्यों कि बेटियों का इस तरह स्वीकार आज भी इतना सामान्य और सहज तो नहीं ही है!

जब *‘सासु ने लख एक दिवस यह कहा— भैया अब नहीं हमारा बस/ पालना-पोसना रहा काम/ देना सरोज को धन्य धाम/ है काज तुम्हारा धर्मोत्तर’* (सरोज स्मृति) तब तक सरोज यानी दो वर्ष की उम्र से जब तक विवाह योग्य न हुई तब तक, अपनी नानी के घर पर ही रहती थी। वह नहीं जानती थी कि उसके पिता के क्या संघर्ष हैं अथवा थे। और क्या उस उम्र में इन सबसे कोई मतलब था? तो सवाल यह है क्या निराला यह सब अपनी दिवंगत पुत्री को बता रहे थे? या फिर अपने आप को सफाई दे रहे थे! सरोज की मृत्यु के समाचार सुन कर न निराला ने एक भी आँसू बहाया और न ही कुछ कहा। बस कमरे में चक्कर लगाते रहे। फिर कुर्ता पहना और लकड़ी ली और घर से बाहर चले गए।

अपने शोक को निराला ने काव्य में परिमणित किया। ‘सरोज-स्मृति’ इसीलिए बड़ी रचना है कि निराला ने इसमें अपने को केवल औरों के समक्ष ही नहीं अपितु अपने

आप के सामने भी अनावृत्त कर के रख दिया है और यह बिल्कुल भी सरल नहीं है। वह अगर यह कविता नहीं लिखते तो इतिहास की तरह एक पंक्ति में सारा किस्सा निपट जाता कि “निराला की पुत्री सरोज की मृत्यु अल्पायु में हुई”। रवीन्द्रनाथ की बेटी भी कम उम्र में मृत्यु को प्राप्त हुई थी और शोकाकुल हुए थे, यह हमें पता है। ऐसी कितनी ही पुत्रियाँ नामी अनामी अल्पायु में जीवन-लीला समाप्त कर चुकी होंगी, करती हैं अब भी। उन कारणों का हमें कोई विशेष पता नहीं चल पाता। पर निराला ने इन भीषण शब्दों में विलाप किया है— *‘हो इसी क्रम पर वज्रपात/यदि धर्म रहे नत सदा माथ/ इस पथ पर मेरे कार्य सकल/ हों भ्रष्ट शीत के से शतदल/ कन्ये गत कर्मों का अर्पण/ कर, करता मैं तेरा तर्पण’*। (निराला, सरोज-स्मृति)

किस कर्म पर वज्रपात? निराला के भीतर इतना हाहाकार किस कर्म के प्रति है? पुत्री के प्रति अपने पितृजन्य कर्तव्य न कर पाने के अकर्म-कर्म के प्रति? नहीं, उसी का तो इतना लंबा स्पष्टीकरण वे देते हैं। तो क्या कविता कर्म पर वज्रपात की बात कर रहे हैं? वह भी नहीं है। अगर ऐसा होता तो वे बाद में कोई कविता नहीं लिख पाते। नहीं लिखते। पर जिन दिनों, बल्कि वर्षों तक, जब सरोज को उनकी जरूरत रही होगी— यह हायपोथेटिकल विधान है (हाय पोथेटिकल इसलिए के उस समय की हमारी पारिवारिक संरचनाएँ अलग थीं। पिता के कर्तव्य आज के ‘पेरेंटिंग’ की सोच और समझ के अनुसार नहीं थे।) तब किस पर वज्रपात? उन्होंने जो कुछ रचा या कहे जिस रचनाशीलता ने उन्हें इस कर्तव्य से विमुख किया उस पर वज्रपात की बात है? अगर निराला ‘सरोज-स्मृति’ नहीं लिखते, तो संभवतः वे बाद में इतना उदात्त कुछ भी नहीं लिख पाते। इस कविता को लिख लेने के बाद उनके मन का सारा मलाल, सारा हाहाकार, सारा अपराध-बोध एक हद तक शमन हो गया होगा। पर क्या संपूर्ण रूप से वे इस से मुक्त हो पाए होंगे?

इस पर अभी किसी ने संभवतः लिखा नहीं है, या मेरे पढ़ने में नहीं आया है कि अपने जीवन के अंतकाल में निराला की मानसिक स्थिति की जो कथाएँ मिलती हैं उनमें

सरोज की मृत्यु का आघात, उसकी पीड़ा भी जिम्मेदार रही होगी। एक तरह से देखा जाए तो सरोज की मृत्यु ने वास्तव में उनकी उस पीड़ा को सहसा खोल दिया जो उनके जीवन में गहरे दबी हुई थी। हम यह नहीं भूल सकते कि निराला की माता का अवसान भी अ-काल ही हुआ था, पत्नी का भी और फिर सरोज का! जो अभाव निराला के बालक मन पर माँ की अनुपस्थिति ने सिरजा था वह सरोज तक आते-आते अतल हो गया होगा। ‘हो उसी कर्म पर वज्रपात’ में जो असह्य हाहाकार सुनायी पड़ता है वह, मानों उनके जीवन भर का संचित हाहाकार है। यही तो करुणांतिका है! फिर दुर्योग कैसा है! मनोहरा देवी की मृत्यु १८वें वर्ष में हुई और सरोज की तब, जब उसने ‘उनविंश पर चरण’ अभी धरा ही धरा था।

अपने आरंभिक वर्षों में निराला का जीवन वैसा ही था जैसे उनकी परिस्थिति में किसी युवक का हो सकता है। माँ के न होने के कारण पिता का अतिरिक्त स्नेह उन्हें मिला जिसको वे पिता की मृत्यु के बाद पहचान पाते हैं। पढ़ाई में मन न लगना इत्यादि कोई नई बात नहीं है। ऐसे में निराला तब सँभले जब पहली बार उन्हें मनोहरा देवी के माध्यम से कला और साहित्य का साक्षात्कार हुआ। वही टर्निंग पॉइन्ट था निराला के जीवन में। लेकिन फिर मनोहरा देवी के साथ का साहचर्य भी पूरा हो ही गया। अर्धांगिनी के साहचर्य के विकास की परंपरा में उनसे पहले तुलसीदास थे ही। पर चूँकि दोनों का देशकाल अलग था अतः परिणति भी स्वाभाविक रूप से अलग रही। सवाल यह है कि निराला के जीवन में सरोज ने मानों उसी इतिहास को दोहरा दिया। यह शोकान्तिका केवल सरोज की मृत्यु की नहीं, अपितु मनोहरा देवी के निधन की भी है। इसीलिए ‘सरोज-स्मृति’ में मनोहरा देवी का भी स्मरण बहुत गहराई के साथ मिलता है। और इससे अधिक स्वाभाविक कुछ नहीं हो सकता था। इस संदर्भ में आलोचकों की तथाकथित टिप्पणियाँ बहुत बचकानी और ओछी ही कही जा सकती हैं।

इस बात पर भी सोचना होगा कि अपनी जवान बेटी और नातिन को लगभग एक ही वय-सीमा (१८) में

खोने का क्या शोक उस स्त्री पर रहा होगा जिसने अपने हृदय के टुकड़ों को केवल खो देने के लिए स्नेह से पाला। जीवन की इस करुणांतिका के विषय में क्या कहा जा सकता है। यानी एक स्त्री क्रमशः अपने अंशों को खोती जाती है, अपने सामने मरते देखती है और फिर भी जीती है— यह भी जीवन की करुणांतिका है।

मनोहरा और उसकी बेटी सरोज दोनों ही बीमार होकर मरीं। यानी अर्थाभाव, अ-शिक्षा तथा स्वास्थ्य संबंधी सुविधाओं का अभाव किस तरह शोकान्तिकाओं का निर्माण करती हैं, उसका भी एक उदाहरण ‘सरोज-स्मृति’ हमारे सामने रखती है। यह गुलाम हिंदुस्तान के यथार्थ की करुणांतिका है। इस शोकान्तिका में बढ़ोत्तरी करती है, पुरुष की घर संसार चलाने के प्रति एक गैर-जिम्मेदाराना और उदासीन रवैया। जिसके लिए शायद शत-प्रतिशत वह जिम्मेदार भी नहीं होता, क्योंकि हमारे समाज की संरचना, सामाजिक रीति-रिवाजों की बनी बनायी परंपराएँ ही, जो कई बार बहुत ही सुविधाजनक हो सकती हैं, इस प्रकार की थी। यह रवैया एक हद तक निराला में तथा सरोज के पति शिवशेखर द्विवेदी में भी देखा जा सकता है (शर्मा)

रामविलास शर्मा को लिखे पत्र में वे स्वीकार करते हैं कि उनकी लापरवाहियों के कारण घर की कठिनाईयाँ बढ़ीं जिसे वे हल नहीं कर सके। लेकिन निराला ने सरोज के विवाह के समय परंपराएँ तोड़ीं जिसका हवाला ‘सरोज स्मृति’ तो है ही पर शिवशेखर द्विवेदी का रामविलास शर्मा को लिखा पत्र भी है।

नारीवादी आलोचना इसी मुद्दे को लेकर निराला तथा शिवशेखर द्विवेदी की धज्जियाँ उड़ा सकती है। पर महत्वपूर्ण बात यह है कि निराला ने इस रचना में अपनी ही धज्जियाँ उड़ाई हैं। “‘हो इसी कर्म पर वज्रपात—कोई सहज रूप से नहीं कह सकता।’”

‘सरोज-स्मृति’ में निराला ने सरोज की बीमारी का उल्लेख नहीं किया है। उसके विवाह की बात है, उसके बड़े होने की बात है, उसकी बाल लीलाओं का थोड़ा-बहुत वर्णन है। कह नहीं सकते कि ऐसा क्यों होगा। पर यह संभव है कि निराला ने प्रीतिकर स्मृतियों को ही प्रधानता दी हो ताकि शोक, विलाप और आक्रान्द का स्वरूप न धारण कर ले। बड़े ही क्लासिकी तरीके से अपने दुख को अभिव्यक्ति दी है।

**संपर्क:** भाषा साहित्य भवन,  
गुजरात युनिवर्सिटी, अहमदाबाद, मो. 9426700943

## भक्त्योद्धत से जन-प्राण को भींचता अविराम काव्य-‘यात्री’ का संवेदन-संभाव

मीना कुमारी

हिंदी विभाग, का.हि.वि.वि.

याद आते हैं मिथला के रुचिर भू-भाग/ याद आते धान/ याद आते कमल, कुमुदिनि और  
तालमखान/ याद आते शस्य-श्यामल जनपदों के/ रूप-गुण-अनुसार ही रखे गये वे नाम/  
याद आते वेणुवन वे नीलिमा के निलय, अति अभिराम।<sup>1</sup>

हिंदी, मैथिली, संस्कृत एवं बाङ्ला कविताओं के गुणसूत्रों को जोड़कर जिस भावोद्दीपक व्यक्तित्व का निर्माण होता है, उस अग्निशिखा का नाम नागार्जुन उर्फ यात्री है। नागार्जुन को सामान्यतः राजनीतिक कवि के रूप में देखने की रवायत रही है, किंतु जब हम उनकी मैथिली कविताओं से साक्षात्कार करते हैं, तो एक नए तेवर के कवि-व्यक्तित्व से हमारा परिचय होता है जो नागार्जुन का हमशक्ल तो है, किंतु इस अवतार में वह आंतरिक धरातल पर जीवन-संग्राम की गहन भावधारा का कवि मालूम होता है। मैथिली भाषा की गहन-संवेदना, उसके लोच, मार्दव तथा संरचनात्मक विशिष्टताओं को साधकर कैसे यात्री ने नागार्जुन पर अपनी श्रेष्ठता सिद्ध की, उसकी कथा अकथनीय है। यात्री की वैविध्यमानता उनके अनुभव एवं काव्य-जगत को अत्यन्त व्यापक एवं विराट बनाती है। उनके इस विराट संसार में मनुष्य, पशु, पक्षी, प्रकृति, जीवन के मधुर-कटु एवं कोमल-तीक्ष्ण पक्ष, दैनन्दिन जीवन की गतिविधियाँ, कटघरे में खड़े हिंदू देवी-देवता आदि सभी कुछ समाहित हैं। एक अत्यंत संवेदनशील कवि होने के कारण यात्री पर युगीन यथार्थ, स्थितियों, प्रसंगों का सद्यः प्रभाव पड़ा है और यही कारण है कि उनके संवेदन-संसार में अधिकाधिक वस्तुओं का समायोजन होता है।

हिंदी, लोक-चेतना तथा मानवीय संवेदनाओं के शब्दकार ‘यात्री’ आधुनिक मैथिली-साहित्य के क्षितिज पर ध्रुवतारे के समान देदीप्यमान हैं। मैथिली साहित्य में नागार्जुन ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं। वे मैथिली समाज, संस्कृति एवं साहित्य के इतिहास में संक्रमण-काल के कवि कहे जा सकते हैं। उनसे ही एक नए यात्री युग का आविर्भाव होता है। प्राणवंत मैथिली भाषा में पहली बार सहज भाव से प्रगतिशील विचारधारा के बीज डालने का महत् कार्य ठक्कन मिश्र उर्फ वैद्यनाथ मिश्र उर्फ नागार्जुन उर्फ यात्री के हाथों संपन्न हुआ। नागार्जुन के समक्ष मैथिली और हिंदी को लेकर वहीं द्वंद्व था जो तुलसी के समक्ष व्यापक लोक समाज की जीवंत भाषा अवधी-ब्रज बनाम शिक्षा साध्य-भाषा संस्कृत को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाने को लेकर था। राजनीतिक स्तर पर प्रौढ़ जनकवि नागार्जुन ने जनता में अपनी पैठ बनाने के लिए हिंदी भाषा को तरजीह दी, किंतु मैथिली माँ के गोद में खेलने से भी स्वयं को वंचित नहीं रखा। यह स्वाभाविक भी था। एक सशक्त कवि यदि ऐसे समाज में पैदा हुआ हो जहाँ

बहुभाषिकता प्रचलन में हो तो वह एक साथ कई या सभी को साधने का प्रयत्न करता है और प्रतिभावान कवि प्रायः सफल भी हो जाते हैं, नागार्जुन भी इसी लक्षण के कवि थे। हिंदी में लिखने के कारण उनका मैथिली का काम अवश्य प्रभावित हुआ, लेकिन साहित्य अकादमी का पुरस्कार उन्हें उनकी मातृभाषा की रचनाओं ने ही दिलवाया। विष्णुचंद्र शर्मा इस स्थिति पर नागार्जुन और अपनी बातचीत के हवाले एक बेहद महत्वपूर्ण टिप्पणी करते हैं “नागार्जुन ने उस दिन यात्री को पुरस्कार लेते हुए देखा था और मुझसे कहा था, ‘नागार्जुन हिंदी के सम्मान के दायरे के बाहर हैं।’ मुझे लगा यह आहत वैद्यनाथ मिश्र मेरी हथेलियाँ दबा रहा है और चाहता है कि वैद्यनाथ मिश्र को यात्री से, यानी हिंदी को मैथिली से, काटने का दौर समाप्त हो। एक लंबा समय बह गया है और अभी विद्यापति हिंदी का कवि है और यात्री और राजकमल तक फैला हुआ मैथिली का विस्तृत इतिहास हिंदी के दरवाजे पर दस्तक दे रहा है। नागार्जुन दरवाजे पर खड़े हैं, यात्री दरवाजे के भीतर।”<sup>12</sup>

नागार्जुन और यात्री दो जुड़वाँ और हमशक्ल भाई हैं जो दूर से एक जैसे ही दिखते हैं। उनकी मैथिली की रचनाएँ हिंदी रचनाओं के भावबोध से बहुत भिन्न नहीं हैं। विष्णुचंद्र शर्मा का कथन है— “यात्री, नागार्जुन और वैद्यनाथ मिश्र, तीनों के भीतर एक-सा धड़कता हुआ दिल है, एक-सी खीज है आज की व्यवस्था से, एक-सी मायूसी है और कहीं अंतर्विरोध भी है।”<sup>13</sup>

इन दोनों में अंतर विन्यास एवं विषय के स्तर पर है। मैथिली की रचनाएँ हिंदी की तरह बहुआयामी नहीं हैं। दूसरे, वह मैथिली में तत्कालीन राजनीतिक घटनाक्रमों पर फौरी कविताएँ नहीं रचते। ठौर-ठिकाकर इस दिशा में कदम उठाते हैं। इससे कविता वर्णनात्मक और अखबारी होने से बच गई है। नागार्जुन दोनों भाषा की विशिष्टताओं की नब्ज को पकड़, उसकी क्षमता को परखकर बिल्कुल अलग तरीके से अपनी कविता की भूमिका को निभाना चाहते हैं जिसकी घोषणा वे अपने नाम परिवर्तन से पहले ही कर देते हैं।

यात्री की संवेदना का केन्द्र गाँव, समाज और प्रकृति है। ऐसा पहली बार हुआ कि मैथिली कविता संस्कृत की

काव्यशास्त्रीय परंपरा से छिटककर ठीक वैसे ही अपने लिए अलग मार्ग का अन्वेषण करती नजर आयी जैसे पिता के कड़े अनुशासन से त्रस्त हो घर का सर्वाधिक संवेदनशील बच्चा उनसे विद्रोह कर अपने लिए अलग राहों एवं आयामों की खोज करता है। यात्री मैथिली साहित्य जगत में ऐसे कवि हैं जिनमें सहज बौद्धिक या वैचारिक आग्रहों की अधिकता के साथ-साथ गहरी आत्मीयता एवं हार्दिकता का तरल विस्तार है। वे नूतन भावबोध से संपृक्त जीवन एवं कविता को जिस गहराई से देखते हैं, वह उनकी संवेदना, भावुकता, भावैकता का ही परिचय मात्र नहीं देती, उनकी कविता की ताकत, उनकी पहचान बन जाती है।

नागार्जुन की भाँति ‘यात्री’ की भी गाँव-संबंधी चेतना का एक ठोस और मजबूत वैचारिक आधार है। वे कृषक जीवन की समस्याओं, गाँव में पसरी वैषम्यता, मैथिल समाज की बद्धमूल रूढ़ियों, धारणाओं, जाति एवं वर्ग भेद के कारण तिल-तिल मरती मनुष्यता, धार्मिक कर्मकाण्ड के कारण जीव-जगत की गहरे खाई को पाटने का प्रयत्न करते हैं।

सम्पूर्ण भारतीय जनमानस जब स्वतंत्रता संग्राम में अपनी गहरी हिस्सेदारी निभा रहा था, कई तरह की घटनाओं और आंदोलनों से देश मथित-चकित था, ऐसे हालात में भी मिथिलावासी विविध प्रजाति की मछलियों को चखने और कोहबर में घूँघटकाढ़ी ललनाओं की भाव-भंगिमाओं को आँकने में ही मशगूल थे। इसलिए १९४९ में ‘यात्री’ के प्रथम प्रकाशित संग्रह ‘चित्रा’ को रीतिवादी एवं परंपरावादी आचार्यों ने मैथिली कविता में नवरक्त का संचार करने वाली रचना माना। यद्यपि ‘चित्रा’ ने मिथिला साहित्य समाज में नागार्जुन को रूढ़ि-भंजक क्रांतिकारी कवि के रूप में प्रतिष्ठित किया जो मठों के भीतर घुसकर उसकी चूलें हिला देने का साहस करता है, समाज में व्याप्त जड़ता और व्यभिचार पर करारा प्रहार कर दबंग सामंतवादियों से सीधे-सीधे भिड़ने का खतरा मोल लेता है तथापि उनकी हिंदी कविताओं की तुलना में मैथिली कविताओं में राजनीतिक चेतना की कमी झलकती है।

नागार्जुन कापालिक स्वरो के कवि हैं, उनके अंधविश्वास एवं बाह्यडम्बरों के प्रति नकार के स्वर ने घोंघे की भाँति

अपनी खोल में सिमटी-छिपी मैथिल जाति में नव भावबोध एवं उर्वर विचारशक्ति भर उसमें नए प्राण का संचार कर दिया। लेकिन ध्यान देने योग्य बात यह है कि “नागार्जुन हर चीज की या हर विचार की धज्जियाँ नहीं उड़ाते। उनके पास अनुभव एवं विचार की वह स्वर्णिम भूमि है, जहाँ से वे प्रहार करते हैं तो कुछ-न-कुछ बहुत मूल्यवान दाँव पर लगा होता है, जिसे वह हर कीमत पर बचा लेना चाहते हैं।”<sup>4</sup> मिथिला संस्कृति एवं उसकी जातीय चेतना की स्थिति वंशवाद, जातिवाद, सामाजिक विसंगतियों, आर्थिक जर्जरता और धार्मिक पाखंड, बद्धमूल जड़ता आदि के कारण बिस्तर पर लंबे अरसे से पड़ी खिजलायी बुढ़िया की भाँति हो गई है जो स्वयं तो कुछ कर नहीं पाती लेकिन, स्वस्थ-कामगर सदस्यों के ऊपर झुँझलाती-बड़बड़ाती रहती है। ऐसे में १९४१ में ‘चित्रा’ का प्रकाशन मैथिली साहित्य के लिए अंधेरे में जोत की फाँक की भाँति सामने आया। यह वह प्रस्थान बिंदु था जिसके आधार पर प्रगतिशील मैथिली काव्य की वस्तुगत, भाषागत, शिल्पगत उपलब्धियों का पूरा खाका खींचा जा सकता है। इनमें संकलित बहुसंख्य कविताएँ धार्मिक एवं सामाजिक विडम्बनाओं के घने कोहरे में छिपे मिथिला संस्कृति के सूर्य को आधुनिकता की किरणों से चीरकर साहित्य के नभमंडल पर पुनः देदीप्यमान करती हैं। इस संग्रह के हिस्से में आयी अनुपमेय ख्याति एवं सफलता इस तथ्य की ओर भी संकेत करती है कि ‘चित्रा’ से पहले मैथिली साहित्य की क्या स्थिति-गति रही होगी। यात्री की सृजनात्मकता के फलक के विस्तार का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि जीवन एवं जगत की कोई वस्तु, कोई अनुभूति इनकी नजर से अछूती नहीं रही है। मिथिला की माटी और नारी, निरक्षर किंतु प्रतिभाशाली बच्चे, गाँव के सगे-संबंधी, पसीने का गुण-धर्म आँकता रिक्शेवाले का बनियान, आधुनिकता के रंग में रंगी अत्याधुनिक राधिका, महादेव को कोसता उनका संवेदनशील मन, सुग्गा-मैना इनस्टीच्यूट, उनके ‘मतवाले’ मन से होड़ लगाते बादल, परिजात के नन्हें-नन्हें फूल, वाम की लालिमा के प्रभूत प्रसार, जर्जर सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था, रूढ़ि, पाखंड एवं धर्मान्धता के अम्ल में गलती जनता, दही का शर्वत घोलती जीवन से त्रस्त सुखमा,

लखिमा और भी बहुत कुछ ने उनके संवेदनशील मन के खुले घर में बिना किसी विशेष परिचय या औपचारिकता के प्रवेश पा लिया है। ये सभी यात्री के अनुराग, मनोरथ और विराट संवेदन संसार के साक्षी और सहभोक्ता हैं। बाबा का काव्यजगत विस्तृत इसलिए भी है क्योंकि यात्री ‘कविता गढ़नेवाले कवि नहीं, रचने वाले कवि हैं। कविता उनके भीतर सोते की तरह फूटती है। उनके इस सोते का पानी भी गंगा, यमुना, सरयू, गोमती, कोसी आदि का ही होता है, जो उनकी कविता के समय को वाल्मीकि-कालिदास-भवभूति तक खींच ले जाता है।’<sup>5</sup>

नागार्जुन मैथिल समाज को ठेठ जनवादी रचनाकार की भाँति अलग-अलग कोणों से छूते-परसते हैं। ओढ़े हुए कृत्रिम यथार्थ से परे समाज के दबे-कुचले जन के भीतर की संवेदना और यथार्थ को उन्होंने सदैव ही अपने काव्य-साधना का महत्वपूर्ण अंग माना। उन्होंने जिजीविषा से लबालब जीवन जिया और तमाम उम्र बिना किसी सौदे-समझौते के मानव-कल्याण की शाश्वत साधना की लौ को विरोधी दंभी हवा के बीच, सर्वस्व निछावर कर रोशन रखने का प्रयत्न किया। यही कारण है कि अपरिग्रह, बेबाकी, व्यंग्य, कथन, सोद्देश्यपूर्ण ठहाके उनके जीवन एवं लेखन के प्राण-विषय बन गए।

यात्री का काव्य-जगत सामाजिक चिंताओं, दुश्चारियों और अन्याय के विरुद्ध प्रतिरोध का काव्य है। इससे आगे ठीकर मामा, लखिमा, गाँव की चिट्ठी, उनके जीवन की सब कुछ उनकी पत्नी, गाँव के बच्चे, भोर का सौंदर्य, गाँव-जवार, अड़ोस-पड़ोस उनकी कविता के मिजाज को आत्मीय और गहन मानवीय भी बनाते हैं। उनकी कविताओं में उनका प्रेम-बोध और मानवीय करुणा के भाव देह पर पसीने की तरह छलछला जाते हैं। यात्री की ‘चित्रा’ संग्रह की कविताएँ सामाजिक जीवन के साथ-साथ व्यक्तिगत जीवन-यात्राओं के संघर्ष, स्मृतियों तथा परिस्थितियों से गूँथी पगी हुई हैं। समाज के खुरदुरे यथार्थ और संघर्ष को उकेरने के लिए वे अपने ही व्यक्तिगत जीवन की विविध अनुभूतियों का संचयन कर ऊर्जा प्राप्त करते हैं:

“याद आता है मुझे वह ‘तरउनी’ ग्राम/ याद आतीं लीचियाँ, वे आम/ याद आते मुझे मिथिला के रुचिर भू-

भाग/ याद आते धान/ याद आते कमल, कुमुदिनि और तालमखान...''<sup>6</sup>

सगे-संबंधी और मित्रों के साथ इनके जुड़ाव की कविताएँ केवल व्यक्ति अनुभव का शब्दचित्र ही नहीं उकेरतीं, बल्कि पाठक को अपने संबंध संसार के अनुभूति-चित्र को भी परिभाषित करने की दृष्टि देती हैं। नागार्जुन की मैथिली कविताएँ जीवन के अनेक तरंगायित क्षणों की शाश्वत अनुभूतियों का संचयन हैं। ये कविताएँ हिंदी कविताओं की भाँति मुठ्ठी भींचे हुए अथवा लाठी भाँजती हुई राजनीतिक रणसमर में कूदने को भले ही उतनी तत्पर न दिखायी पड़ें, किंतु इन्होंने जीवन की सार्थकता और इसके अपरिहार्य पहलुओं का मानवीय पक्ष अवश्य उजागर किया है जिसके लिए वे साधुवाद की पात्र हैं। कविताएँ जीवन की हलचलों, पारिवारिक संबंध, खेत की मेड़ मिथिलावासियों की मानसिक विकृति एवं कुंठाओं के साथ राजनीतिक घटनाक्रम के महत्वपूर्ण पहलुओं और समाज की हर छोटी-बड़ी घटनाओं और वस्तुओं को अपने काव्यगृह में बसाती चलती हैं। 'चित्रा' काव्य संग्रह में स्मृतियों और चिट्ठियों ने भी स्थान पाया है। नागार्जुन के बारे में प्रसिद्ध रहा है कि वे बहुत बड़े चिट्ठीलिखाड़ थे, किंतु कविता का विषय पत्नी की गाँव से आई चिट्ठी ही बनी है जिसमें सारा अभाव गिनाकर भी पति से खाली हाथ ही गाँव लौट आने का सविनय आग्रह है:

काटब चर्खा, काटब टकुरी/ हम खेपि लेग अप्पन कहुना/ जँ सैह अहाँकें होए बेश/ हम वृत्त बनल छी अचार भूखैं टटाय/ नहि कहब किच्छु/ हम अलट-बिलट नहि किछु बाजब/ चल आउ गाम/ जँ हाथ होए खाली तइओ/ नहि आबी त हमरे सप्पत.../ आबहु नहि तँ अबस्स हम देब तार...<sup>7</sup>

गृहस्थ-जीवन की अनुभूतिजन्य प्रवणता एवं बहुआयामी भावछवि से सुसज्जित चित्रों की प्रतिछाया उनकी कविता में दर्शनीय है। पत्नी से उनका प्रेम बहुआयामी है। वह उनके ही साहस, शक्ति और संकल्प की साधिका हैं। वही उनकी आद्या हैं, वही जननी, वही सब कुछ और कुछ भी नहीं:

हे हमर आद्या जननी/ हे हमर प्रथमा प्रेयसी/ हे हमर सभ किच्छु/ हे हमर किच्छु नहि/ हे हमर शून्य/ हे हमर पूर्णता/ हे हमर अहाँ/ हे हमर हम/ हमरा आशीष दियऽ/

अनुमति दियऽ हमरा/ बीच-बीच में/ काल प्रवाह में/ अहिना हम भसिआएल घुरी/ लिप्त महालिप्त रहि अहिना/ अहिना निर्लिप्त रही/ हमरा आशीष दियऽ/ हे हमर आद्या/ हे हमर आद्या/ हे हमर आद्या<sup>8</sup>

हिंदी क्षेत्र में जिस मैथिली काव्य संग्रह के कारण नागार्जुन जाने गए और साहित्य अकादमी पुरस्कार से नवाजे गए। वह है १९६७ में प्रकाशित 'पत्रहीन नग्न गाछ' जो 'चित्रा' से तकरीबन १८ साल बाद प्रकाशित हुआ। इस संग्रह में जन-ज्वाला और जन-संघर्षोद्बोधक रचनाओं की तपन और दाहकता क्रमशः तेजी से फैलती चली गई है और आगे चलकर वे सब रूपांतरित हो जनवादी क्रांति की मशाल के रूप में प्रज्ज्वलित हो उठीं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के आधुनिक भारतीय बौद्धिक अन्वेषण एवं उससे जुड़ी विविध वैचारिक प्रवृत्तियों का आकलन 'पत्रहीन नग्न गाछ' संग्रह में संयोजित है। परमानंद श्रीवास्तव का कथन है 'मैथिली कविता का ढंग और है।... नागार्जुन की प्रकृति संवेदना में मौलश्री की छाँह, तरौनी ग्राम, श्यामघन, हरित-श्याम, शाद्वल जंगल, सुवासित जूड़े का सौरभ कंचनजंघा, निर्विशेष गर्दन, आदिवासी युवती की देहगंध, बादामी आँखें अभिन्न हैं। कवि का काव्य-फलक विस्तृत। रीति का अतिक्रमण। यहाँ मेहतारानी का रंग-रूप भी कवि में आत्मीय राग भरता है।'<sup>9</sup> यात्री के काव्य में भी यह सब देखने को मिलता है। लेकिन इसके साथ उनके काव्य का जो प्रधान स्वर है- वह है सामाजिक जड़ता एवं विसंगतियों पर कुठाराघात। नागार्जुन ने रूढ़िवादिता का चाहे वह कविता में हो साहित्य में, राजनीतिक-सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में हो या मार्क्सवाद में, दया-धर्म में हो या संस्कृति में- उन सबका पूरी शक्ति से विरोध किया। कवि का पूरा विश्वास है कि परिश्रम द्वारा मनुष्य हर अज्ञात रहस्य का, हर समस्या का निदान कर सकता है। यह वह शक्ति है जो मनुष्य को याचक की भूमिका से दाता की भूमिका में ला खड़ा करती है। यह हर समस्या का मंथन कर मनुष्य में नव-जीवन, नूतन भावधारा का संचार करती है। परिश्रम में आस्था का बोध उनकी अधिसंख्य कविताओं में मिलता है:

खएता न अयाची आग साग!/ ककरो खसतैक किएक

पाग ?/ केओ आब कथी लै मूर्ख रहत ?/ केओ आब कथी लै कष्ट सहत ?/ केओ किए हतए भूखें तबाह ?/ केओ किअए हतए फिकरें बताह ?/ नहि पड़ल रहत, भेटतैककाज !/ सभ करत मौज, सभ करत राज !<sup>10</sup>

इन सब तनावों, संघर्षों एवं कठिनाईयों के बावजूद नागार्जुन की कविताएँ अदम्य आस्था से दीप्त हैं। वह तनावों में टूटती-बिखरती नहीं, अपितु सुसम्बद्ध चेतना की गहरी पहचान और जुझारूपन को प्रकट करती हैं। 'रवि ठाकुर' कविता में नागार्जुन के मानसिक द्वंद्व को देखा जा सकता है। इस कविता में कवि इस निष्कर्ष तक पहुँचता है कि रवि ठाकुर के साहित्य में जो भव्यता, दिव्यता और महत्ता है, उसका आधार उनका वह सुशिक्षित, अभिजात, धनाढ्य, द्विजकुल है जिसने रवि ठाकुर की प्रार्थना को पल्लवित-पुष्पित होने का अवसर प्रदान किया। वह आधार कवि की प्रतिभा का गला भी घोट सकता था, किंतु कवि ने स्वयं उस बड़े समृद्ध आधार की रचना-विरोधी प्रवृत्तियों का गला घोट दिया। इसी कारण नागार्जुन में महाकवि रवि ठाकुर और युगनिर्माता भारतेन्दु हरिश्चंद्र के लिए सम्भ्रांतपूर्ण आदरभाव पाया जाता है। किंतु, सच यह भी है कि विद्यापति और रवीन्द्र की मोहक पदावली से प्रभावाक्रांत होने के कारण यत्र-तत्र कुछ कविच्छटा की बानगी प्रकट करते हुए भी, कवि के मन में धनाढ्य कुल का ठोस आधार न मिल पाने की पीड़ा प्रकट होती रही।

हीटर की आँच में कहने को कली खिल जाती है, किंतु उसमें परिमल अर्थात् सुगंध नहीं आ पाती। सूर्य अपनी तेज किरणों के बावजूद इसमें सुगंध भरने में समर्थ है। इसके पीछे क्या कारण है? इस उपमा के जरिये वह जीवन में कृत्रिमता के बजाए स्वाभाविकता का महत्त्व प्रतिपादित करते हैं। यात्री इस तथ्य को उभारकर असली और नकली के भेद को खोल देते हैं। सच भले की कड़वा हो, लेकिन वह होता सबके हक में है, झूठ एवं कृत्रिमता का जीवन लघु होता है। सूर्य में जहाँ सूखे वृक्षों को झुलसा देने की आग विद्यमान है, वहीं दूसरी ओर कली की नर्म देह को सहलाकर उसे खिलाने की ऊष्मा भी वह अपने भीतर समेटे हुए है। कृत्रिमता की अँधेरगर्दी में यात्री की यह कविता 'सहज और स्वस्थ' की खोज है। संसार और

आधुनिक जीवन में व्याप्त कृत्रिमता के समक्ष नागार्जुन अन्य आधुनिकतावादी-अस्तित्ववादी कवियों की भाँति घुटने नहीं टेकते, बल्कि युग को चुनौती देते हुए हीटर के बजाए सहज-स्वस्थ ताप बिखरने वाले अंशुमाली सूर्य को सिर नवा कर प्रणाम करते हैं:

हीटरक आँच में कौंदी फुला गेल/ असली परिमल मुदा की भेल/ सूर्यक सहज-स्वस्था तापकें/ फराकहिँस नमस्कार क लेल/ अगुता क माथा झुका देल/ युगक समक्ष!<sup>11</sup>

गंध की महिमा बड़ी है। व्यक्ति जैसे अपने गुणों से ख्याति अर्जित करता है उसी प्रकार पुष्प अपनी सुगंधों के कारण ही महत्ता प्राप्त करता है। देवता को भी गंध ही अर्पित की जाती है। सुगंध से जुड़ी उनकी एक हिंदी कविता भी है- गंध चेतना ठस वाली। इसी चेतना से संपन्न उनकी मैथिली कविता देखते हैं:

प्लास्टिकक लत्ती/ प्लास्टिक फूल/ रंगवेश चटकदार/ गंध मुदा बीभत्स-/ रासायनिक मिक्सचर केर सड़लहा काटि सन !/ कोना क कोनो देवी होइती अनुकूल/ सूँघ-सूँघि क ई फूल !<sup>12</sup>

'प्लास्टिक के फूल' की सुगंध यात्री को 'रासायनिक मिक्सचर की सड़ी हुई काई' के मानिन्द प्रतीत होती है। यात्री की टिप्पणी है कि ऐसी कृत्रिमता से प्रेमिका कैसे प्रभावित हो सकती है? किसी भी संबंध के निर्वहन हेतु उसका प्रकृत एवं सहज रूप में सामने रहना अत्यंत आवश्यक है। औपचारिकताएँ या ओढ़े हुए सौन्दर्य एवं सद्भाव में बहुत जल्दी सड़ाँध आ जाती है। कवि प्लास्टिक के फूल के स्थान पर सजीव फूल को महत्त्व प्रदान कर जीवन के प्राकृत रूप एवं सुगंध की महत्ता पर विशेष बल देता है।

कनैत अछि गुलाब/ कै करतैक दुलार/ कंटकित वृंद के'/ कनैत अछि गुलाब/ अनवरत कै बुझतैक/ अन्तर्बेधी मुकुलित सौरभ/ कनैत अछि गुलाब/ मुदुताकें करतैक अंगीकार/ कत' सँ कोन संकल्प-दीपित वक्ष/ कनैत अछि गुलाब/ सुनतैक के ध्यान सँ/ गमलाक अरण्यरोदन<sup>13</sup>

यात्री ने इस कवितांश में 'कनैत अछि गुलाब' की सोद्देश्यपूर्ण पुनरावृत्ति की है जिससे गुलाब के भीतरी दर्द को उकेरने का वातावरण उपलब्ध हो पाया है। सुंदरता के पीछे छिपा दर्द एवं समाज में सम्पन्न माने जाने वाले के



अंतरतम की पीड़ा आमतौर पर दृष्टिगत नहीं होती, क्योंकि उसका सुंदर बाह्य स्वरूप देखने वाले के मन-प्राण को आविष्ट किए रहता है। उसके दुर्निवार आकर्षण-पाश में बँधा साधारण व्यक्ति उसके दुःखरूपी काँटे को देख ही नहीं पाता है और न ही उसे सहलाने की आवश्यकता समझता है। नागार्जुन ने इस कवितांश में उसके क्रंदन और दूसरों द्वारा उस रुदन की पीड़ा को न समझ पाने की व्यथा को घनीभूत किया है। तात्पर्य यह कि प्रगतिशील चेतना से लबरेज कवि नागार्जुन मैथिली जगत में प्रवेश करने के साथ ही इस भाषा की व्याकरणिक एवं संरचनात्मक नरमाई के पाश में बंध जाते हैं और संपन्नजन पर भी सदय हो जाते हैं। किंतु, ये भाव-मुद्राएँ उनका स्थायी भाव नहीं हैं। उनकी हिंदी कविता जिस भाव-भंगिमा और तेवर के लिए जानी जाती है, कमोवेश वैसा ही तेवर उनकी मैथिली कविताओं में व्याप्त है:

क्षार-अम्ल/ विगलनकारी, दाहक/ रेचक, उर्वरक.../  
रिक्षाबालक पीठ दिशुका फाटल तार-तार बनियाइन/  
पसेनाक अधिकांश गुण धर्मकें/कए रहल अछि प्रमाणित/  
.../ पसेनाक गुणधर्म/ रिक्शाबलाक पीठक चाम/ आओर  
कतेक शुष्क-श्याम हेतइ ?/ स्नायुतंतुक ऊर्जा आओर कते  
बरकतइ ?/ एहि नरवाहनक प्राणशक्ति आओर कते सिद्ध  
हेतइ ?/आओर कते.../ क्षार-अम्ल, दाहक विगलनकारी...<sup>14</sup>

यह कविता 'खुरदुरे पैर' कविता का विस्तार है। कवि की नजर रिक्शावाले के गुठल पैरों से ऊपर उठकर उसकी पीठ की तार-तार हुई बनियान पर पड़ती है। आजादी के बाद देश में किसान-मजदूरों की जो दयनीय आर्थिक दशा है, उसी का संवेदना-रूपांतरण है यह कविता। 'यात्री' क्षार-अम्ल मिश्रित पसीने के गुण-धर्म का किसी रासायनिक प्रयोगशाला में परीक्षण करवाना चाहते हैं जिससे पता चले कि उस रिक्शेवाले का स्नायु-तंत्र और कितना सहने के बाद उबल सकता है? उस नरवाहन का प्राण और कितना पक सकता है? 'बरकना' क्रिया मैथिली में विशिष्ट है। यह उबलने और खौलने के बीच तापमान पर पकने-पकाने की द्योतक है। कवि का क्षुब्ध मन उसकी हालत देख बहुत पसीजता है। नागार्जुन इस बात से ज्यादा व्यथित हैं कि आजादी के इतने सालों बाद भी इस तबके के लोगों

को साबूत बनियान भी हम मयस्सर नहीं करा सके।

आन्हर जिंदगी/ सेहंताक टेडासँथाहए/ बाट-घाट  
आँतर-पाँतरकें/खुट खुट खुट खुट.../.../आन्हर जिंदगी/  
नाइड़ि आशाकेर कान्ह पर हाथ रखि कैँ/ कोम्हर जाइ  
छएँ?/ ओ गबइत छउ बटगवनी/ तों गुम्म किए छएँ?/  
तऽहुँ धऽले कोनो भनिता!<sup>15</sup>

'आन्हर जिनगी' कविता में स्वाधीनता को 'खंड सफलता' के रूप में आँकते हुए लोक एवं राष्ट्र जीवन के अंधेपन को रेखांकित किया गया है। भारत का ग्रामीण खेतिहर-मजूर जन-गण 'सेहंताक टेंगा' (लालसा की लाठी) को टेक-टेककर बाट-बाट परती-पांतर की थाह ले रहा है। संक्रांति काल में सही-गलत का विवेक विनष्ट होता जा रहा है तो युगसंधि के चौराहे पर खड़ी अंधी जिंदगी विवेक का कान लगाए अच्छा-बुरा सब सुन रही है और लंगड़ी आशा का कंधा टेक नामालुम कहाँ चली जा रही है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद की स्थिति कितनी भयावह हो चुकी थी, इसे कवि ने अमूर्त भावों को मूर्तिमान कर चित्रित किया है। इस कविता में प्रयुक्त शब्दों का समूह एक प्रकार के विक्षोभ, बेचैनी और संघर्ष से समाकलित ऊर्जा का संकेत देता है जो आजादी के बाद देश की त्रासद स्थिति को संकेतित करती है। 'चीन', 'तीव्र विषाक्त विलक्षण गंधी', 'क्षुब्ध गंधी', 'कनैत अछि गुलाब', 'दोहाई हे लिबर्टी मैया...', 'तोहर तानी हम्मर भरनी' आदि कविताएँ यात्री के प्रगतिवादी चेतस मन को ही पुष्ट करनेवाली हैं। 'नेहरू', 'हे अभागल देश', 'नेहरूक लन्दन यात्रा', 'काङ्ग्रेसी कनवासर', 'सभसँ प्रिय निज देश!', 'राज्य मंत्री भेला उत्तर' आदि यात्री की राजनीतिक चेतना-सम्पन्न कविताएँ हैं। नागार्जुन की कविताओं में सौंदर्य चित्रण में कवि ने नदी, तालाब, अमराई, खेत-खलिहान आदि के जो दृश्यपट सँजाएँ हैं, वे अपनी मनोरम छवि से पाठक को बार-बार रसभीनी अनुभूतियों में ले जाते हैं। वर्षा ऋतु में उठती मिट्टी की सौंधी महक, कजरारे मेघों की घुमड़न, मोर-पपीहा की गूँजती स्वर लहरियों और रह-रहकर चमकती बिजली की आँख मिचौनी में नागार्जुन खुद को प्रस्तुत करते से दिखाई पड़ते हैं। इन कविताओं में प्रकृति प्रकृत जनसमुदाय के मनोवांछित और चिर प्रतीक्षित स्वप्न-सुखों का मल्हार सुनाने उनके द्वार के

साँकल खटखटाती है। चमत्कार यह है कि उसके गायन की गूँज कविता में स्वयं को मुखर स्वरों में अभिव्यक्त नहीं करती हैं, क्योंकि वह तो कविता की आकांक्षा में निहित है। कवि के प्रकृति चित्र अलग किस्म के सौंदर्यबोध से सम्पृक्त मन और आँख की माँग करते हैं जो समानांतर रूप से पारंपरिक एवं आभिजात्य भावभूमि का अतिक्रमण कर नूतन भावभूमि में सौंदर्य का प्रसार करते हैं। उनके इस नूतन प्रकृतिजन्य काव्य-संसार का परिदृश्य अत्यंत व्यापक और अर्थवान है। वहाँ वनस्पति जगत है, पशु जगत है, मानवीय संदर्भ हैं गाँव के मोहक और चित्ताकर्षक चित्र हैं, नदी का प्रवाह है, पहाड़ों और ऋतुओं का नैसर्गिक सौंदर्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति का प्राणवान सत्ता के रूप में उनकी कविताओं में अपना अस्तित्व ग्रहण करती है। उनकी कविताओं में चित्रित प्रकृति घटनाओं और वस्तुओं के एक ऐसे संबंध का निर्माण करती है जो मनुष्य एवं प्रकृति के आदिम रिश्तों को अपने स्नेह से सिक्त कर उसे नया अर्थ और संदर्भ प्रदान करती है:

“बरिसड़त रहओ अहिना/ भरि दिन, भरि राति/ अन्त-  
श्रावण केर ई मेघ/ भिजबड़त रहओ अहिना/ कमतिया  
ज’न-ज’नीक गत्र-गत्र/ अन्त-श्रावण केर ई मेघ”<sup>16</sup>

इन ऋतुओं के वर्णन में भी पारंपरिक सौंदर्य छवियों को न उकेरकर, ‘यात्री’ उसे संघर्षरत मानव जगत का संदेशवाहक बनाते हैं जो उनके जीवन में गहरे धँसे यथार्थ एवं उसके मर्मांतक स्वरूप को किसी-न-किसी रूप में अवश्य उभारती है। ये ऋतुएँ नूतन अर्थ-गौरव से भरकर बिल्कुल नयी-नवेली दुल्हन की भाँति पाठकों के समक्ष उपस्थित होती हैं।

श्यामघटा, सितु बीजुरि-रेह/अमृत टघार राहु अवलेह/  
फाँक उजोतक तिमिरक धार/ निविड़ विपिन अति पातर  
धार/दारिदर लक्ष्मी जुनु हार/ लोहक चादरि चानिक तार/  
देखत रहि-रहि तड़ित-विलास/जुगल किशोरक उन्मद रास<sup>17</sup>

श्याम घन में रह रहकर चमक उठने वाली बिजली की प्रभा ऐसी अनोखी प्रतीत होती है जैसे तिमिर रूपी थाल में जोत की फाँक हो। ‘उपमा कालिदासस्य’ की कला ने यात्री के भीतर भी गहरा प्रभाव डाला है जिसका सुंदर नमूना इस कविता में दी गई उपमा है। यह विद्युत विलास

ऐसा मालूम हो रहा है जैसे पिघले हुए अमृत को राहू टघारकर अवलेह बना दे रहा हो, निविड़ विपिन में ज्यों पानी की पतली धार हो। दरिद्रता के गले में मानो लक्ष्मी का हार हो। लोहे की चादर पर जैसे चाँदी की तार हो और, ऐसे मोहक दृश्य का बारम्बार दर्शन किशोरयुगल का उन्मद प्रेम कर रहा है। उपमा नागार्जुन ने ऐसी प्रस्तुत की है जिससे दृश्य बिम्ब उभरकर सामने आ गया है। विलोमता (कॉन्ट्रास्ट) का सौंदर्य यहाँ दर्शनीय है।

यात्री ने सामाजिक जीवन के बीच स्त्री-सौंदर्य को उसकी पूरी गरिमा और अस्मिता के साथ प्रतिष्ठित करने का भी महत् कार्य अपनी कविताओं के माध्यम से किया है। निःसंग भाव से केवल नाक और आँख के टुकड़े को देख उसके क्रिया-व्यापार को शब्दांकित करना नागार्जुन के ही वश की बात है। रूप का सम्मोहन कितना मादक, प्रेरक और आह्लादकारी है, इसे कवि की लेखनी विशिष्ट शब्द-चयन द्वारा अभिव्यंजित करती है:

कोना क’ बिसरियउ/ अधक्के देखल ओहि रातुक  
ओहि ठाँक/ मुदा/ कतीकाल धरि रहल नचैत/ कपारक  
भीतरका कटोरी मध्य/ धारण कए क्रमहि टुकुरीक रूप/  
एक फाँक आँख.../एक फाँक नाक...<sup>18</sup>

एक फाँक आँख और एक टुकड़ा नाक के अचानक हुए दर्शन का नागार्जुन के हृदय पर जो प्रभा है, वह ‘स्कूटी चलाती नाभि-दर्शना राधा’ के अनावृत सौंदर्य का नहीं है। मैथिली भाषा अपनी संरचनात्मक एवं सामाजिक विशिष्टताओं के कारण जो भाव इस मूल कवितांश में है, वह हिंदी अनुवाद में नहीं बन पाया है। इसमें कवि-हृदय की अनुगूँज प्रतिध्वनित होती है। ‘कोनाक बिसरियउ’ जैसी पंक्तियाँ उस गहरे प्रभाव का भेद खोलती हैं कि एक फाँक आँख और फाँक नाक को भूलना संभव नहीं है। यहाँ कवि ने अपनी रागात्मता विवशता और असमर्थता को इस पंक्ति में प्राणविष्ट कर दिया है। अधक्के (अचानक और झटके से) देखे गए सौंदर्य की झलक की तड़प ने कवि-मन को विचलित कर दिया है। घर आकर अंग-न्यास करता है, पर कोई फायदा नहीं। कपाल की भीतरी कटोरी में तकली का रूप धारण कर यह एक फाँक आँख और फाँक नाक घूमती रहती है:

रडल-टीपल पेटारक भरे ओडठलि/ दुरागमनिया कनिआ  
सूतलि आछि कि जागलि/ घोघक अ'दतर! /व'र मुदा  
कटइ छइ फोंक/करिआ कंबल पर ठामहि/ .../ मांगुर सन  
एनमेन ओकरा देहक कांति/ लगइए केहेन दिब/ आब किए  
बहरैत आँखि सत सूत/ जुनि अबउ मेल ट्रेन भरि राति!<sup>19</sup>

यात्री नारी सौंदर्य मात्र को ही अपनी कविता का विषय नहीं बनाते, वरन् उसकी वेदना और त्रास को भी अपनी कविता का विषय बनाते हैं। भारतीय समाज में यौनिकता का प्रश्न सदैव से विवादास्पद रहा है और इसी मुद्दे से प्रत्यक्ष साक्षात्कार हेतु वे 'बूढ़वर', 'विलाप' और 'भिक्षुणी' कविताओं को गढ़ते हैं। ये तीनों कविताएँ इनमें उल्लिखित स्त्री-पात्रों की आत्मकथाएँ हैं। 'बूढ़वर' कविता में धन्यधान्य से परिपूरित स्त्री बूढ़े वर से विवाह के कारण यौनाकांक्षा की अतृप्ति की पीड़ा को एकाकी झेलती है, मातृत्व-सुख से वंचित उस स्त्री का हृदय धू-धू कर जलता रहता है। धार्मिक रूढ़ियों के बंधन में तड़फड़ती वह स्त्री आँखों से आँसू बहाने, भाग्य के साथ अपने बाप-काका को कोसने और जीवन को इसी तरह ठेलने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं कर पाती है। स्वयं अपनी गर्भजा के प्रति अन्याय को देखकर उसकी माँ भी मन ही मन कुहर कर रह जाने को विवश हो जाती है:

देख' में सुखैल-पकठैल काठ/ रुपैया बान्हि बूढ़ एला  
सौराठ/ माथ छलन्हि ओन्हल छाँछ जकाँ/ जीभ गाँझक  
गोलही माछ रहथि/ खा रहल छला पान तइपर/ कन्यागत  
दइ छलथीन्ह जान तइपर/ देखिकै बूढ़ वरक चटक-मटक/  
घुमैत-घुमैत पहुँचला घटक अहिबात/ ठाड़ होथि त लागथि  
धनुष जकाँ/ कथि लै बुझि पड़ता टिटहिक चोंच रहन्हि/  
चिक्कन माथ लगन्हि काछुक पीठ जकाँ/ देखिकै माइकें  
लगइन केहेन दन<sup>20</sup>

उत्तर भारत के सामान्य वर्ग और मुख्यतः मिथिलांचल के नारी की करुण गाथा, वेदना-गांभीर्य और उसके जीवन का अक्षितिज विस्तार-स्मृति, स्वप्न, आशा, कल्पना- सब कुछ इसमें समाहित है। बाल्यावास्था में विधवा हो जाने के कारण अपने आँसुओं से मिथिला को डुबोने की चाह रखने वाली कमल की कली स्वरूपा लड़की, ट्रेन की प्रतीक्षा करती रंगी-टोपी दुरागमनिया कनिया, अधक्के देखी गई

'एक फाँक आँख एक फाँक नाक', जीवन से त्रस्त गृहस्थी की गाड़ी खींचती सुखमा, बहुपत्नी प्रथा के कारण रोष से भरी असहाय रानी लखिमा, बाँस के जड़ का जलावन जलाने को मजबूर गृहस्थिन, स्कूटी चलाती नाभि दर्शना राधा, और भी बहुत कुछ उनके संवेदनशील मनके खुले घर में बिना किसी विशेष औपचारिकता के प्रवेश पा लेता है। ये सभी यात्री के अनुराग, मनोरथ और विराट संवेदन-संसार की अकुंठ साक्षी और सहभोक्ता हैं।

लोक एवं शास्त्र की उनकी समझदारी जिस सहजता से उनकी कविताओं को सामाजिक एवं राजनीतिक दस्तावेज बनाती है, वह अभूतपूर्व है। उनकी काव्यानुभूति उनके विकसित जीवनबोध और सौंदर्यबोध का संचित परिणाम है। इन्द्रियबोधजन्य कविताएँ उनके काव्य जगत के आयत्तीकरण का सबसे बड़ा आधार हैं। 'अनभै साँचा' उनके लिए सबसे बड़ा काव्यासाधन है और उनकी मौलिकता का स्रोत भी। इसलिए दृश्य-बिंब उनके यहाँ पहले बनता है, इसके बाद स्पर्श, घ्राण, श्रौत इत्यादि आते हैं। 'भोरे-भोरे', ' ? ? ? ? ' 'पाकल अछि ई कटहर' जैसी कविताएँ इसकी प्रमाण हैं। स्वादबोध इनकी कविताओं में प्रबल है। भुट्टे का स्वाद, चने चबाने की प्रक्रिया का आनंद पके कटहल के महकने की खुशबू, मांगुर मछली, साग, आचार से लेकर तरह-तरह के पकवानों और व्यंजनों के नाम और स्वाद उनकी जीभ और नथुने को फड़का देते हैं। यात्री मैथिल समाज के जीवन-मूल्यों, रीति-रिवाजों, विचारों, कल्पनाओं, निष्ठाओं, रहन-सहन, आस-पड़ोस, खेत-खलिहान, पहनावे, निराले चरित्रों, प्राकृतिक सौंदर्य आदि का अंतर्मन से गहन निरीक्षण करते हैं और फिर से उसे अपनी कविता की लय में रूपायित कर देते हैं। जिस तल्लीनता से लोक जीवन उनकी कविता में शब्दबद्ध होता है, वह चिरस्मृति का कारक बन जाता है।

कवि के हृदय एवं उसकी विचार-दृष्टि को समझने के लिए आवश्यक है कि कविता के एक-एक शब्द को बार-बार मंत्र की तरह घुलाकर हृदय में पैठने दिया जाए। यायावर 'यात्री' के जीवन का जो विस्तार है, उसके कारण उनकी कविता जीवन-संकुल, गहन और भरी-पूरी है। उनकी चेतना का स्वरूप भी अत्यन्त व्यापक और संश्लिष्ट

है। जन-जीवन के साथ सहयात्रा सतत् उनके भीतर घटती रहती है। इसके परिणामस्वरूप ही वे अनुभूतियों, स्मृतियों, संवेदनाओं के साथ अपने यायावर जीवन के विविध और बहुवर्णी रंगों के कोलॉज से अपनी कविता का कैनवास विस्तृत करते आए हैं। नागार्जुन के यहाँ क्षणांश की अनुभूति भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। 'भोरे-भोरे', 'सिंदूर तिलकित भाल', 'एक फाँकि आँख एक फाँकि नाक', 'रात भर आबय मेल' जैसी कविताओं में वे औचक देखे सौन्दर्य एवं अनुभूति के क्षणांश को शब्दबद्ध करते हैं। इन वर्णनों में सीधे-सरल शब्दों में उपजा श्रृंगार भाव है, तो आम जीवन में सहज सुलभ दृश्यों की सहजता भी। सौंदर्य, प्रेम और प्रकृतिपरक कविताओं में वे किसी एक दृश्य को केन्द्र में नहीं रखते, अपितु उससे संबंधित पूरे परिवेश एवं वातरवरण को उकेरने वाले बिंबों का निर्माण भी करते हैं। घटनाओं का पूरा वृत्तांत यहाँ उपलब्ध होता है। अनुभूत सौंदर्य एवं प्रत्यक्ष-दर्शन के क्षण का अपूर्वपन वहाँ विद्यमान है एवं इस सहजता और अनगढ़ता में ही होती है- अपरिमेय एवं अतुलनीय सौंदर्य की स्थापना। बाबा जीवन के हर दृश्य पर अपनी अनुभूति एवं संवेदना का भाव-उजास प्रसारित करते हैं और काव्य-संवेदना का विस्तार करते हैं। उनकी कविता राजनीति के छल-छद्म पर व्यंग्य की, अनपढ़ लोगों की जमात की, दिहाड़ी मजदूरों की, झोपड़पट्टों और खेत में जीनेवालों के उबड़ खाबड़ देह के एक-एक जख्म गिनने और उसे सहलाने वाली एकमात्र दाई माँ है। अपने देश-कोस की स्मृतियाँ से अपने 'यात्री' स्वरूप को गढ़ने वाले नागार्जुन की कविता यहाँ भी साम्राज्यवादी शोषण के विरोध में अपना स्वर तेज करती है और, साथ ही जन-मन के कलपते हृदय का यथार्थवादी बिम्बांकन करती है।

निष्कर्षतः 'यात्री' की कविताएँ अपने अंचल के समग्र परिदृश्य की जीवंत एवं प्रामाणिक दस्तावेज हैं। वे जीवन की सहज स्वाभाविकता और उससे जुड़ी सामूहिकता से प्रत्यक्ष रूप से अंतर्बद्ध हैं। अधनियमबद्धता, धार्मिक पाखंड

एवं अर्थशून्य सामाजिकता के नाम पर फैली हुई अराजकता के विरुद्ध वे एक ऐसी पहल हैं जो जीवन के नए अँखुओं और उनकी भवितव्यताओं का सम्मान करना सिखाती हैं। उनका 'यात्रीपन' भारतीय मानस को समग्र और सच्चे रूप में समझने का साधन रहा है। मैथिली, हिंदी और संस्कृत के अलावा पालि, प्राकृत, बाङ्ला। सिंहली, तिब्बती आदि अनेकानेक भाषाओं का ज्ञान भी उनके लिए इसी उद्देश्य की पूर्ति में सहायक रहा है। अपने गतिशील, सक्रिय और प्रतिबद्ध सुदीर्घ जीवन को उन्होंने अपने काव्य में जीवंत रूप में प्रक्षेपित करने का जैसा स्तुत्य प्रयत्न किया है, वह उनके रचनाकार-व्यक्तित्व को वास्तविक अर्थों में भारतीय मिट्टी की सौंधी गंध से आपूरित कर देता है।

#### संदर्भ :

१. नागार्जुन रचनावली भाग-१, (संपादक : शोभाकांत), पृ. ४२
२. शर्मा, विष्णुचंद्र : नागार्जुन एक लम्बी जिरह, पृ. ७३
३. शर्मा, विष्णुचंद्र : नागार्जुन एक लम्बी जिरह, पृ. ७०
४. सिंह, केदारनाथ: मेरे समय के शब्द, पृ. ६६
५. सिंह, जीवन: नागार्जुन और उनकी युगधारा शीर्षक लेख, अलाव (संपा. : रामकुमार कृष्ण), जनवरी-फरवरी, २०११, पृ. ६६
६. नागार्जुन रचनावली भाग-१, (संपादक : शोभाकांत), पृ. ४२
७. उपरोक्त, पृ. ७९, ८. उपरोक्त, पृ. ३३९-३४०
९. श्रीवास्तव, परमानंद: 'नागार्जुन: आज' शीर्षक लेख, आलोचना (संपा. : अरुण कमल), अक्टू.-दिसम्बर, २०११, पृ. ७५
१०. नागार्जुन रचनावली भाग-३, (संपादक : शोभाकांत), पृ. ४०
११. उपरोक्त, पृ. १६८, १२. उपरोक्त, पृ. १७२
१३. उपरोक्त, १४. उपरोक्त, पृ. १७२,
१५. उपरोक्त, पृ. १४२, १६. उपरोक्त, पृ. २०६
१७. उपरोक्त, पृ. २१६, १८. उपरोक्त, पृ. १७४
१९. उपरोक्त, पृ. १७४, २०. उपरोक्त, पृ. २१६

संपर्क : लेन नं. १, वैष्णवी विहार कॉलोनी,  
सुसुवाही, वाराणसी-२२१००१, मो. ०७३७६८२९३९८

## मैंने उसको जल-जल देखा लोहा देखा : केदारनाथ अग्रवाल

भैरव सिंह

शोधार्थी, हिंदी विभाग

विश्व भारती, शांति निकेतन

‘केदारनाथ अग्रवाल जनकविता के शिल्पकार हैं। उनकी संवेदना और दृष्टि जीवन के शिल्पकारों को जानती और पहचानती है। वे उन्हीं के बीच बसते व रचते हैं। हमारे समाज में जो मजदूर है, किसान है यानि कि जो कर्म करने वाला है, वही भारतीय जनजीवन का शताब्दियों से शिल्पकार है। विडंबना यह है कि यही शिल्पकार भारत का सबसे दलित-प्रताड़ित और वंचित जन है। केदार का उससे अटूट भाईचारा है।’<sup>1</sup> उपर्युक्त पंक्तियाँ कवि आलोचक अशोक कुशवाहा की हैं, जो हिंदी के प्रगतिशील कवि केदारनाथ अग्रवाल के कवि व्यक्तित्व का सही मूल्यांकन पेश करती हैं। केदार जी आशावान कवि हैं। आस्था जीवन के प्रति, सामान्य जन के प्रति और उनके प्रति जिनके कारण जीवन महान है। केदार की कविता उन्हीं के श्रम, सम्मान और जीवन की कविता है। वह अपनी कविता के लिए खुराक यहीं से संचित करते हैं। केदार की कविता सामान्य जन के सबल पक्ष को प्रस्तुत करती है। उनकी कविता में सर्वहारा कभी दयनीय या असहाय होकर नहीं आता। वे उसके स्वाभिमान, अपराजेय पौरुष और संघर्षशील चरित्र का पक्ष हमारे सम्मुख रखते हैं, ‘न कच्ची है/ न कोई खोखलापन है/ समूची ठोस है, ठस है/ बड़ी पक्की, बड़ी मजबूत हस्ती है/ ... इसी का दम है, बूता है/ कि छोटे से बड़ा निर्माण करती है/ न आँधी से, न पानी से, न तूफानों से डरती है/ बला से, मौत से, आफत से लड़ती है।’<sup>2</sup> केदार की विशिष्टता इस बात में है कि वह समाज के आखिरी छोर पर खड़े उस व्यक्ति की असीम शक्ति को पहचानते हैं, जिसे हम ‘सर्वहारा’ कहते हैं। आँधी तूफानों से न डरते हुए मौत से लड़ने वाला ही इस जन कवि की कविता का नायक है।

केदार इस बात को भली-भाँति समझते हैं कि काले कर्मठ हाड़ के यह ‘महाशक्ति के विप्लवधारी’ ही पूँजीवादी व साम्राज्यवादी ताकतों द्वारा खड़ी की जा रही विकास अवरोधी दीवार को ढाहने में सक्षम हैं। इनके अंदर छिपी शत सहस्र जागृत ज्वालाओं से ही धरती की ‘कंचन काया’ को चमकाया जा सकता है। इनका ‘श्रमजल’ ही ‘ऊसर’ को ‘ऊर्वर’ बनाता है। धरती पर यह ‘मंगल जीवन के दाता’ हैं। मिट्टी के इस कच्चे पुतले में छिपी विद्युत की अगणित धाराओं में ही ‘मृदु अवचेतन मानवता’ को जागृत करने की शक्ति समाहित है।

हम जिस दौर में जी रहे हैं, वह पूँजीवादी दौर है। पूँजीवादी समाज में ‘लोकतंत्र’ पूँजीपतियों के लिए होता है, आमजन के लिए नहीं। ऐसे तंत्र में आम आदमी की स्थिति शतरंज के उस

मोहरे की तरह होती है; जिसमें खिलाड़ी जब चाहे, जहाँ चाहे और जिस रूप में चाहे उसका इस्तेमाल कर सकता है। उसकी अपनी कोई स्वायत्तता नहीं होती। केदार इस स्थिति में अपेक्षित बदलाव चाहते हैं, इसलिए व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह के मूड में दिखते हैं। खगेन्द्र जी के अनुसार इस व्यवस्था में परिवर्तन का अर्थ है, सामाजिक राजनीतिक शक्ति-संतुलन का इस प्रकार परिवर्तित होना कि वह किसान-मजदूरों और अन्य श्रमजीवियों के पक्ष में आ जाए, जिसके लिए संघर्ष आवश्यक है। संघर्ष के लिए जो तेवर, जो आग भाषा में होनी चाहिए वह उनके यहाँ मौजूद है, 'मार हथौड़ा/ कर कर चोट/ लाल हुए काले लोहे को/ जैसा चाहे वैसा मोड़।' यहाँ पहली और आखिरी पंक्ति ध्यान देने योग्य है। आमतौर पर लोहार द्वारा हथौड़े को मारा नहीं जाता; उसे चलाया जाता है लेकिन कवि यहाँ ललकारता है, 'मार हथौड़ा'। यहाँ हथौड़ा मारना लोहे को पीटना भर नहीं है बल्कि जीवन को अपनी इच्छा के अनुसार जीने (मोड़ने) का आह्वान है। आगे की पंक्तियों में कहा गया है, 'थोड़े नहीं- अनेकों गढ़ ले/ फौलादी नरसिंह करोड़।' अर्थात् एक ऐसा संगठन, ऐसा जनसमूह तैयार करना जो साम्राज्यवादी ताकतों द्वारा तैयार की गई बंधन की कारा को तोड़ने में सक्षम हो। कवि द्वारा प्रयुक्त 'हथौड़ा' शब्द के संदर्भ में डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने कहा कि प्रगतिशील कवियों में केदार ने हथौड़े और हंसिया (जिसका उद्देश्य 'निर्माण करना' है) को कवि-कर्म में जितना 'सौन्दर्य-विधायक' बनाया है उतना किसी और कवि ने नहीं। हथौड़ा केदार का प्रिय विषय है। वे हथौड़े से उसी प्रकार कविता बनाते हैं, जैसे लोहार 'हल का फाल'। यहाँ हंसिया-हथौड़ा किसी पार्टी का प्रतीक चिह्न नहीं बल्कि सौंदर्य और सर्जना के उपादान हैं। इस प्रसंग में हम याद कर सकते हैं; उनकी एक और कविता, जिसका शीर्षक है, 'घर में एक हथौड़ावाला और हुआ'। यह कविता हथौड़ा चलानेवाले मजदूर के घर में पुत्र जन्मोत्सव पर केन्द्रित है। कवि-दृष्टि में यह हथौड़ावाला कितना शक्तिशाली है, जीवन में क्या-क्या कर सकता है; यह देखते ही बनता है। हथौड़ावाला 'हाथी-सा बलवान', 'सूरज-सा इंसान तरेरी आँखों वाला', 'अंधेरा हरनेवाला', 'जहाजी हाथों वाला',

'सवेरा लाने वाला', 'सलामत लाने वाला' और जन विरोधी सरकार के लिए 'क्यामत लाने वाला' है। अतः हथौड़ेवाला उस श्रमजीवी-वर्ग का प्रतीक बनकर उभरता है; जो पूँजीवाद की कब्र खोदने में समर्थ है। डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार यह श्रमजीवी उस मनुष्य का प्रतीक है, जो 'सोते से जागे' हैं। जिनके जागने के साथ ही 'रात ढली और उजाला दौड़ा'। कवि श्रमजीवी के इसी श्रम और पसीने पर अपनी आस्था व विश्वास प्रकट करते हुए उनका आह्वान करता है। 'पत्थर के सिर पर दे मारो अपना लोहा/ वह पत्थर जो राह रोककर पड़ा हुआ है/ जो न टूटने के घमंड में अड़ा हुआ है/ .... जो कि प्रार्थना और प्रेम से/ एक इंच भी नहीं डिंगा है/ .... जो केवल जीवन विरोध है/ मार्ग रोक है/ उस पर अपना लोहा मारो/ बारम्बार तड़ातड़ा मारो/ जिससे वह जल्दी टूटे।' <sup>3</sup>

कर्ममय जग में कर्म की प्रमुखता है। समाज के विकास का मूल आधार 'श्रम' अब भी समाज के उस निम्न-वर्ग के हाथ ही है, जो कर्म, कला और कौशल का स्वामी है। इस दृष्टि से केदार की कविता 'छोटे हाथ सबेरा होते' अत्यंत ही सुंदर और महत्त्वपूर्ण कविता है। इस कविता में कवि द्वारा 'छोटे हाथों' से बड़े-बड़े काम कराए गए हैं, 'छोटे हाथ/ सबेरा होते/ लाल कलम से खिल उठते हैं/ करनी करने को उत्सुक/ ...जड़ से चेतन/ ...मिट्टी से सोना/ ...आने वाले वैभव के दिन/ उंगली से टोया करते हैं।' <sup>4</sup> जनकवि के यहाँ हाथ केवल शरीर का अंग-मात्र नहीं बल्कि पूरी पृथ्वी का सौंदर्य इस हाथ से जुड़ा हुआ है। यह हाथ पुरुषार्थी पुरुष का प्रतीक है, जो जीवन को अपने अनुरूप गढ़ सकता है, अधिकारों का निर्णय कर सकता है। खगेन्द्र जी के अनुसार छोटे हाथ में 'व्यंग्यार्थ' है, ये हाथ उन लोगों के हैं, जो पूँजीवादी समाज में बड़े नहीं माने जाते और उनकी सृजनशीलता का 'व्यापारिक माल' से अधिक कुछ मान नहीं होता। परंतु समाज के विकास और संस्कृति के निर्माण में इन्हीं 'छोटे हाथों' की बुनियादी भूमिका होती है। इन्हीं हाथों के द्वारा 'नए बीज' बोये जाते हैं।

केदार उनके कवि हैं, जो 'शिलाएँ तोड़ते' हैं। उनके यहाँ कोमल और कठोर दोनों हाथ कार्यरत हैं। अपनी कई

कविताओं में वह फौलादी पंजे करोड़ों की संख्या में हैं, जो 'आर्थिक शोषण के गुंडों' से लड़ते हैं। जो थैली शाहों के 'जहरीले घातक दंतों' को तोड़ने में समर्थ हैं। ये हाथ 'जिंदगी को गढ़ने वाले' हैं। हिंदी में 'हाथ' और 'भुजाएँ' केदार के यहाँ सर्वाधिक सक्रिय हैं। भुजाओं और लेखनी की ताकत उनके यहाँ एक है, 'शक्ति मेरी बाहु में है/ शक्ति मेरी लेखनी में/ बाहु से निज लेखनी से/ तोड़ दूँगा मैं शिलाएँ! / जागरण है प्राण मेरा, / क्रांति मेरी जीवनी है/ जागरण से, क्रांति से मैं/ घनघना दूँगा दिशाएँ।' <sup>15</sup> डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार श्रमिक का कर्म महत्त्वपूर्ण है, कवि-कर्म भी महत्त्वपूर्ण है। कवि ने इन हाथों को 'कर्म के करतार' और 'रुचिर रचनाकार' कहा है। मानक शरीर का यह महत्त्वपूर्ण अंग जिस आदर और सम्मान के साथ यहाँ मौजूद है: शायद ही हिंदी के किसी अन्य कवि के यहां हो।

केदार का काव्य श्रम-सौंदर्य से अविच्छिन्न है। किसान और मजदूर यहाँ कर्मठ हैं। उन्होंने अपनी कविताओं में मजदूरों के साथ किसानों को भी अधिकांशतः काम करते हुए दिखाया है, 'पैनी कुसी खेत के भीतर/ ...जोत डालता है मिट्टी को/ ....और बीज बो देता है/ ...जो मिट्टी के संग साथ ही, / तपकर/ गलकर/ जीकर/ मरकर/ खपा रहा है जीवन अपना।' <sup>16</sup> डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार दूर खड़े होकर किसान को देखने वाले कवि और होंगे; केदार बहुत नजदीक से उसकी श्रम-प्रक्रिया को देखते एवं उसका वर्णन करते हैं। केदार किसान को 'मिट्टी का पूर्ण पारखी' कहते हैं, जो मिट्टी के अंतःस्थल में अपने तन की खाद मिलाकर मिट्टी को जीवित रखता है। वह उसकी महिमा का संवाहक है। किसान उनके यहाँ 'चट्टानी छातीवाला' और 'प्यारी धरती का शक्तिशाली पुत्र' है।

श्रम के प्रति अपनी इसी निष्ठा के कारण कवि को अवकाश भोगी वर्ग का निकम्मापन असह्य है। मनुष्य की जड़ता, उसकी अकर्मण्यता उसको बर्दाश्त नहीं। वह 'डाँगर' को इस वर्ग का प्रतीक बताकर कहते हैं। 'ये कामचोर/ आरामतलब/ मोटे तोंदियल भारी भरकम/ हट्टे-कट्टे सब डाँगर ऊँचा करते हैं/ ...ये नीच प्रकृति, / ये भ्रष्ट-बुद्धि/ आजाद विचरने के दुश्मन/ ...आगे बढ़ने से डरते रहते हैं/ हम आजादी को मरते हैं।' <sup>17</sup> जो हाथ कर्म नहीं करते,

अपनी जड़ता से संघर्ष नहीं करते, प्रकृति को रूपांतरित कर मानवीय नहीं बनाते, उनसे उनका कोई लगाव नहीं। ऐसे हाथों को वे 'दोषी हाथ' संज्ञा देते हैं, 'हाथ तो/ चट्टान को/ तोड़े नहीं/ वह टूट जाए/ लौह को/ मोड़े नहीं/ सौ तार को/ जोड़े नहीं/ वह टूट जाए।' <sup>18</sup> केदार के यहाँ कर्ममय हाथ ही नहीं, प्रकृति स्वयं अपनी जड़ता (जो अस्तित्वगत है) से लड़ती है, 'तेजधार का कर्मठ पानी/ ....तोड़ रहा है तट चट्टानी।' इस संदर्भ में डॉ. अजय तिवारी ने बड़ी सार्थक टिप्पणी की है, 'श्रम को मूल्य मानने वाला कवि जीवन को गतिशील प्रक्रिया के रूप में ही ग्रहण करता है। केदार के लिए श्रम से सुंदर कोई वस्तु है ही नहीं। ....सौंदर्य हो या जड़ता, उसके प्रति मनुष्य और प्रकृति में एक बोध का जितना आग्रह केदार में है, उतना उनके समकालीन और परवर्ती किसी कवि में नहीं है। जहाँ जड़ता है, अंधता है, वहाँ प्रकृति और मनुष्य दोनों क्षुब्ध होते हैं, प्रतिकार करते हैं; जहाँ सौंदर्य है, आनंद है, वहाँ दोनों तन्मय और विभोर होते हैं।' <sup>19</sup>

कानपुर के जनजीवन से केदार का गहरा जुड़ाव रहा है। कानपुर के मजदूरों के जीवन का वास्तविक चित्रण पेश करते हुए केदार ने लिखा, 'हम सब मजदूर, / बड़ी कड़ी मेहनत में पिसते हैं! / ...चूर हो हड्डी से, पसली से, मुरदा हो/ ...कुत्तों से बदतर हम, घिसते हैं, रोटी के दीवाने; / ....पीते पनेथी है; / ...मांजते हैं बरतन; / नंगी धरती पर सोते हैं, / कांखते-हाँफते, / रोज की बदबू में सड़ते हैं दुनिया की।' <sup>20</sup> कानपुर का सारा सौंदर्य। सारी सत्ता जिन मजदूरों के श्रम पर आश्रित है, उनका यह हाल है। यही है वर्ग-विभाजित समाज का सच; जो आज भी उतना ही सत्य है। दिनभर मेहनत-मजदूरी करने वाला विवश है; रूखी-सूखी खाकर, रोज की बदबू में सड़कर जीवन बिताने को। इसी जीवन से तंग आकर 'चैतू' अपने खून-पसीने की कमाई को कड़वे पानी (ठर्रा) में उड़ा देता है। इससे कहीं बढ़कर है 'चंदू' जिसकी अवस्था को देख 'साधु का संन्यास' भी लजा जाये। इसी स्थिति को देखते हुए केदार ने अपनी 'कानपुर' वाली कविता में 'सभ्य आदमी के समाज' के लोगों के बारे में बताया, जिन्होंने श्रमजीवियों को अंतर्विभाजित कर उनकी 'हड्डी को टेढ़ी

करके मोड़' दिया।

केदार अपनी कविताओं में श्रमजीवी और पूंजीवादी संस्कृति के बीच अंतर को स्पष्ट रूप से समझाते हैं। कवि के अनुसार पूंजीवादी संस्कृति, श्रमजीवी-वर्ग के दोहन में विश्वास रखती है। उनके लिए 'श्रम' जरूरी है, श्रमिक का आत्मसम्मान उसका अधिकार नहीं। पूंजीपति श्रमजीवियों के श्रम और संसाधनों का उपयोग करते हुए ही आगे बढ़ता है लेकिन उन्हें अपेक्षित अधिकारों और बुनियादी जरूरतों से वंचित रखते हुए, 'पूँजीपति अपने बेटे को, / बेहद काला दिल देता है/ ...काली मति से काली करनी/ करने का अवसर देता है/ ...शोषण की शिक्षा देता है/ ..गरदन काट कलम देता है।' दूसरी ओर ठीक उलट श्रमजीवी अपने बेटे को 'पर उपकारी दिल देता है/ मेहनत करने को जीने को/ ...हर आफत से लड़ जाने को/ गति देता है, बल देता है।' <sup>11</sup> यह है पूंजीवादी संस्कृति के समानांतर श्रमजीवी संस्कृति। केदार की दृष्टि में जीवन को वे नहीं गढ़ते जो श्रम या उत्पादन की प्रक्रिया से अलग होते हैं बल्कि जीवन की सुंदरता, उसकी गतिशीलता उन हाथों में सुरक्षित होती है, जो 'जीवन की धूल चाटकर बड़ा हुआ है/ तूफानों से लड़ा और फिर खड़ा हुआ है।' जिसने श्रम को 'शक्ति' माना और अकर्मण्यता को 'काल' और साथ ही करनी करने और क्रांति के विधान (उबाल, जोश, आग) को जिंदगी का उद्देश्य माना।

ऐसे समय में जब 'आलोक की हो गई है, अंधकार से साठ-गांठ' तथा 'कैसे जिएं कठिन है चक्कर, हड्डी की लोहे से टक्कर' तब देश की हो रही फजीहत को चुपचाप मायूस बैठकर देखना और बिना कुछ किए उसका मातम मनाना कवि को स्वीकार नहीं। कवि का मानना है कि हम एक ऐसे समाज में जी रहे हैं, जो तुकाराम, भगवानदीन, अवधबिहारी, दयाराम, तिलकधारी, प्रसन्नकुमार, विक्रमादित्य जैसे पात्रों से भरा पड़ा है। जो न 'ज्ञान की आँख' खोलते हैं, न 'विवेक की तुला' तोलते हैं, न 'यथार्थ को परमार्थ से भोगते हैं' और न ही 'दुर्व्यवस्था की नींव' खोदते हैं। ऐसे लोग स्वार्थ में लिप्त, दयाभाव से कोसों दूर, निकृष्ट से निकृष्ट कार्य और जघन्य अपराध करते हैं। विषाद में पड़े माथा पीटते हैं, सांस्कृतिक चेतना से खोखले जीवन

को जीते हैं। ऐसे लोग ही स्वयं में समाहित होकर समाज व देश से कटने लगते हैं। इनकी दुनिया देश, काल, कर्म बोध से रहित एक वृत्त के अंदर घूमती रहती है। ऐसी आदतों को जीने वाला मनुष्य ही 'हाथ' में उठाए किताब की 'सूरज अंधेरे में बैठने को मजबूर होता है। ऐसी मरणासन्न स्थिति को लखकर ही संवेदनशील कवि का हृदय व्याकुल हो कह उठता है, 'शासक भी, शोषक भी मुरदा/ परजा भी, पीड़ित भी मुरदा/ बलहीन, बली दोनों मुरदा/ ज्ञानी अज्ञानी हैं मुरदा।' <sup>12</sup> ऐसे समाज में आदमी नहीं चलते, चलते हैं तो सिर्फ जूते, चप्पल और कपड़े चलते हैं। ऐसी सामाजिक-व्यवस्था में जहाँ जिंदगी 'थककर चूर' है, हड्डियों का शेर 'भूख से हारा मजबूर' है, हाथ-पाँव में 'जहाजी लंगरों का भार' है, गर्म छाती पर धधकती आग, नोमीशीत-सी 'निष्प्राण' है, जागरण का क्रांतिदर्शी साहसी मनु-रूप मानव' भूमि पर 'लुंठित' पड़ा है और 'झंडा ऊपर नहीं उठा' है, कवि लोगों को सावधान करते हुए कहता है, 'ए इंसानों! / ओस न चाटो/ अपने हाथों पर्वत काटो/ पय की नदियों को लहराओ/ जीवन की बटु प्यास बुझाओ/ रोटी तुमको राम न देगा/ वेद तुम्हारा काम न देगा/ जो रोटी के लिए लड़ेगा/ वो रोटी को आप वरेगा।' <sup>13</sup> इस संदर्भ में डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी का कहना है कि वर्तमान समाज-व्यवस्था में जनशक्ति कैसे बर्बाद हो रही है, इसकी ओर केदार ने बार-बार हमारा ध्यान खींचने का प्रयास किया है।

जब जीवन का अनुभव उस दौर से गुजर चुका हो कि 'पछाड़ते-पछाड़ते, सफेद हो गयी जिंदगी जैसे 'कफन' या 'कटु यथार्थ से लड़ते-लड़ते अब न लड़ा मुझसे' तब इस तरह की निष्क्रियता व चुप्पी मनुष्य को शोभा नहीं देती। उसमें अपेक्षित बदलाव अत्यंत आवश्यक है। इस संदर्भ में हम केदार की दो कविताओं को देख सकते हैं। पहली कविता, 'समुद्र वह है' और दूसरी कविता 'अनुत्तरित मौन'। पहली कविता में कवि ने 'समुद्र की व्यथा' को वाणी दी है। समुद्र सदियों से अपने भीतर की आग के ताप को सहता चला आ रहा है। दिक् काल में बंधे रहना (साम्राज्यवादी ताकतों के अधीन) उसकी नियति है, लेकिन इस बंधे रहने के विरुद्ध वह विक्षोभ प्रकट करता है। इसके



विपरीत दूसरी कविता में छत्-विछत् हिमालय अब भी मौन है। जो ताप समुद्र सदियों से सहता चला आ रहा है; वही ताप हिमालय अपने अंतर में छिपाये जस का तस मौन खड़ा है। 'समुद्र' और 'हिमालय' की इसी कातर अवस्था को लखकर घन और जन एक साथ मिलकर गर्जन (रोष) करते हैं, 'घन गरजे जन गरजे/ बंदी सागर को लख कातर/ एक रोष से / ...देख नाश का तांडव बर्बर/ एक बोध से / घन गरजे जन गरजे।' <sup>14</sup> बर्बर नाश का तांडव देख घन का गर्जन 'निराला' के यहाँ भी है लेकिन केदार के यहाँ घन और जन का एकात्म है। यहाँ शक्ति दोगुनी है। यह गर्जन व रोष जीवन विरोधी परिस्थितियों के विरोध में हैं, जो हमें नई ऊर्जा व चेतना से लैस होकर अपने जीवन को अपने अनुकूल बनाने को प्रेरित करता है। इन परिस्थितियों के संदर्भ में डॉ. रामविलास शर्मा ने बड़ी ही महत्वपूर्ण बात कही, उनके अनुसार जहाँ एक ओर सामाजिक विसंगतियों को लख मंडलाकार मेघ-सा उमड़-धुमड़ कर कोटि-कोटि का जनमत ओजपूर्ण गर्जन करता है; वहीं दूसरी ओर दीन-दुखी कुनवा कौड़ा ताप रहा है, 'आग लगी है; / थोड़ी-थोड़ी लपक उठी है; / धुआँ बढ़ा है, बाहर नहीं निकल पाता है, / सबको घेरे रह जाता है।' <sup>15</sup> सन् ४६ की परिस्थिति का यह बहुत ही सटीक चित्रण है। सन् ४६ का जन उभार अपनी तर्कसंगत परिणति तक नहीं पहुँचा इसका कारण 'वामपक्ष की कमजोरी' के अलावा 'जनता का पिछड़ापन' भी था। कर्म व चेतना से हीन जनता कभी एक सुंदर समाज के निर्माण की कल्पना नहीं कर सकती।

केदार की कविताओं में उनके समय की उदासी की छाप है। उन्हें क्रांतिकारी स्थितियों के अभाव का दुख सालता है। उन्हें समाज में फैली जड़ता, अकर्मण्यता और उदास प्रतीक्षाएँ व्याकुल करती हैं, खासकर तब जब उनका ध्यान स्थानीय यथार्थ की ओर जाता है। इस संदर्भ में हम उनकी दो कविताओं को देख सकते हैं। पहली कविता 'बुंदेलखंड के आदमी' और दूसरी 'चित्रकूट के यात्री'। पहली कविता में बुंदेलखंड के आदमी अपनी लंबी-चौड़ी कद-काठी के हिसाब से अपार संभावनाओं वाला दिखाई पड़ता है, लेकिन उसके अकर्मक बैठे रहने वाली फूहड़ दिनचर्या उसकी कद-काठी के संगति में नहीं। वे केवल

खाते-पीते जीते फूहड़ बातें करके जीवन काटते हैं। वे घंटों आल्हा (बुंदेलखंड के वीर नायक आल्हा और ऊदल जैसे वीर और पराक्रमी नायक की गौरव गाथा, जिसे सुनकर उन्हें प्रेरित होना चाहिए) सुनते हैं और फिर मुरदा जैसे सो जाते हैं, क्योंकि उजियारी (चेतना का प्रकाश) मंदी है। दूसरी कविता में चित्रकूट के बौड़म यात्री 'गंदे जीवन के अधिकारी' हैं। यह समाज 'मूर्ख मनुष्यों' का समाज है जो गाय, बैल, पशुओं के दल में खोये रहकर उनके जैसा ही हो जाता है; परिणामस्वरूप, 'सड़े घूर गोबर की/ बदबू से दबकर, / महक जिंदगी के गुलाब की/ मर जाती है।' <sup>16</sup> इससे स्पष्ट है केदार जीवन के सौंदर्य को नष्ट करने वाली शक्तियों से परिचित हैं।

केदार की बहुत सी कविताओं में इस तरह का दर्द है। यह दर्द उस कवि का है जो क्रांति का उभार देख चुका है, उसके साथ आगे बढ़ा है। कवि को जनता से अपार प्रेम है किंतु उसकी कमजोरियों पर फटकारने का साहस भी है। शिवकुमार मिश्र के अनुसार, "केदार जनता से उत्कट प्रेम करते हुए भी उसकी कमजोरियों, संस्कारबद्धता तथा उसके प्रतिगामी रुझानों के सजग आलोचक भी हैं, क्योंकि उनकी आलोचना अपने के द्वारा अपनों की की गई आलोचना है। शोषक सत्ताओं पर वह बज्र की तरह टूटते हैं जबकि जनता के प्रति उनकी आलोचना सहानुभूति पूर्ण है। वह जनकवि के अपने चरित्र की अनुरूपता में हैं, जो जनता की आलोचना जनता को शिक्षित करने के लिए करता है।" <sup>17</sup> कवि केदार एक ओर रूढ़िबद्ध चित्रकूट के बौड़म यात्रियों के कल्पित स्वर्ग की चुटकी लेते हैं, तो दूसरी ओर चैतू, चंदू, शहर के छोरों की दुर्बलताओं पर प्रकाश भी डालते हैं। उनके लिए ग्रामीण जन देवता नहीं, बल्कि मानव हैं और वे भी अपने सगे। डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने, केदार की रचनाओं की एक बहुत बड़ी विशेषता यह माना है कि उसमें 'जनता के पिछड़ेपन' को, उसके 'अंधविश्वासों' को नजरअंदाज नहीं किया गया है।

भारत धार्मिक आस्थाओं वाला देश है। यहाँ धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, नियति-कर्म के बीच का द्वंद्व सदियों पुराना है। लोगों को लगता है कि उसके जीवन में आने वाला दुख उसके पूर्वजन्म में किए गए कर्मों का फल है।

अथक परिश्रम के बाद भी जब जीवन के हाथ कुछ नहीं लगता तो हम अपनी नियति को कोसते हुए उसे पिछले जन्म के पापों से जोड़ देते हैं। इस प्रसंग में हम गोदान के 'होरी' को याद कर सकते हैं। डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार यह भाव कि आप कुछ भी कर लें 'कुछ नहीं हो सकता' की बराबर आलोचना केदार के यहाँ मिलती है। इसके विपरीत वे अपनी कविताओं में एक नया जीवन-दर्शन ले आए हैं कि "श्रम" कभी व्यर्थ नहीं जाता, 'खो सकता है/ मेरा तेरा/ रत्ती-रत्ती जड़ सोना/ हो सकता है/ पूर्ण असंभव/ का भी पूरा संभव होना/ किंतु नहीं श्रम/ मेरा तेरा/ इन हाथों का खो सकता है/ ...शक्ति प्रदाता रो सकता है।'<sup>18</sup> इससे साफ पता चलता है कि निराशा का चित्रण करने वाले कवि का दृष्टिकोण निराशावादी नहीं है। निराश जनों के साथ-साथ वह देश में ऐसे लोगों और जनसंगठनों को भी देखता है, जो परिस्थिति को बदलने हेतु तैयार हो रहे हैं। ऐसी स्थिति में यदि वह निराशा का चित्र खींचता है, तो हमारे भीतर निराशा उत्पन्न करने के लिए नहीं बल्कि हमें निराशा उत्पन्न करने वाली परिस्थिति के विरुद्ध खड़ा करने के लिए। डॉ. नंदकिशोर नवल ने केदार की कविताओं के संदर्भ में लिखा, "निराशा भारतीय जीवन का यथार्थ है, जिसे झुठलाया नहीं जा सकता। महत्त्व की बात यह है कि केदार की कविता में निष्क्रिय जन का चित्रण हो या सक्रिय जन का, उसमें निराशा का चित्रण हो या आशा का, उसकी अंतर्वस्तु हमेशा एक होती है, 'संघर्ष'।"<sup>19</sup> इसी भाव को पहचानते हुए डॉ. शर्मा ने कहा कि केदार की कविता का भाव चाहे जो हो, वह ओस चाटकर जीने वाली कविता नहीं है।

हम लड़ेंगे और जीतेंगे यह भाव केदार की कविताओं में बराबर मिलता है। इस भाव को सुदृढ़ और स्थायी बनाया 'मार्क्सवाद' के अध्ययन और जनता के प्रति उनके अटूट प्रेम व विश्वास ने। विजय के प्रति यह विश्वास कोरा सैद्धांतिक या आदर्शवादी सोच का परिणाम नहीं बल्कि जनता को गहराई से समझने और उससे प्रेम के कारण पैदा हुआ है। केदार की प्रगतिशील चेतना इस मायने में औरों से बिल्कुल अलग है कि यहाँ शोषितों के

प्रति मात्र सहानुभूति नहीं बल्कि उनके विजय के प्रति अटूट आस्था भी है। यही कारण कि 'घन गरजे जन गरजे' कवि के आस्था का स्वर सदैव अमंद रहा, 'मैंने उसको/ जब जब देखा/ लोहा देखा,/ लोहा जैसा तपते देखा/ गलते देखा/ ढलते देखा/ मैंने उसको गोली जैसा चलते देखा।'<sup>21</sup>

**संदर्भ:**

१. कमल, अरुण, संपादक, आलोचना, सहस्राब्दी अंक-४२, जुलाई-सितंबर, २०११, पृ. ५६
२. अग्रवाल, केदारनाथ, गुलमेंहदी, साहित्य भंडार इलाहाबाद, संस्करण: २००९, पृ. सं. ५८
३. वही, पृ. १३२, ४. वही, पृ. १३२।
५. वही, पृ. १३२, ६. वही, पृ. १३२।
७. वही, पृ. १३२, ८. वही, पृ. १३२।
९. अखिलेश, संपादक, तद्भव, अंक २२, जुलाई २०१०, पृ. ३१।
१०. अग्रवाल, केदारनाथ, गुलमेंहदी, साहित्य भंडार इलाहाबाद, पृ. सं. ४४
११. वही, पृ. १५६।
१२. त्रिपाठी, अशोक, संपादक, जो शिलाएँ तोड़ते हैं, साहित्य भंडार इलाहाबाद, संस्करण: २००९, पृ. ९९।
१३. अग्रवाल, केदारनाथ, गुलमेंहदी, साहित्य भंडार इलाहाबाद, संस्करण २००९, पृ. सं. १३८।
१४. अग्रवाल, केदारनाथ, फूल नहीं रंग बोलते हैं, साहित्य भंडार इलाहाबाद, संस्करण २००९, पृ. सं. २३।
१५. अग्रवाल, केदारनाथ, गुलमेंहदी, साहित्य भंडार इलाहाबाद, संस्करण २००९, पृ. सं. ५४।
१६. वही, पृ. ६३।
१७. कमल, अरुण, संपादक, आलोचना, सहस्राब्दी अंक-२२, जुलाई-सितंबर, २०११, पृ. ९९।
१८. अग्रवाल, केदारनाथ, गुलमेंहदी, साहित्य भंडार इलाहाबाद, संस्करण २००९, पृ. सं. १५९।
१९. सिंह, नामवर, संपादक, आलोचना, अंक ५६-५७, जनवरी-जून, १९८१, पृ. ६५।
२०. अग्रवाल, केदारनाथ, फूल नहीं रंग बोलते हैं, साहित्य भंडार इलाहाबाद, संस्करण २००९, पृ. सं. ९८।

**संपर्क :** हिंदी-भवन, विश्व-भारती, शांति निकेतन, जिला-बीरभूम, पश्चिम बंगाल- 731235, मो. 9002285850

## अनुभूति की अमर्यादता

विमल वर्मा

संपादक, चंद्रयान

आज का समाज इतना जटिल और अनेकस्तरीय हो गया है कि लेखक और पाठक दोनों को अनेक कठिनाइयों के सम्मुख होना पड़ता है। जहाँ एक ओर रचनाकार सामाजिक दबावों के अनुकूलित या प्रतिकूलित होता है वहीं ऐसी बाधाएँ भी उपस्थित होती हैं, जिनके सामने उसे अपने रचनात्मक स्वभाव, कलात्मक उपकरणों तथा राजनीतिक चुनौतियों से रूबरू होना पड़ता है। पाठक भी महसूस करता है, अगर कहीं वह काव्य के अनुकूल आस्वाद प्रक्रिया के इंद्रजाल में फँसा तो उसके पठन की विशिष्टता का लोप हो जायेगा। इसके विपरीत यदि वह अपनी ही चित्तवृत्तियों के अनुरूप काव्य-ग्रहीता बना तो कृति-विशेष की विशिष्टता का युक्ति संगत ग्रहण उसके लिए असंभव हो जायेगा। वस्तुतः रचना प्रक्रिया एवं पठन-प्रक्रिया ज्ञानात्मक क्रिया पद्धति होती है। अतएव इस ज्ञानात्मक प्रक्रिया के सृजन से ग्रहण तक, नए आस्वाद के प्रति अपने को समर्पित करते हुए इतिहास बोध से परिप्रेक्ष्य ग्रहण करना होगा। भाषा की इंद्रियगम्य प्रकृति के माध्यम से रचना की आवाज को भावनाओं की संरचना में खोजना होगा।

फिलहाल 'अनुष्ठुप' के पाठ की कठिनाई इसलिए कुछ कम हो जाती है कि इस संग्रह की रचयिता अनामिका ने अपनी भूमिका में ही संकेतित करते हुए लिखा है कि "भाव का अभाव से संबंध चूँकि घनिष्ठ है, कविता वहीं फलती-फूलती है जहाँ राजनीतिक-सामाजिक आर्थिक-उत्पीड़न का इतिहास लंबा हो।" इसके साथ-साथ संग्रह के फ्लैप पर शिखर कवि केदारनाथ सिंह ने लिखा है कि "अन्ना अख्मतोवा ने कहीं कहा है कि कविता का मूल स्रोत कविता नहीं, गद्य है। अनामिका की इधर की कविताओं को पढ़ते हुए बराबर लगता है कि वे जाने-अनजाने कैसे अख्मतोवा के इस कथन को ही अपने काव्यशिल्प का आधार मानती हैं।" सचमुच प्रविधि के निरंतर विकास के कारण गद्य-भाषा-कविता की गतिकी पाठ की रागात्मक ऊष्मा को पर्याप्त मात्रा में संवेदित कर रही है। यहीं एक तरह की प्रवणता यह भी देखी जा रही है कि नामी-गिरामी कवियों की कविताएँ पढ़े जाने पर, उनकी अधिकांश कविताओं के गद्य की खोल में सीधे-सीधे निष्कर्षात्मक आग्रह, उक्तिपरक अभिधात्मक वक्तव्यों की भीड़ मिलेगी। पाठक कुछ क्षणों के लिए मुग्ध और चमत्कृत भी हो जायेंगे। फिर उनका प्रभाव कपूर की गंध की तरह मिट जायेगा। कहना न होगा कि रचना-प्रक्रिया में चेतना का ऐन्द्रिक रूप मूर्तिमान होता है। उसमें अनुभूतियों और भावनाओं की संरचना होती है। इसके अभाव में सीधे-सीधे वक्तव्य

और निष्कर्षात्मक उक्तियों वाली कविताएँ इस तरह निष्प्रभावी होती हैं कि ऐसी कविताओं के बारे में ही शायद किसी ने लिखा था कि ये अनुभूति से महरूम होकर महज 'विशफुल थिंकिंग' बनकर रह जाती हैं। ऐसे कवियों की रचना-प्रक्रिया के बारे में यही कहा जा सकता है कि मदारी ने साँप पकड़ना चाहा किंतु वह उसके हाथ से खिसक गया और हाथ में केवल उसका केंचुल रह गया। यह भी सच है कि कभी-कभी किसी विचार विशेष के भावात्मक संप्रेषण को अभिव्यक्त करना जरूरी हो जाता है। परंतु वहाँ भाषा प्रक्रिया बनकर संप्रेषित होती है, उक्ति बनकर नहीं। अनुभव को सूक्ति बना देने या विचारात्मक निष्कर्ष का प्रबल आग्रह कहीं कवि के गीत-संवेदना की अन्तश्चेतना के दबाव के कारण स्वरूप तो नहीं है? आज गीत संवेदना की कविताएँ वयस्क संवेदना की कविता न बनकर पाठक पर रोमानी भावुकता की छाप छोड़ जाती हैं। वस्तुतः परिवर्तित होते हुए समकालीन देश-काल में संवेदना का रूप और राग-प्रणाली भी बदल रही है। अनुभूति की समसामयिकता में अतीत और भविष्य भी वर्तमान अनुभूति बन जाता है। ध्यान में रखने की बात है कि सक्रिय अनुभव का निष्कर्ष रचना प्रक्रिया में उक्ति या चमत्कार की तरह नहीं, बल्कि प्रक्रिया की तरह रचित होता है।

यद्यपि इस संकलन में उक्त विचलन नहीं के बराबर हैं फिर भी प्रस्तुत संग्रह के पाठ से यह सहज जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि उत्तर आधुनिक प्रतिवादी अनुभव जगत समकालीन संवेदन वाले निस्पृह यथार्थ से ऐन्द्रिय स्पर्श, रूप, रस, गंधमयी शब्द-ब्रीड़ा-अस्तित्व की जिस रहस्यमयता को उघाड़ती है, स्पंदित करती है, वे संवेद स्पंदन एवं बदलते हुए बलाघात किस तरह के नवीन, नवोन्मेषी संबंध समुच्चय की ओर संकेत करते हैं? (यहाँ विस्तार में जाने का अवसर नहीं है) प्रस्तुत कविताओं में जो आवाजें ध्वनित हुई हैं वे आवाजें जो काव्य-राग गढ़ती हैं उन विधिपरक रूपंकरण की सांस्कृतिक व्यवस्था का आधार क्या है?

“जब उसने पहले पहल मुझे छुआ/ दरक गयी घटाओं की छाती।/ हूक की तरह उठी पछिया/ और मुझे ऐसे

सहेजकर समेटा उसने/ जैसे आँधी में/ कपड़े अंकवार लिए जाते हैं/ अलगनी से खींचकर!// मैं सूखा कपड़ा नहीं थी, मुझमें बहुत बूंदें बाकी बची थीं, यह मैंने जाना उसी दिन/ उसकी भीगी बाहें, गीले कंधे देखकर।/ एक अजब लय सी थी उसके छूने-छोड़ने में!//...../ क्यों कि लजाये हुए से हम बैठे थे/ जिस पेड़ के नीचे/...../ अब आलम यह है कि/ कई-कई बरस वह मुझसे नहीं मिलता।/...../ ईश्वर ने कहा- ‘अभी आया’/ और मुझे पकड़ा गया अपना थैला।/ यह थैला ढोती हुई बत्तीस बरस से खड़ी हूँ/ सड़कों में, बसों में, पुलों पर/ उसको टटोलती हुई लगातार। (ईश्वर)

यहाँ जीवन का नाटकीय संवेदन है। कविता का वस्तु-जगत दिनचर्या का ही इतिहास है। कहना न होगा कि आज जो कुछ हमारे मन में, इच्छाओं, आवेगों, विचारों, अभावों, दुश्चिंताओं, भ्रमों में उपलब्धियों की तरह गुजर रहा है वह भी इतिहास है। इस तरह दिनचर्या की इस वास्तविकता में हर शब्द के प्राण तत्त्व के कम्पन, स्वभाव, व्यवहार से स्पंदित अंतरालों से उपजता हुआ अनुराग पाठक में अनुभूति को प्रवाहित कर देता है। इसीलिए यह कहा गया है कि भाषा अंतरंग का विवर्त है। यहाँ इस गहन, आत्मीय, गंझिन संवेदना में रचनाकार के मनस्तत्त्व, प्रेम का जो बिम्ब उभरता है उसमें ऐन्द्रिय अनुभव काव्यात्मक हो उठा है। इस बिम्ब में उदासी प्रवण करुणा, छटपटाती हुई एकाकीपन की विवशता पाठक को एकांत के अंतरतम तक ले जाती है। राग-बोध अपनी सम्पूर्ण आत्मपरकता और विशिष्टता के साथ, अनुभव जगत में छाये व्यक्ति के स्वप्न, उसके टूटने की सीमा तक बनी हताशा की धड़कनें जिन बिंब चित्रों और ध्वनि-अर्थ संकेतों के कलात्मक शिल्प में ढली टटके सौंदर्य अवस्था में भावकीय स्तर पर अनुभूत होती हैं, वे अपने रूप और प्रकृति में काफी संश्लिष्ट हैं। यहाँ ध्वनित प्रतिवाद जिस द्वैत और द्वंद्व पर निर्भर करता है वहाँ संवेदन और संज्ञापन के बीच अंतराल है। फिर तो यह जानना जरूरी हो जाता है कि इस अंतराल की अर्थ-प्रतीति क्या है? रचना-प्रक्रिया में ‘मैं’ को ‘अन्य’ (ईश्वर) के संदर्भ में परिभाषित किया गया है। ‘ईश्वर’ कविता जिन मूल उद्देश्यों और अनुभूतियों के सहारे रूपायित

होती है वह पाठक को आमंत्रित करती है कि वह जीवन के आत्मपक्ष और वस्तुजगत संबंधी प्रतिक्रियाओं के उलझाव को भी समझे।

*‘लगता था, सप्तपदी अटक-अटक कर/याद आ रही है उसको/...../संकोच का पूरा व्याकरण उसे कंठस्थ था/ पूरे मनोबल से दुहरा रहा था वह/संयम के सब पाठ, सब वर्जनाएँ/..../सारी की सारी नीति कथाएँ/और समय की जबर्दस्त रस्सियों से/बाँध दिये थे मेरे हाथ, मेरे ही पीछे।’*

यहाँ कला-कृति को वस्तु मानने की जगह उसे व्यवहार में देखने का आग्रह है। यानी कविता की अंतर्वस्तु उसके विषय में नहीं, बल्कि उसके व्यवहार में निहित रहती है। उक्त पंक्तियों में अस्मिता की समस्या संबंध की समस्या में जकड़ उठती है। सचमुच लेखिका ने रचना को सजीव सामाजिक संबंधों के भीतर पिरोया है। यहाँ यदि व्यवहार की सक्रियता पर गौर करें तो हमें रूसी रूपवादियों का कथन चरितार्थ लगता है। उन्होंने कहा था कि कलाकृति का अर्थ संसार जीवनानुभवों के प्रति कलाकार की प्रतिक्रिया का परिणाम होता है।

यदि हम यहाँ भाषा की अर्थ प्रक्रिया पर गौर करें तो कविता में संवेदनात्मक इकाई ने प्रतीक का रूप ग्रहण करके भाषा निर्मित किया है। यहाँ ‘सप्तपदी’, ‘वर्जनाएँ’, ‘संकोच का व्याकरण’, ‘पौराणिक स्मृतियाँ’ प्रतीकों का व्यवहार संकेतक के रूप में किया गया है। अर्थात् ये शब्द संकेत-संदर्भ ही पाठ हैं जिनमें सामाजिक, सांस्कृतिक कूट संकेतों की भूमिका निभा रहे हैं और रचना का संवेद इन संकेतों में ध्वनित हो रहा है।

कविता की जिस वर्तमानता का अन्तःक्षेपण किया गया है उस वर्तमान में अतीत भी है और भविष्य भी। सच्चाई यह है कि हम जो सोचते हैं, करते हैं उसमें अवचेतन के भीतर दबा हुआ अतीत (सप्तपदी, पौराणिक स्मृतियों, वर्जनाएँ इत्यादि) वर्तमान की खिड़कियों से कूदकर, प्रत्यक्ष होकर हमारे भविष्य के रास्ते में रुकावट डालता है। यह अंतराल भविष्य को (गठरी ढोने) निर्धारित करता है। इस प्रकार प्रस्तुत रचना प्रक्रिया में भाषा का अनेक स्तरीय द्वैध है। उसी अंतराल से झाँकती हमारी कामना, इच्छा, लालसाओं

की निर्वासित अतःसत्ता अपने को भाषा की सहवर्तिता में पाती है। क्या यहाँ ‘मैं’ और ‘ईश्वर’ के समकालीन संबंधों के बीच चल रहे लगाव, बिलगाव की निरंतरता और विडम्बना ध्वनित नहीं होती है? इसे हम समाज की मूल्य व्यवस्था के विरुद्ध मन और परिस्थिति के द्वंद्व का रूप भी कह सकते हैं। ‘ईश्वर’ के न मिलने और उसकी याद की ‘गठरी’ को बत्तीस वर्ष ढोने तथा चेतावनी वाली ये पंक्तियाँ—

*“उस दिन को सोचो”*

*जब मैं तुम्हें खो दूँगी*

.....

*लेकिन किसी श्लोक से रट गये रास्ते*

*(और लोग बाग भी)*

*उच्चरित ठीक से नहीं होते कभी-कभी*

.....

*अब आलम यह है कि*

*कई-कई बरस वह मुझसे नहीं मिलता....*

इस तरह भाषा एक माध्यम है जिसके जरिये रचनाकार अपने विचारों, अनुभूतियों में स्वप्न देखने तथा जीने का परीक्षण करता है। इन शब्द संकेतों के तल को स्पर्श करते हुए एक खास ऐन्द्रिक जीवन अपनी प्रतिकृति के लिए अनिवार्य परिस्थिति के तौर पर इन शाब्दी अभिधान-तंत्र में खुद को अवस्थित कर पुनर्जन्म लेता है। इस तरह अनुभव की रचना-दृष्टि भौतिक एवं मानसिक अस्तित्व के तनाव, विपर्यय की तीखी विडंबना रच देती है।

यहाँ भाषा की गतिकी में पीड़ा और आनंद का समक्षणीक अनुभव भी होता है। रचना में छिपी भावात्मक आवेगपरक कड़ियाँ जिस गोचर यथार्थ के रूप में दिखती हैं और उस यथार्थ में तो चित्रात्मक स्मृति बिम्ब हैं उनसे यह प्रमाणित होता है कि इस संवेदनशील प्रक्रिया में कवयित्री की चेतना में स्वसंवेद अनुभव-विचार अनुभूति संबंध की आत्मविमर्शात्मक प्रक्रिया अपने आपको, अपने बोध को, अपने आप से अलग (भोक्ता द्रष्टा मन) खड़ा होकर देखती है। अनुभव के इस नए व्याकरण की रचनाशीलता रचनाकार की निजता को संकेतित करती है।

ऊपर मैंने आत्मविमर्शात्मकता की बात की है। इसी

सिलसिले में 'ढूँढ़ना' कविता की निम्न पंक्तियाँ गौर करने लायक हैं—

“मेरे लक्षण अजीब हैं// चीजें मुझसे खोती रहती हैं लगातार!// कुछ दिन तक तो /पता ही नहीं चलता/ खो क्या गया/ सिर्फ एक बेचैनी रहती है—/बे मतलब धगरमच्छ मचाती हुई!//और अचानक/अर्जेंट टेलीग्राम। इल्हाम/ कहीं कौंध जाता है कि अच्छा ये.../न जाने कब खुलकर गिर गयी जो/थी अपनी खुदा ही तो.../इसी तरह खो जाती हैं चीजें/...../तो दुनिया की हर चीज मिल जायेंगी/ सिवा उसके।

“खंदा का खो जाना” अस्तित्व के विलोप की प्रक्रिया की ओर संकेत करता है। आज मुक्त बाजार में मनुष्य की सत्ता निर्वासित कर दी गयी है। पूँजी की संहिता ही हमारी संहिता बन गयी है। इस प्रकार उत्पादन चाहे वह भौतिक उत्पादन हो या आत्मिक। पूँजी की संहिता सभी तरह के संबंधों का संहार कर रही है। चूँकि आंतरिक मानस को वस्तु के रूप में विश्लेषित नहीं किया जा सकता। इसे केवल संकेत के रूप में ही समझा और व्याख्यायित किया जा सकता है। इसलिए ‘खुदी का खो जाना’ विचार के संज्ञानात्मक बोध की ओर हमें मोड़ता है। कहना न होगा कि कविता में चेतना-बिंब, शब्द, सार्थक भाव संकेत में ही निवास करते हैं और ये आंतरिक संकेत आत्मनिरीक्षण द्वारा ही ग्रहण किये जा सकते हैं। क्योंकि मानसिकता किसी अवस्थिति की उत्पाद होती है। इस तरह यहाँ व्यवस्था और स्वतंत्रता के परस्पर विरोध, तनाव, आंतरिक संकट और इनके आत्मविश्लेषण का विमर्श है।

वित्तीय पूँजी की ग्लोबल इच्छाएँ ‘इतिहास का अंत’, ‘विचारधारा का अंत’ इत्यादि के विपर्यय बोध की थियरी गढ़कर इतनी आत्ममुग्ध हैं कि वे अपनी आचरण पद्धति से तरह-तरह की अतार्किकता का सौंदर्य शास्त्र गढ़ रही हैं। आधुनिक नृविज्ञान में वित्तीय हितों का अनुकूलन हो रहा है। पुनर्गठन की इस प्रक्रिया में मनोविज्ञानवाद ने नस्लवाद, मूलवाद, अलगाव को वास्तविक और प्राकृतिक सच मान लिया है। इनके अनुसार इतिहास एक असंगत शक्ति। यह शक्ति भाषा-प्रणाली की तर्कसंगत शुद्धता को विकृत कर चुकी है। काल की प्रतीति के विभिन्न संगठनों के बीच

खाई है। इस रिक्तता के दारिद्र्य में कलात्मक विश्व चेतना के संकट की अनुभूति से मुक्ति के मार्ग की खोज एक विशेष परिघटना है। इसी संदर्भ में ‘एक्सपायर्ड मेडिसिन’ के भाव-व्यापार पर गौर किया जा सकता है। जाहिर है रचना प्रक्रिया में हम शब्दों को अर्थ देते हैं। वे अर्थ शब्दों को युक्ति-युक्त बनाने में संदर्भ का रूप धारण करते हैं। इस कविता में विभिन्न प्रकार के बिम्ब सर्जन समाज विकास के दौरान रूपांतरणशील नवीन होती निरंतरता का संज्ञान देते हैं। प्रारंभ में एक्सपायर्ड मेडिसिन को गत प्राण औषधियाँ बताकर उस फलसफे की ओर संकेत किया गया है कि लोग कैसे आभास और यथार्थ के संबंधों के द्वंद्वत्मक संज्ञान पद्धति का निषेध करके इस पर जोर दे रहे हैं कि स्वतंत्रता आवश्यकता से स्वतंत्र हो गयी है। क्रांतियाँ तो समाज परिवर्तन की परिघटनाएँ होती हैं उसे आज एक दुर्घटना बताया जा रहा है।

“मिट्टी के आगोश में अपना सिर गाड़कर  
क्या जाने क्या बनने की प्रक्रिया में  
निस्पन्द लेटी हैं औषधियाँ”

उक्त संकेत द्वारा वस्तुनिष्ठता की दृष्टि सभ्यता और संस्कृति के सृजनात्मक विकास का रहस्योद्घाटन करती हैं।

एक तरफ दीवार की नोनी-सी झड़ रही है  
दूसरी तरफ लेकिन  
उनके गलने से जो बह रहा है—  
माउण्ट वैसूवियस का लावा है—  
अंतिम रजस्राव, छुटकारा, (अविवाहित वृद्धाएँ)  
परिवर्तन ऋतु का। बस और क्या  
इतना अकारण नहीं होता जीवन किसी का।  
मिट्टी हो जाना भी एक साधना है।  
वैद्यराज से पूछिए, मिट्टी खुद भी दवा है।

.....

क्या होता है होना,  
आउट ऑफ डेट ?  
यात्रा शुरू होती है अनंत की  
‘डेट’ के गेट से निकलकर

इस तरह यदि भौतिकवाद की प्रकृति के इतिहास में रूपांतरण की द्वंद्ववादी पद्धति के विकास को समझा जाय

तो द्वंद्वात्मक भौतिकवादी संभावना के दर्शन में यथार्थ के उत्पादन और पुनरुत्पादन की व्यवस्था को समझा जा सकता है। इसी प्रकार कविता में शब्द और अर्थ के संबंधों में जीवन के, समाज के, इतिहास के प्रक्रियाबद्ध विकास को भी समझा जा सकता है। संप्रेष्य कलात्मक मनःस्थिति में, रचना में जो भाषिक संगठन निर्मित किया जाता है उसमें यथार्थ अपने गुण धर्म के साथ भाषा में सजीव हो उठता है। निश्चित रूप से जो जीर्ण हो जाता है उसके दीवार की नोनी झड़ जाती है। परंतु तत्त्व अपनी निरंतरता जारी रखता है। बहुआयामी हो जाता है। जो जीवित है वह विकसित होता है।

इस प्रकार अनामिका ने इस कविता के माध्यम से यह व्यक्त किया है कि इतिहास में जीवन की गतिकी, संबंधों की गतिकी होती है। सृष्टि-विकास व्यापार के आंतरिक स्थापत्य में एक सहज प्रतिरोध शक्ति होती है, जहाँ फैण्टेसी पैटर्नों का ताना-बना बुनकर बिम्ब में अवतरित होती है। जैसे—

‘आदि’ प्रश्न में—

भवजाल होते हैं बाल औरतों के  
सदियों पहले उनको बाँध गया था  
चंद्रमा के आकार के क्लिप से!  
तारों से जड़ी हुई कंधी से  
झाड़ दिया जाता था उनको  
जब वे उलझते थे!  
न उनको खुलने की आजादी थी  
न उलझने की—  
फिर भी वे खुलते-उलझते थे  
एक बार सृष्टि के पहले पहर में  
घुंघराले बालों का भवजाल लिए  
जो कहीं खड़ी थी कहीं छिन्नमस्ता—  
आदि शिशु ने आदि माता से प्रश्न किया—  
.....

यही नहीं इस संग्रह की अधिकांश कविताएँ स्त्री-यातना की गाथा में लिथड़ी हैं। यहाँ मुझे जूलिया क्रिस्टएवा का कथन याद आता है— “कलारूपों में चिह्न-सामग्री के तहत आने वाली लयें, स्वर और गतियाँ मातृ देह से जुड़े किसी दमित सुख, किसी खोये हुए संसार को प्राप्त करने की

चेष्टाएँ हैं। ये कलारूप अर्थ की बाहरी सत्ता को ध्वस्त कर देना चाहते हैं। वे बंधनों, वर्जनाओं और प्रतिबंधों से बाहर निकल आना चाहते हैं। ...सारी वैयक्तिक और सामाजिक पहचान मातृ-देह से इसी विच्छिन्नता के आधार पर निर्मित है।... लेकिन साहित्य और कलाओं में कलाकार मातृ-देह से जुड़े उस बिसरे हुए सुख को, उस खोई हुई दुनिया को दोबारा प्राप्त करना चाहता है। और जब वह इस खोये हुए संसार की ओर लौटता है तो सामाजिक स्थिरता के मानकों और नैतिक मूल्यों के प्रतिमान डगमगाने लगते हैं।” (पावर्स ऑफ हारर)

इसी प्रकार ‘संयुक्त परिवार’, ‘प्रथमप्राव’, ‘पत्नी’, ‘स्नान’ तथा संकलन की अधिकांश कविताओं में जो राग का ढाँचा है उसमें ‘विघटन का सच’ बनाए रखते हुए भी कवयित्री ने उसके हर अवयव को तनाव के एक बिंदु पर ठहरा दिया है।

‘रिश्ता’ कविता में—

मुझसे भी ज्यादा/थकी दीखती थी वह/फिर भी वह  
हंसी!/उस हंसी का न तर्क था,/न व्याकरण/न सूत्र/ न  
अभिप्राय// वह ब्रह्म की हंसी थी/...../ पल भर को  
लगा- उसके उन झुके कंधों से/ मेरे भन्नाए हुए सिर का/  
बेहद पुराना है बहपाना।

यह द्वैधमूलक उक्ति, भंगिमा, विडंबना अत्यंत कम शब्दों में बेहद जटिल अनुभव को व्यक्त करती है। इस तरह रचना प्रक्रिया में जहाँ विचारों और अनुभूतियों का सूक्ष्म गुंफन है वहीं काल के साथ असहज संबंधों का तनाव भी है, और अनुभव-रूपक एक खास दृष्टि के रूपक बन जाते हैं।

‘मुक्ति’, ‘प्रागैतिहासिक’, ‘प्रदेश का पहला जाड़ा’ तथा अन्य कविताओं के भीतर मनुष्य की निजता को एक बृहत्तर संदर्भ में पिरोकर समाज की विकसनशीलता, संभवन की संभावनाओं से सम्बद्ध सरणियों की न केवल खोज है बल्कि उसकी व्याख्याएँ भी की गयी हैं। साथ ही साथ कवयित्री ने उन सभी परंपराओं, कर्मकाण्डों, व्यवस्थाओं का पुनर्परीक्षण भी किया है जो अपने और समाज के भीतर बाहर से हमें घेरे रहती है। इनमें ऐसी दृष्टि भी है जो बहुत गहरे उस विचार-व्यवहार प्रक्रिया को खंगालती है जो

व्यवहारिकता से संगत नहीं बैठा पाती।

इस तरह कविताओं के टेक्स्चर पाठक को परिभाषित यथार्थ से अपरिभाषित अनुभव की ओर ले जाते हैं।

‘बहिना बाई : इक्कीसवीं सदी’ में स्त्री-यातना की विविधता, अनेकरूपता के माध्यम से ज्ञानात्मक संवेदना के द्वारा, आभ्यान्तरित रूप में इस कविता की भूमिका का अवग्रहण ऐतिहासिक आस्वाद की ओर संकेत करती है। रचनाशीलता की नाटकीयता ‘साक्षी’ के माध्यम से ‘आत्मान्वेषण’ में झाँकती है। इस खोज में—

“हर यातना हमें पीपे में बंद कर/ समुन्दर में दूर फेंक आती है/पर लौट आता है पीपा/बार-बार इसी एक तट पर/कितना कुछ हो रहा है.../एक सिर्फ वही नहीं होता/ जिसकी उम्मीद में/लौट-लौट आती हैं/लहरें और जाल और पीपा।”

साहित्य दर्शन में यह प्रश्न बार-बार उठाया जा रहा है कि काल की अनुभूति से अलग क्या अस्मिता की कोई अनुभूति होती है? मेरी समझ से काल की अनुभूति होने पर ही हमें अस्मिता और निरंतरता का बोध होता है। अर्थात् अपने होने का। इस कविता में अस्मिता बोध की जो छवि गढ़ी गयी है वह स्त्री-विशेषकर भारतीय इतिहास के उस दर्शन को प्रतिबिंबित करती है। जिसमें भारतीय संस्कृति में स्त्री जाति का समूचा इतिहास निहित है। इसी इतिहास बोध के ज्ञानात्मक संवेदन में स्त्रियों का आत्मदर्शन एवं उनका अस्मिता बोध प्रतिबिंबित हुआ है। जैसे ‘साक्षी दो’ में—

रात बूढ़े आदमी की भाषा है।/उसमें कंदराएँ हैं, संकेत और विस्मृतियाँ/वह कम से काम चला लेती है।/हम सब सफर में हैं। लंबा सफर है यह।/हमारे गठरियाँ तो हैं, पर गठरियों की गाँठ ढीली पड़ गयी है।/कुछ अनसुने वाक्य, मुँह में ही घुला लिए गये/कुछ शब्द खंड/और कुछ प्रश्न चिह्न/साथ हमारे ही/बेंच पर सिमट कर/किसी फ्रंटियर मेल का/देखते हैं रास्ता!

इस तरह इस लंबी कविता में अतीत, वर्तमान, भविष्य सभी समकालीन हो उठते हैं। कविता के पाठ में प्रत्येक

अनुभव अनुभूति में घुलकर एक नियामक प्रक्रिया बन जाता है। यह नियामक क्रिया और कुछ नहीं बल्कि स्मृति है।

“बहिना बाई : जैसे स्वयं से—”

‘मैं अपने घर का पता भूलती हूँ।

झील मुझे विस्तर दो

कंचे खेलो मुझसे तारों के।

.....

कैसी यह धुंध फट रही है—

मेरे मस्तिष्क की गुफाओं में?

.....

धरती की इतनी दरारें

क्या मेरा घर ये नहीं”

इस तरह अनुभव-चेतना वास्तविकता का एक अद्वितीय चरित्र प्रस्तुत करती है।

‘पिटते हुए आदमी की

ठन-ठन करती हड्डियों में

कुछ दिन तो छपते हैं पैम्फलेट

फिर छपने लगती है एक गंभीर किताब।

यह ‘किताब’ अद्भुत होती है।

इसे कभी मार्क्स उठाकर पढ़ते हैं, कभी गाँधी

एक रात उठते हैं दोनों

और साथ-साथ टहलने लगते हैं

पिटते हुए आदमी की

बहुत देर झुककर उठी आँखों में

गड्ढमड्ढ सपने बनकर।”

इस तरह की कल्पना के माध्यम से यह एक सर्जनात्मक पुनरावृत्ति है जो भाषा में संवेद्य बन गया है। इसी तरह आगे की सारी पंक्तियों की अभिव्यक्ति में नारी जाति का अस्तित्व तो भ्रमों और पूर्वग्रहों की धुंध में लुका-छिपी कर रहा है उसे अपने स्वत्व का मर्मभेदी अहसास हो रहा है। यह विच्छेद यानी अपनी पहचान से हुए विच्छेद की, अपने स्वत्व के विच्छेद के रूप में बहुविध यातनाओं को समझने और सहने की भारतीय छवियाँ हैं।

संपर्क:

एच/13 एल. आई.जी., 8/1 आर.पी. रोड, काशीपुर,  
कोलकाता-700002 (प. बं.), मो. 09038340568



## पंत जी परिवर्तन कविता : एक दृष्टि

डॉ. उमेश चंद्र शुक्ल

एसोसिएट प्रोफेसर

अध्यक्ष, हिंदी विभाग

महर्षि दयानंद कॉलेज, मुंबई

कथावस्तु एवं संरचना की दृष्टि से 'परिवर्तन' पंत जी की सबसे जटिल एवं ग्रंथिल रचना है। प्रसाद एवं निराला में जो अंतःसंघर्ष दिखाई पड़ता है, वह पंत के परिवर्तन कविता में भी है। जीवन की संकुलता और परिवर्तन के द्वंद ने इसके रूप-विधान को प्रभावशाली एवं जटिल बना दिया है। परिवर्तन कविता में मात्र छंदों का ही परिवर्तन नहीं है बल्कि लय भी बदलती है। भाषा में जगह-जगह बदलाव है, यह कवि की मानसिकता एवं जीवन लय का भी परिवर्तन है। पंत जी के शब्दों में "हमें अपने देश के युगव्यापी अंधकार में फैले मध्यकालीन सांस्कृतिक ऊर्ध्वमूल अश्वत्थ को जड़ और शाखा से उखाड़कर फेंक देना होगा और उस सांस्कृतिक चेतना के विकास के लिए देशव्यापी प्रयत्न, विचार व संग्राम करना पड़ेगा। जिसके मूल हमारे युग की परिस्थितियों में है।" पंत जी का विश्वास है कि मनुष्य का विकास समाजमुखी, समाज का विकास इतिहासमुखी होता है-

*"अरे निष्ठुर परिवर्तन! तुम्हारा ही तांडव नर्तन/विश्व का करुण विवर्तन! तुम्हारा ही नयनोन्मीलन, निखिल उत्थान-पतन! अहे वासुकि सहस्र फन!"* ('परिवर्तन'- पंत)

पंत काव्य परिसर में परिवर्तन कविता का विशेष महत्त्व है। पल्लव (१९२८) में संकलित परिवर्तन (१९२४) अपने भाव, विचार, रचना, कौशल आदि की दृष्टि से मील का पत्थर है। पल्लव के संबंध में हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है "पल्लव बिल्कुल नये काव्य गुणों को लेकर हिंदी साहित्य जगत में आया। पंत में कल्पना शब्दों के चुनाव से ही शुरू होती है। छंदों के निर्वाचन परिवर्तन में भी वह व्यक्त होती है। उसका प्रवाह अत्यंत शक्तिशाली है। साथ अब और मानव-सौंदर्य के प्रति बालकोचित औत्सुक्य और कुतूहल के भावों का सम्मिलन होता है तो ऐसे सौंदर्य की सृष्टि होती है जो पुराने काव्य के रसिकों के निकट परिचित नहीं होता। कम संवेदनशील पुराने सहृदय इस नई कविता से बिदक उठे थे और अधिक संवेदनशील सहृदय प्रसन्न हुए थे। पल्लव के भावों की अभिव्यक्ति में अद्भुत सरलता और ईमानदारी थी। कवि बंधी रूढ़ियों के प्रति व्यंग्य और उपहास का प्रहार नहीं करता किन्तु बाहरी बातों की उपेक्षा करके उसके अंतरंग में स्थित सौंदर्य की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट करता है। मनुष्य के कोमल स्वभाव, बालिका के अकृत्रिम-प्रीति स्निग्ध हृदय प्रकृति के विराट विपुल रूपों में अंतर्निहित शोभा का ऐसा हृदयकारी चित्रण उन दिनों अन्यत्र नहीं देखा गया।" 'परिवर्तन'

कविता के संदर्भ में नगेन्द्र जी लिखते हैं “पंत जी के इस ग्रैंड भाव महाकाव्य को उनकी प्रतिनिधि कृति कहना अनुचित न होगा।” कथन विचारणीय अनेकानेक बिंदु छोड़ जाता है—

“जगत का अविरत हतकंपन/तुम्हारा ही भय-सूचनः/  
निखिल पलकों का मौन पतन/तुम्हारा ही आमंत्रण।”  
(परिवर्तन, पंत)

‘परिवर्तन’ में परिवर्तन की धार कितनी तेज है इसे शांतिप्रिय द्विवेदी के कथन के आलोक में देखा जा सकता है “परिवर्तन कविता में कवि की विशेषता है कि उसने दर्शनशास्त्र की शुष्कता में काव्य का रस-संचार कर दिया है। ‘पल्लव’ के अन्य चित्रपटों पर सधी हुई तूलिका ने परिवर्तन में यह प्रशस्त चित्रपट पा लिया है। इसमें सभी छंदों का, सभी रसों का समावेश हुआ है। अनेक महाकाव्य हैं, किंतु बिना किसी कथा के केवल भाव और कला का इतना विशुद्ध काव्य खड़ी बोली में अन्य कोई नहीं है “कथन कवि एवं कविता की शक्ति का साक्षात् प्रमाण ही पंत का परिवर्तन युग परिवर्तन का द्वार है। विश्वंभर नाथ मानव की दृष्टि में परिवर्तन का महत्त्व यह कि महत्त्वपूर्ण विचार प्रधान रचना है। यह वह रचना है जिसमें कवि व्यापक दृष्टि से सृष्टि की घटनाओं पर विचार करता है। मानव जी का संकेत युग परिवर्तन की ओर संकेत है—

“लक्ष्य अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरंतर  
शत-शत फेनोच्छवासित, स्फीत फुतकार भयंकर  
धुमा रहे हैं घनाकार जगती अम्बर!  
मृत्यु तुम्हारा गरल दंत, कंचुक कल्पांतर,  
अखिल विश्व की विवर  
वक्र कुण्डल दिग्मंडल।” (परिवर्तन, पंत)

‘परिवर्तन’ की चिंगारी से शायद ही कोई विचारक रहा होगा जिसने कलम न चलाई हो। निराला जी परिवर्तन पर विचार करते हुए लिखते हैं, “परिवर्तन निःसंकोच किसी भी बड़े कवि की कविता से मैत्री कर सकता है।” पंत जी ने स्वयं इसे पल्लव की प्रतिनिधि रचना घोषित करते हैं। परिवर्तन के कथ्य एवं तथ्य का सही, सहज मूल्यांकन तभी संभव है। जब भावक काव्य के दोनों पक्ष अनुभूति एवं अभिव्यक्ति का सहजीकरण से। तभी हम ‘परिवर्तन’ कविता की सार्थकता और निर्यकता पर विचार-वार्ता, चिंतन—

मनन कर सकते हैं।

“आज कहाँ वह पूर्ण-पुरातन, वह सुवर्ण-काल ?  
भूतियों का दिगंत-छवि-जाल,  
ज्योति-चुम्बित जगती का भाल ?  
राशि-राशि विकसित वसुधा का वह यौवन-विस्तार ?  
स्वर्ग की सुषमा जब साभार  
धरा पर करती थी अभिसार।” (परिवर्तन, पंत)

परिवर्तन कविता पर दृष्टिपात करते ही हमारे मानस पटल पर प्रश्न उभरता है कि प्रकृति के उन्मुक्त यौवन के मधुप सदृश्य कुसुमपियालों में पान करने वाला कवि एकाएक जीवन की क्षणभंगुरता पर कैसे विचार करने लगता है। कौन से कारण हैं जो कवि के चिंतन की दिशा को प्रभावित करते हैं। परिवर्तन की रचना प्रक्रिया का बीज पंत के आंदोलित जीवन के तह में बीज रूप में विद्यमान है। १९२० के आस-पास पंत जी के पिता की मृत्यु और कवि पंत का लंबे समय तक बिमारी की गिरफ्त में होना, औपनिवेशिक सत्ता का दमन चक्र साहित्य चेतना के उभार का दौर, गाँधी के अहिंसात्मक आंदोलनों की बनती जमीन, आदि कारण पंत जी के विचारों को आंदोलित करते हैं। प्रकृति का सुकुमार चितेरा, सौंदर्यद्रष्टा कवि पंत का जीवन के कटु सत्य से साक्षात्कार होते ही सौंदर्य द्रष्टा की जगह जीवन के यथार्थ सत्य ने कवि को मानवद्रष्टा बना दिया—

प्रसूनों के शाश्वत-श्रृंगार,  
(स्वर्ण-भृगों के गंध-विहार)  
गूंज उठते थे बारंबार,  
सृष्टि के प्रथमोद्गार!  
मग्न सुंदरता थी सुकुमार,  
ऋद्धि और सिद्धि अपार!  
आये विश्व का स्वर्ण-स्वप्न, संसृति का प्रथम-प्रभात,  
कहाँ सत्य, वेद-विख्यात ?  
दुरित, दुःख, दैन्य न थे सब ज्ञात,  
अपरिचित जरा-मरण-भू पात!

पंत जी अब मात्र प्रकृति की कोमलता, सुकुमारता एवं मधुरता के उपासक नहीं बल्कि जीवन की कठोरता, निष्ठुरता और नृशंसता को भी शब्दबद्ध किया, अपने समय को मुखर वाणी प्रदान की। प्रकृति के चितेरे को जीवन की

खुरदुरी जमीन का पता चलता है जीवन में सदैव सौरभ का मधुहास नहीं चलता। खुद जीवन कभी-कभी भार मालूम पड़ने लगता है। परिवर्तन शाश्वत सत्य है, जो यौवन के उभार के कारण रंगीन, सौंदर्यपूर्ण जान पड़ता है, वही कुछ समय के बाद मात्र हड्डियों का ढाँचा कंकाल मात्र शेष रहता है। सुख-दुःख की आँख-मिचौली और दिन-प्रतिदिन नई-नई स्थिति का मूल कारण 'परिवर्तन' है। यह परिवर्तन बड़ा ही कठोर पाषाण सरीखा है जिसका तांडव सतत चलता रहता है। परिवर्तन ही इतिहास का कारण बनता है। इसके कारण सुंदर से सुंदर नगर विनष्ट हो जाते हैं सजीव प्रतिमाएँ मृत हो जाती हैं, संपूर्ण चिर-संचित वैभव कला, कौशल आदि नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। संस्कृतियाँ काल के गाल में परिवर्तन कर देता है। परिवर्तन की गति से संपूर्ण वातचक्र घूम उठता है, चारों तरफ त्राहि-त्राहि मच जाती है

“तुम नृशंस जगती पर चढ़ अनियंत्रित,  
करते हो संसृति उत्पीड़न, पद मर्दित,  
नग्न नगर कर, भग्न भवन, प्रतिमाएँ खण्डित  
हर लेते हो विभव, कला, कौशल चिर संचित!  
आधी, व्याधि, बहुवृष्टि, वात, उत्पात, अमंगल  
वहिन, बाढ़, भूकंप-तुम्हारे विपुल सैन्य दल:  
आहे निरंकुश! पदाघात से जिनके विह्वल  
हिल-इल उठता है टलमल  
पद दलित धरातल!” (परिवर्तन, पंत)

‘परिवर्तन’ कविता को दार्शनिक दृष्टि से विचार करने पर लक्षित होता है कि पंत जी जीवन जगत की क्षणभंगुरता, निस्सारता, नश्वरता एवं अचिरता का भावपूर्ण विश्लेषण किया है। परिवर्तन को प्रज्ञा शाश्वत सत्य का स्वरूप बताया है। परिवर्तन की आँखों के लावण्य का अनूप कहकर ‘सुंदर’ माना है। शिवत्व से जोड़कर देखा है। ब्रह्मांड की संपूर्ण गतिविधियों का कारण स्वरूप है। परिवर्तन को पंत जी ने निराकार एवं साकार दोनों बताया है। परिवर्तन के ही रूप, सूर्य, चंद्रमा, पृथ्वी, ग्रह, उपग्रह, तारे हैं परिवर्तन से ही दिशा, अवधि, कर्म, वचन, मन, गोचर-अगोचर एवं चिरंतन सत्य माना है। ‘परिवर्तन’ में पंत जी विश्व की अचिरता, निस्सारता, नश्वरता का वर्णन किया

है तो दूसरी ओर परिवर्तन की चिरंतनता शाश्वत एवं अविनश्वर माना है। जीवन जगत की स्थिति सदैव एक सी नहीं रहती। जीवन में कभी दुःख है तो कभी सुख है, दिन है तो रात है, कभी वैभव है तो कभी दारिद्र्य है, उत्थान है तो पतन है। अतः सुख-दुःख, रात-दिन उत्थान-पतन, प्रकाश-अंधकार अनित्य शाश्वत है, अनवरत वात्याचक्र की तरह गत्यात्मक है। एकमात्र जीवन-जगत सत्य है, शाश्वत और चिरंतन है। अतः इसके साथ होने वाला परिवर्तन भी चिरंतन सत्य है-

अहा दुर्जेय विश्वजित!

नवाते शत सुरवर नरनाथ

तुम्हारे इंद्रासन-तल माथ:

धूमते शत-शत भाग्य अनाथ,

सतत रथ के चक्रों के साथ। (परिवर्तन, पंत)

‘परिवर्तन’ कविता की अनुभूति जितनी प्रौढ़, पुष्ट, प्रखर एवं प्रगल्भ है उसकी अभिव्यक्ति भी उतनी ही प्रकृष्ट, प्रांजल एवं प्रवाहपूर्ण है। अभिव्यक्ति मूलाधार की भाषा है और भाषा ही भावों का वहन करने में पूर्ण समर्थ है। तीव्र प्रवाह के साथ शुरू से अंत तक प्रवाहमय बनी रहती है। कवि ने तरुण भावों के अनुकूल कोमल एवं सरस वर्णों का प्रयोग किया है। पंत जी ने अपने शब्द सामर्थ्य से मानव जाति की सभ्यता का उत्थान-पतन, वृद्धि-विनाश, परिवर्तन, अवर्तन सब कुछ सजीव चित्रित करने का प्रयास किया है। कवि ने ध्वनि एवं शब्द के साम्य आधार पर ऐसे-ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जो भावों को प्रेषित करने में पूर्ण समर्थ है यथा- धहर-धहर, गरज-गरज, अधर-मधुर, नग्न-नगर, आधि-व्याधि, शत-शत, बालकी-नाल, चुन-चुन आदि।

अलंकारोंकी योजना भी गजब की है। उपमाओं की विशेष छटा द्रष्टव्य है- ‘खोल जगत के नैन से लोचन, गिर-गिर पड़ते भीत पक्षी-पोतो से उडगन, शिशिर सा नैनो का तीर, इंद्रधनुष की छटा विशाल, तुंग-तुरंगों से सतयुग आदि। रूपक अलंकारों की योजना-कचों के चिकने काले व्याल, अस्थि पंजर का दैत्य दुकाल, अहे वासुकी सहस्र फैन, मृत्यु को गरल दंत, गालों के फूल विभव की विद्युत ज्वाल, हिम जल हास आदि रूपकों की छटा में पंत जी ने

भावों की सहज सजीव अभिव्यक्ति प्रदान की है। मानवीकरण की छटा अनुपम है। लाक्षणिक प्रयोग यथा- बिना आँसू के जीवन भार, आठ आँसू रोते निरुपाय, छीन गया गोद का बाल, हुए कल ही हल्दी के हाथ, वे अपलक चार नयन, गूँजते हैं सबके दिन चार आदि की योजना से पंत जी कविता को अधिक सरस, सरल एवं सजीव बनाने का प्रयास किया है।

कविता की भाषा भावों को वहन करने में पूर्ण समर्थ है। छंदों को भावों के अनुकूल डालने का प्रयास किया है अर्थात् परिवर्तन की धार सतत गत्यात्मक है-

“अखिल यौवन के रंग उभार, / हड्डियों के हिलते कंकाल / कचों चिकने काले व्याल / केंचुकी, कांस, सिवार / गूँजते सबके दिन चार / सभी फिर हाहाकार।”

पंत जी ने परिवर्तन के दौर में परिवर्तन की कठोरता एवं क्रूरता के बिंब को अंकित करने के लिए गुरु गंभीर छंदों का प्रयोग किया है। ‘परिवर्तन’ में पंत जी ने सृष्टि चिर शाश्वत सत्य परिवर्तन को भी चिरन्तरता का वर्णन करके विश्व के परिवर्तनशील स्थिति का जीवंत चित्र उपस्थित किया है। जहाँ सौंदर्य है, माधुर्य है, कलात्मकता, गति, यति सहजता, सरलता, कोमलता, कल्पना, पौरुष के साथ श्रृंगार, वीर, भयानक, करुण, शांत, वीभत्स आदि रसों का सुंदर समन्वय किया है। पंत जी की प्रकृतिपरक जीवन दृष्टि ‘परिवर्तन’ तक आते-आते छीजने लगती है। कवि जीवन चिंतन की ओर उन्मुख होता है। प्रकृति का आराधक संपूर्ण मानवता की चिंता में चिंतन करने लगता है। परिवर्तन कविता में पंत जी अतीत से वर्तमान का तुलनात्मक अध्ययन

करते हुए जीवन-जगत, अचरिता, अस्थिरता, असारता, अनित्यता भावपूर्ण व्यवहारिक अंकन करता है और परिवर्तनशील शाश्वत चिरंतनता को सिद्ध करते हुए संसार के एकमात्र सत्य ‘परिवर्तन’ को ही सत्यम्, शिवम् एवं सुंदरम् का पर्याय निराकार के रूप में स्थापित करता है। निःसंदेह परिवर्तन कविता दार्शनिक, सांसारिक, व्यावहारिक एवं यथार्थवाची चेतना की कविता है। हमें क्षणिक सत्य का आभास कराकर जीवन सत्य के चरम का ज्ञान कराती है। परिवर्तन में क्रांति की उग्रता या तीक्ष्णता न होकर उसके स्थान पर संपूर्ण नये समाज के, नये मानवीय संबंधों एवं सद्भावना का स्वर मुखर हुआ है। पंत जी का कथन द्रष्टव्य है- “देश के युगव्यापि अंधकार में फैले मध्यकालीन सांस्कृतिक उर्ध्वमूल अश्वस्थ को जड़ और शाखा से उखाड़ फेंकना होगा और उस सांस्कृतिक चेतना के विकास के लिए देशव्यापी प्रयत्न, विचार, संग्राम करना पड़ेगा। मूल हमारे परिस्थितियों में हो।” परिवर्तन में अंधजड़ता के विरुद्ध, सतर्क किया है तथा जीवन की तमाम समस्याओं के ऊपर परिवर्तन के हथौड़े की चोट की है, रूढ़, रुग्ण जगत को संभावनाओं को बल दिया है। पंत नवीन बोध के ज्योति स्वरूप है, काव्य द्वारा उन्होंने सामंतीय जीवन बोध से अलग लोकतांत्रिक चेतना के प्रचार प्रसार में जन अनुरूप नूतन सौंदर्य और तदनुरूप नव मानव बोध की चेतना एवं शक्ति पर बल दिया है। परिवर्तन के द्वारा हम पूर्व संचित छोड़कर नव स्वरूप, नवसंग्रह, नवराग तथा नवकोश प्राप्त करते हैं।

#### संपर्क :

123, ओशियन व्यू, आर.एन.पी. पार्क ( भाईन्दर )

पूर्व ठाणे, मुंबई, पिन- 410014

Email :shuklaumeshchandra@gmail.com

## संस्कृत काव्यशास्त्र की समस्याएँ

डॉ. जगदीश्वर चतुर्वेदी

आचार्य, हिंदी विभाग

कलकत्ता विश्वविद्यालय, कोलकाता

काव्यशास्त्र की एक प्रमुख समस्या है नए अर्थ की खोज। नए अर्थ की खोज के लिए आलोचकों ने रूपतत्त्वों को मूलाधार बनाया, जबकि वास्तविकता यह है कि नया अर्थ रूप में नहीं समाज में होता है। रूप के जरिये नए अर्थ की खोज के कारण संस्कृत काव्यशास्त्र भाववादी दर्शन की गिरफ्त में चला गया। इसके लिए रूप केन्द्रित मॉडल को चुना गया, समाज को अर्थ की खोज में शामिल नहीं किया गया। इस अर्थ में काव्यशास्त्र का समूचा कार्य-व्यापार रूपों तक ही सिमटकर रह गया। मसलन्, संस्कृत के किसी आलोचक ने किसी कृति का विस्तार के साथ मूल्यांकन नहीं किया। इसके कारण संस्कृत काव्यशास्त्र आरंभ से ही एक समस्या रही है वह रूपों के प्रयोगों का शास्त्र है। नए-नए रूपों की खोज और निर्माण की जितनी कोशिशें काव्यशास्त्रियों ने की हैं उतनी कोशिशें उन्होंने नई अंतर्वस्तु को खोजने में नहीं की। काव्यशास्त्र की सबसे सुंदर बात यह है कि इसके सभी स्कूल आवयविक तौर पर एक-दूसरे से जुड़े हैं।

मसलन्, आरंभ रस से हुआ, जो अलंकार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति सिद्धांत तक पहुँचा। पूर्ववर्ती आलोचना से नई आलोचना अपने को अलग तो करती है लेकिन पुराने को अंदर समेटे रहती है। नई और पुरानी आलोचना में अंतर्क्रियाएँ चलती रहती हैं। इस तरह काव्यशास्त्र में आवयविक एकता बनाए रखते हैं। यह आवयविक एकता बेहद जटिल है। इसमें सामाजिक यथार्थ के सत्य गुंथे हुए हैं। दिलचस्प बात तो यह है कि सतह पर विभिन्न आलोचना स्कूलों में जो भेद दिखते हैं वे मूलतः रूपों के प्रयोगों को लेकर हैं। लेकिन इनमें भेदों में युगीन वैचारिक अंतर्विरोध चले आए हैं।

काव्यशास्त्र के रूपों के विवाद में जाने का अर्थ है भाषिक संरचनाओं में प्रवेश करना और भाषिक संरचनाओं के भेद के जरिये अर्थ भेद की खोज करना। यही वजह है शब्दार्थ सबके यहाँ अपनी सुनिश्चित जगह बनाए रखता है। पुराने काव्यशास्त्रियों ने प्रभावशाली भाषा के प्रयोग पर खासतौर पर जोर दिया है। राममूर्ति त्रिपाठी के अनुसार प्रभावशाली भाषा का जन्म होता है प्रयुक्त शब्द में 'क्षमता' भर देने से। 'क्षमता' को काव्यशास्त्रियों ने 'व्यंजना' कहा है। इसी 'क्षमता' को 'आत्मा' कहते हैं। यहाँ प्रभावी का अर्थ यह है कि रचनाकार की 'क्षमता' के सामने सारे नियम नत-मस्तक रहें। रचनाकार वही है जो विशिष्ट अर्थ की सृष्टि करे। 'सामान्य' अर्थ की उक्ति को रचना नहीं कहते। 'सामान्य' जब तक 'विशिष्ट' में मंडित होकर सामने नहीं आता तब तक रचना प्रभावशाली नहीं बनती। यह शास्त्र रचना में अंतर्निहित अर्थ की विभिन्न स्कूलों के जरिये खोज तो करता है। रचना में अंतर्निहित अर्थ को उद्घाटित करता है, लेकिन भाववादी नजरिये से।

आलोचना का काम में रचना में छिपे तत्त्वों की खोज करना, साथ ही सत्य की खोज करना। रचना में जिस तरह सत्य छिपा रहता है उसी तरह झूठ भी छिपा रहता है। संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने छिपे अर्थ को खोजा लेकिन सत्य को नहीं खोजा, वे झूठ को ही बार-बार बताते रहे। जिनको साहित्यिक रूढ़ियाँ कहा जाता है वे असल में आलोचना के झूठ हैं। प्रत्येक आलोचना स्कूल ने अपने तरीके से इन रूढ़ियों को निर्मित किया, ज्योंही आलोचना रूढ़ि बनने लगी, नए आलोचना स्कूल का जन्म हुआ, उसने भी नए पर जोर दिया लेकिन सत्य को स्थापित नहीं किया, फलतः वह भी एक अवधि के बाद रूढ़ि बन गया।

काव्यशास्त्रियों की आयरनी यह है कि वे अर्थ खोजते हैं, सत्य नहीं सत्य से रहित आलोचना क्रमशः प्रासंगिकता खो देती है। संस्कृत के रचनाकार और आलोचक दोनों के साथ मुश्किल यह है कि वे सत्य से जुड़े सवालों को संबोधित ही नहीं करते। इसी तरह हर रचना में अनेक स्तर होते हैं। आलोचक अपने तरीके से इन स्तरों पर विचरण करता है, आलोचना लिखता है। इस क्रम में प्रत्येक स्तर पर छिपे अर्थ की खोज करता है। सवाल यह है कि छिपे को खोजते समय वह सत्य को क्यों खोजता? वह काल्पनिक चीजों और काल्पनिक अर्थों की विभिन्न रूपों में व्याख्या करने पर क्यों जोर देता है? इसका एक ही उत्तर है काव्यशास्त्री और लेखक दोनों का समाज से अलगाव है। वे समाज से कटे हुए हैं। इसलिए वहां रचना के सुंदर प्रयोग मिलेंगे, सुंदर रचनाएँ मिलेंगी, नए-नए छंदों, अलंकारों और नई चमत्कृत करने वाली भाषा मिलेगी लेकिन सत्य को खोजने की कोई पहले दिखाई नहीं देगी। वे कल्पना में निपुण हैं लेकिन कल्पना के साथ समाज के संबंध को लेकर अनभिज्ञ हैं।

**रूप और विचारधारा-** संस्कृत काव्यशास्त्र को सामाजिक-आर्थिक-राजनैतिक परिस्थितियों को जोड़कर देखने से सतह पर लगता है कि उसकी भौतिकवादी व्याख्या हो गयी, लेकिन वस्तुतः यह व्याख्या किसी खास निष्कर्ष पर नहीं पहुँचाती। इसमें रचना के रूपों का अक्षय भंडार है अभिव्यक्ति के लिए अनंत विकल्प हैं। सवाल उठता है रूपों के विकल्पों पर इतना क्यों जोर दिया गया? क्या

रूप-संरचना कोई विचारधारा होती है? इस प्रसंग में सबसे महत्वपूर्ण सवाल यह है रूप का सामाजिक आधार क्या है? दिलचस्प बात है भरत से लेकर पंडित जगन्नाथ कविराज तक रूप का आधार भाषा है। भरत ने लिखा 'छन्दोहीनो न शब्दोस्ति न छन्दः शब्द वर्जितम्' यानी उन्होंने शब्द मात्र को छन्द माना। इस क्रम में उन्होंने छन्द और शब्द को अन्योन्याश्रित माना। भरत ने ३६ काव्यलक्षण, १० काव्यदोष, इनके अभाव में १० काव्यगुण, ४ अलंकार आदि का विवेचन किया। 'प्रवृत्ति' का जिक्र किया जिसे कलांतर में 'रीति' के नाम से विस्तार दिया। इसके अलावा रस और उसके विभिन्न पहलुओं पर विस्तार से विचार किया।

किसी भी कृति और उसकी रूप संरचनाओं का आस्वाद पाठक सुनिश्चित सांस्कृतिक परिस्थितियों और सांस्कृतिक परंपराओं में रहकर ही लेता है, ये परंपराएँ लगातार बदलती रही हैं, इनको सांस्कृतिक आदतें कहें तो समीचीन होगा। सांस्कृतिक आदतों के निर्माण की प्रक्रिया विचारधारा से बनती है लेकिन क्रमशः विचारधारा से मुक्त हो जाती है, जिसे हिंदी वाले संस्कार भी कहते हैं। सवाल यह है कि आदतों और रूपों के बीच की अंतर्क्रिया को कैसे देखें? हमने भाषा, रूप और विचारधारा पर तो विचार भी किया है लेकिन आदतों के संदर्भ में विचार नहीं किया है। सच्चाई यह है भरत ने जिन तत्त्वों की नाट्य के संदर्भ में व्याख्या की, जिन धारणाओं का प्रतिपादन किया उन सभी ने एक तरह से रचना और आलोचना में काव्य संस्कार के रूप में जगह को बना ली। आलोचना की धारणाएँ जब काव्यशास्त्र की परंपरा में आईं तो वे संस्कार के रूप में आईं, नए काव्यरूपों को भी इन्हीं आदतों के फ्रेमवर्क में विकसित किया गया। इनमें सतह पर एक-दूसरे की मूल मान्यताओं को अपदस्थ करने की कोशिश दिखती है लेकिन पुराने रूपों और अवधारणाओं को समाहित करते हुए। इससे काव्यशास्त्र में नई ऊर्जा का संचार हुआ है। काव्यशास्त्र के नए रूप और नई अवधारणाएँ सामने आईं। ये वस्तुतः आलोचना के नए ऊर्जा स्रोत हैं, पुरानी अवधारणाएँ जब ऊर्जारहित होने लगीं तो आलोचकों ने नए ऊर्जा स्रोत खोजे और उस क्रम में नए सिद्धांत सामने आए। इन तमाम

परिवर्तनों की मुख्य विशेषता यह है रूप-तत्त्व ही मूलाधार है। रूप-तत्त्व को सजाने-संवारने में जितनी ऊर्जा खर्च की गयी वह प्रशंसनीय है और सारी समस्याओं, आलोचनात्मक जड़ता या रूढ़िगत प्रतिमानों और रूढ़िगत लक्षणों का गोमुख भी यही है। प्रचछन्नतः संकेत है कि आलोचना शाश्वत नहीं, परिवर्तनीय है।

संस्कृत काव्यशास्त्र की धुरी है 'रस', इसके ही आधार पर सारी धारणाएँ काव्य के संदर्भ में निर्मित की गयीं। पुरानी धारणाओं पर सवाल उठाए गए, उन सवालों को खासतौर पर उठाया गया जो अनदेखे थे। नए आलोचना स्कूल सामने आए। आलोचना में परंपरा शुरू हुई। लेकिन मुख्य जोर नई अवधारणाओं की खोज पर था। पुरानी आलोचना के सभी पहलुओं पर निरंतर हर आलोचक ने बात की है लेकिन उसका मुख्य लक्ष्य है नये की ओर चलो। सतह पर विभिन्न आलोचना स्कूल पुराने रूपों की आलोचना करते हैं लेकिन उनका मूल जोर नए रूप तत्त्व की खोज पर है। सारे आलोचक अपनी एकल धारणा पर जोर देते हैं। किसी के लिए रस प्रमुख है, किसी के लिए अलंकार प्रमुख, किसी के लिए रीति, किसी के लिए वक्रोक्ति। इस क्रम में रस के बाद जो धारणाएँ आई हैं वे अपने साथ किसी न किसी तरह की शब्द इमेज लेकर आईं। मसलन्, अलंकार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति में भाषिक इमेज महत्वपूर्ण है। इस क्रम में बड़े पैमाने पर प्रतीकों और बिम्बों की रचनाकारों ने सृष्टि की। सभी आलोचना स्कूल विस्तार से जब अपनी धारणाओं का विवेचन करते हैं तो उस समय प्रतीक-बिंब आदि का सबसे ज्यादा प्रयोग करते हैं। इस क्रम में वे अपरिवर्तनीयता के नियम को चुनौती देते हैं, गैर-द्वंद्वत्मक चीजों को चुनौती देते हैं। इस तरह संस्कृत काव्यशास्त्र में रूप महज रूप के तौर पर नहीं आते, बल्कि रूपों के बहाने शाश्वत आलोचना की अवधारणा खंडित होती है। प्रत्येक स्कूल निष्पन्न ढंग से आलोचना की अवधारणाओं और उसके रूपों पर विचार करता है लेकिन अगला आलोचक उस निष्पन्नता को ही निशाना बनाता है, फलतः आलोचना में परिवर्तन का नियम दाखिल हो जाता है। संस्कृत आलोचना में 'आत्मा' की खोज मूलतः गैर-द्वंद्ववादी दृष्टियों का निषेध, शाश्वत

आलोचना, अपरिवर्तनीय आलोचना की धारणा का निषेध है, ये ६ स्कूल बताते हैं कि आलोचना परिवर्तनीय होती है, आलोचना में बहुलता अंतर्निहित है, वह शाश्वत या रूढ़ या जड़ नहीं होती। परिवर्तन की प्रक्रिया भी एकायामी नहीं होती बल्कि बहुआयामी होती है। आनंदवर्द्धन मानते हैं एक शब्द के अनेक व्यंग्य अर्थ होते हैं। उसी तरह शब्द का वाच्य अर्थ एक नहीं बल्कि अनेक होते हैं, मसलन्, देह, शरीर दोनों का वाच्यार्थ एक ही नहीं है, बल्कि भिन्न-भिन्न हैं। राममूर्ति त्रिपाठी ने सही लिखा है 'शरीर' एक सामान्य अर्थ व्यंजित करता है। जो 'देह', 'काम', 'तन' सबका वाच्य है। यहाँ शरीर सामान्य है और देह, तन, काम आदि विशिष्ट हैं। बिंब में इसके प्रयोग से चारुता पैदा होती है। इस अर्थ में माना गया कि शब्द का वाच्य अर्थ एक ही नहीं होता बल्कि भिन्न होता है। शरीर और देह कहने को पर्यायवाची हैं लेकिन इनमें अर्थभिन्नता भी है, इसलिए कहा गया वाच्यार्थ एक ही प्रकार के नहीं होते। अपनी विशिष्टता के कारण वाच्य का अर्थ कभी सहृदयश्लाघ्य होता है और कभी नहीं। इसलिए आनंदवर्द्धन ने कहा 'योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः। वाच्यप्रतीयमानारव्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।'।

संस्कृत काव्यशास्त्र का मॉडल एकल अवधारणा केन्द्रित है। लेकिन यह आलोचना में पूर्वापर संबंध मानते हुए विकास करता है। सतह पर आलोचना स्कूल में एक व्यक्ति का योगदान लगेगा लेकिन विस्तार में जाकर अध्ययन करेंगे तो पता चलेगा उसमें एकाधिक आलोचकों की धारणाओं का उपयोग किया गया है, इस नजरिए से देखेंगे तो संस्कृत काव्यशास्त्र एकल नहीं सामूहिक रूप में निर्मित आलोचना स्कूल है।

काव्यशास्त्रियों ने जो मॉडल चुने उनको देखें तो परिवर्तनों के नए क्षितिज नजर आएँगे। मसलन्, अलंकारशास्त्री भामह ने 'काव्यालंकार' में सबसे क्रांतिकारी अवधारणा दी, उन्होंने कहा, 'शब्दार्थो सहितौ काव्यम्' अर्थात् शब्द और अर्थ सम्मिलित रूप से एक ही काव्य के घटक होते हैं। भामह ने दूसरी महत्वपूर्ण क्रांतिकारी धारणा यह दी थी कि सभी काव्यतत्त्व अलंकार हैं। इस क्रम में उन्होंने उक्ति की वक्रता से लेकर, रीति, गुण, रस, आदि सबको अलंकार

में समायोजित कर लिया। यह समायोजन की कला असल में आलोचना को परंपरा से वर्तमान को जोड़ने की कला है। आलोचना कभी भी पूर्ववर्ती आलोचना के योगदान की अनदेखी करके अपना विकास नहीं करती। यही वह क्रांतिकारी समझ है जिनको सबसे पहले भामह ने प्रतिपादित किया। उसके बाद से समूची आलोचना आज तक इस नजरिए का पालन कर रही है।

युग बदल गए, व्यवस्थाएँ बदल गयीं, लेकिन आलोचना का परंपरा के साथ जो रिश्ता भामह ने तय किया वह अभी भी जारी है। एक अन्य चीज जो भामह ने की वह है सामान्य बोलचाल की भाषा से काव्यभाषा को अलग कर देना। सामान्य बोलचाल की भाषा से काव्यभाषा अलग होती है वक्रता के आधार पर। अभिव्यक्ति के बाँकपन को चारुता कहा गया, उसे रसवत् अलंकार की संज्ञा दी गयी। भाषा में साहित्य या काव्य के लिए वही मूल्यवान भाषा है जो लोकातिक्रांत उक्ति है, जिसे काव्यशास्त्री अतिशयोक्ति कहते हैं। यही अतिशयोक्ति अलंकार का मूलाधार है। कालांतर में इसे दण्डी ने काव्यशोभा के नाम से व्याख्यायित किया। भामह ने 'काव्यालंकार' लिखा तो रीति के आचार्य वामन ने 'काव्यालंकार-सूत्र' नामक ग्रंथ लिखा। यह ग्रंथ भामह के नजरिए को और ज्यादा विस्तार के साथ पेश करता है। इसमें 'अलंकार' और अलंकार्य' में भेद किया गया है। वामन अपने नजरिए का भामह के नजरिए के साथ संबंध बनाते हुए बड़े कौशल के साथ आलोचना का विकास किया। वे अलंकार को ही सर्वस्व नहीं मानते। वे पहले आचार्य हैं जो गुण या संरचना को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। उनका मानना है काव्य में सौंदर्य के जनक तत्त्व गुण हैं क्योंकि इनके बिना काव्य-शोभा असंभव है। वे अलंकारों के बिना भी शोभाजनक होते हैं जबकि अलंकार गुणों के बिना नहीं हो सकते। लिखा है 'काव्य-शोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। ये खलु शब्दार्थयोर्धर्माः काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणाः।'।

वामन ने भरत प्रतिपादित दस गुणों को ही अपने नजरिए का मूलाधार बनाया और उनको बीस गुणों में वर्गीकृत करके दस शब्द गुण और दस अर्थ गुण नाम दे दिया। यहां पर प्रतिपादित शैली या चीजें कैसे पेश की जाएँ इस पर मुख्य जोर है। ये ही गुण वामन के यहाँ रीति का मूलाधार

हैं। यह 'संरचना' की अवधारणा का प्रयोग करने वाला सबसे पहला सैद्धांतिक स्कूल है। वामन ने लिखा 'विशिष्ट पदरचना' ही रीति है। यहाँ वस्तुतः गुणों के समयाव का नाम रीति है। वामन के पास कई मायनों में भरत से विकसित नजरिया था, यह चीज उनके विवेकपूर्ण वर्गीकरण में नजर आती है। मसलन, भरत के यहाँ दोषाभाव को सर्वप्रथम गुण माना गया है। जबकि वामन ने एकदम उलट जाकर कहा गुणाभाव दोष है। वामन पहले आलोचक हैं तो संतुलन से काम लेते हैं और रेखांकित करते हैं गुण रहते हुए भी दोष हो सकते हैं।

दोष का अभाव एकदम दुर्लभ चीज है। इसी क्रम में वामन ने काव्य के स्वरूप पर लिखा, 'काव्यशब्दोऽयं गुणालंकार- संस्कृतयोःशब्दार्थयोर्वर्तते। भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनोऽत्न गृह्यते।' अर्थात् गुणालंकार-संपन्न शब्दार्थ ही काव्य है, लक्षणा से केवल शब्दार्थसंघात को काव्य कहा जाता है।

सवाल उठता है वामन के यहाँ काव्य क्या है? राममूर्ति त्रिपाठी ने लिखा 'लाक्षणीक रूप से शब्दार्थ समूह काव्य है, पर मुख्यार्थ में काव्य किसे कहा जाय? अलंकार-रहित काव्य को मान्य करके वामन परिभाषा में अलंकार का ग्रहण क्यों करते हैं? गुण भी स्वरूप निर्धारक तत्त्व नहीं, गुणहीन भी मनुष्य हो सकता है। वामन गुणों को ही काव्य का अंगसंघात मानते हैं। तब कहा जायगा कि अंगों (गुणों) की यथोचित योजना होनी चाहिए। इस पर वामन का विचार क्षीण है। इसके अलावा त्रिपाठी जी ने सही रेखांकित किया है कि 'वामन-कवि प्रयत्न के शैली पक्ष पर बल देकर विचार करते हैं। 'रस' पर खास जोर नहीं देते। वामन ने रीति के मूलाधार में गुणों को महत्त्व न देकर रीतियों को महत्त्व दिया और यह उनके नजरिये का सबसे बड़ा अंतर्विरोध है। सवाल यह है जब वे गुणों को काव्य के लिए अनिवार्य मानते हैं तो काव्यात्मा के रूप में गुणों की चर्चा करने की बजाय रीति को काव्यात्मा क्यों कहते हैं?

सवाल यह है 'काव्यात्मा' किसे कहते हैं? संस्कृत काव्यशास्त्री इस सवाल पर विचार नहीं करते कि काव्य का सर्वोत्तम तत्त्व क्या है, बल्कि वे इस सवाल पर विचार करते हैं काव्य-स्वरूप विवेचन में किसे प्राथमिकता दी जाय?



‘आत्मा’ का यहां अलंकारिक तौर पर प्रयोग किया गया है। यह ‘आत्मा’ काव्यशास्त्रियों के यहाँ एक जैसी नहीं है। काव्य-स्वरूप निर्धारण में उनकी प्राथमिकताएँ एक जैसी नहीं हैं, बल्कि वे एक से अधिक चीजों को प्राथमिकता देते हैं। मसलन, आनंदवर्द्धन आरंभ में ध्वनि (व्यंग्य) को काव्यात्मा मानते हैं लेकिन बाद में अंग-संघटना को प्राथमिक मानते हुए अंग-संघटना की तुलना लावण्य से करते हैं। जबकि लावण्य तो गुण है, इसलिए काव्यात्मा को गुण मानना चाहिए।

काव्यात्मा की समूची बहस एक ही चीज रेखांकित करती है कि काव्यात्मा में एकाधिक तत्त्व होते हैं, यानी काव्य-स्वरूप का विवेचन करते हुए अंतर्विषयवर्ती पद्धति से देखने की जरूरत है। आनंदवर्द्धन की तरह वक्रोक्तिजीवितम्कार ने अलंकार को काव्यात्मा माना, यानी उक्ति की वक्रता या अतिशयता को प्राथमिकता दी, यही बात भामह ने कही कि वक्रोक्ति अलंकारों का मूलाधार है। ठीक यही काम दण्डी ने किया, उन्होंने लिखा ‘काव्य-शोभा-करान्-धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते’, यानी दण्डी अलंकार का फलक व्यापक बनाते हैं और उसमें गुण, रस, रीति आदि सबको समाहित कर लेते हैं। जबकि वामन ने गुण और अलंकार में अंतर किया। उन्होंने अलंकार को बहिर्भूत तत्त्व माना। जबकि गुण को कृति में विशिष्टता अदा करने वाला तत्त्व माना। शब्दकृत और अर्थकृत विशिष्टता पैदा करने में गुण की केन्द्रीय भूमिका होती है। इसी के आधार पर लेखक विशिष्ट पद रचना करता है यही रीतियों का आधार है। इसलिए रीतियों पर नजर रखो। इसी तरह आनंदवर्द्धन ने ध्वनिमत में रीति का विरोध नहीं किया। बल्कि रीतियाँ सभी काव्यशास्त्रियों के यहां मान्य हैं। इसी तरह वामन भी रसविरोधी आचार्य नहीं हैं वे रस का विस्तृत विवेचन ‘कांति’ गुण में करते हैं। उनके अनुसार सरस रीतियाँ दो ही हैं- वैदर्भी और गौडी। रसेतर वस्तुओं के वर्णन के लिए उन्होंने पांचाली रीति को प्रमुखता दी है। इसी प्रकार ध्वनिकार ने तीन संदर्भों में ‘काव्यात्मा’ का प्रयोग किया है। लिखा है-

१. काव्यस्यात्मा ध्वनिः। यानी ध्वनि ही काव्य सार है। जो काव्य को काव्येतर से पृथक् करता है।

२. काव्यस्यात्मा स एवार्खस्तथा चादिकवेःपुरा।

क्रौंचद्वंद्वं-वियोगोत्थःशोकःश्लोकत्वमागतः।

यहां पर रस को ही काव्यात्मा माना है। अभिनवगुप्त ने इस पर लिखा वस्तु और अलंकार ध्वनियाँ रस-परिणत होकर ही चमत्कार लाती हैं, फिर भी ‘वाच्य’ अर्थ से विशिष्टता के कारण उन्हें ‘जीवित’ माना गया है। ‘जीवित’ यानी आत्मा अर्थात् श्रेष्ठ माना गया है।

अर्थःसहृदयश्लाघ्यःकाव्यात्मा यो व्यवस्थितः।

वाच्य-प्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुमौ स्मृतौ।।

उपरोक्त की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने साफ लिखा कि वाच्य भाग काव्यात्मा नहीं है। प्रतीयमान अर्थ ही काव्यात्मा है। वे मानते हैं सहृदय का चरम प्राप्य तो प्रतीयमान अर्थ ही है।

आचार्य कुंतक ने ‘आत्मा के स्थान पर ‘जीवित’ का प्रयोग किया, यह उनके ग्रंथ के नाम ‘वक्रोक्तिजीवितम्’ से ही स्पष्ट है। कुंतक ने ‘जीवित’ का तीन संदर्भों में इस्तेमाल किया है। वे ग्रंथ के आरंभ में ही घोषित कर देते हैं कि अलंकार ही काव्य-स्वरूप-निर्धारक हैं। इसको वे वक्रता के परिप्रेक्ष्य से व्याख्यायित करते हैं। इसमें वे कवि कौशल को उभारते हैं। कवि कौशल के कारण ही रस, स्वभाव और अलंकार इन तीनों में सामंजस्य स्थापित करने में मदद मिलती है। जबकि क्षेमेन्द्र ध्वनिवादी होकर भी ‘औचित्य’ को ‘काव्यजीवित’ मानते हैं।

इस समूचे विमर्श में मुख्य चीज है बोलचाल की भाषा और प्रस्तुतियों से काव्यभाषा और उसकी प्रस्तुतियों को अलग करना। यही वह बिंदु है जहाँ से समूचा काव्यशास्त्र विकसित हुआ। इसी क्रम में कविता क्या है और उसको कैसे पेश किया जाय, किन उपकरणों के जरिए रचा जाय आदि सवालों पर मूलतः विचार किया गया। काव्य प्रस्तुति के एकाधिक रूपों का निर्माण किया गया, रेखांकित किया गया कि दैनंदिन बोलचाल की भाषा से काव्यभाषा को भिन्न होना चाहिए, उसको व्याकरण की कसौटी पर खरा उतरना चाहिए। जबकि बोलचाल की भाषा में हम इस पहलू का ख्याल नहीं रखते। बोलचाल की भाषा में आमतौर पर भाषा और विवेकवाद के अन्तस्संबंध का ख्याल रखा जाता है, सिर्फ असामान्य स्थितियों में भाषा और विवेकवाद

के संबंध से विचलन नजर आता है, लेकिन सामान्य स्थितियों में यह संबंध बनाए रखते हैं। लेकिन काव्यभाषा का जो मॉडल काव्यशास्त्रियों ने विकसित किया उसमें रूढ़ियों, रूढ़िगत प्रतिमानों आदि कि प्रयोग की जो परंपरा आरंभ हुई उसने भाषा और अविवेकवाद के अन्तस्संबंध को बड़े पैमाने पर विकसित किया। यही वह प्रस्थान बिंदु है जहाँ से काव्यभाषा और काव्यशास्त्र का आम लेखकों और पाठकों से अलगाव बढ़ा, संस्कृत लेखकों का अलगाव गहरा हुआ, फलतः जीवन की समस्याओं से कविता दूर होती चली गयी।

काव्यभाषा में प्रयुक्त रूढ़िगत प्रतिमानों और रूढ़िगत भाषिक प्रयोगों का गहरा संबंध लेखक के दिमाग की बनावट से भी है। कवियों ने कभी जीवन के ज्वलंत प्रश्नों को कविता में नहीं उठाया, ये लोग काव्यरूपों की पीढ़ी-दर-पीढ़ी सृष्टि करने में इस कदर मशगूल रहे और यह भूल गए कि जो रच रहे हैं उसका यथार्थ से संबंध टूट चुका है। फलतः काव्यभाषा में काव्य-रूढ़ियों का ढेर लग गया। इसका गंभीर परिणाम यह निकला कि भाषा और सामाजिक चेतना में अलगाव बढ़ा। काव्यभाषा से संवेदनाएँ और भावुकता गायब होती चली गयी, सब कुछ परिष्कृत सजी-संवरी भाषा में आने लगा। भाषा के अमूर्तन में कवि खो गया। कवियों के यहाँ काव्य भाषा के वे ही रूप प्रचलन में रह गए जो उनके ज्ञान-भंडार का हिस्सा थे यथार्थ जीवन की नई भाषा और नए शब्दों का काव्यभाषा में न्यूनतम प्रवेश हुआ। यह एक तरह का काव्यभाषा में व्याप्त अविवेकवाद है इसका समाज में प्रचलित अंधविश्वास, पुनर्जन्म और कर्मफल के सिद्धांत से वैचारिक तौर पर गहरा संबंध है, इस पहलू की ओर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'मध्यकालीन बोध का स्वरूप' किताब में ध्यान खींचा है। कहने का आशय यह है कि संस्कृत की काव्यभाषा के रूप में अपनी विचारधारात्मक परिणतियाँ भी हैं जिनकी आलोचकों ने अनदेखी की है। काव्यभाषा के रूप में इन लोगों ने ऐसी भाषा रची है जो रहस्यात्मक, रूढ़िबद्ध और अविवेकवादी है।

संस्कृत की काव्यभाषा में भाषा और जीवन का अंतराल इस हद तक फैला हुआ है कि काव्यरूढ़ियों और यथार्थरूपों के बीच कोई संगति नहीं है। यानी लेखक जिस भाषा में

लिख रहा है और जिस भाषा में जी रहा है उसके बीच में महाअंतराल है। मसलन्, किसी लेखक ने लिख दिया कि चकवा-चकवी रात में एक दूसरे से नहीं मिलते तो हमने मान लिया, कभी उसने यथार्थ में यह जानने की कोशिश ही नहीं कि क्या वास्तव में ऐसा होता है! काव्यभाषा के रूप में यांत्रिक विचारधारारहित भाषा का पीढ़ी-दर-पीढ़ी उत्पादन होता रहा, कभी इस पर रुककर विचार नहीं किया गया, यही वजह है कि संस्कृत काव्यशास्त्र काव्यभाषा और विवेकवाद के अस्संबंध से जुड़े सवालों पर दार्शनिक और व्यवहारिक तौर पर विचार नहीं करता। वहाँ सिर्फ प्रस्तुति पर जोर है, प्रस्तुति की प्राथमिकताओं पर बहस है। वे यह जानने की कोशिश नहीं करते कि आम जनता के बीच में या सहृदय के बीच में इस तरह की भाषिक प्रस्तुतियों का क्या असर हो रहा है। वह सहृदय के काव्यभाषा से बढ़ रहे अलगाव को नोटिस ही नहीं लेते। इसके चलते काव्यभाषा में लगातार बेहतरीन प्रयोगों की बाढ़ आ गयी लेकिन इन प्रयोगों का आम जनता और सहृदय के साथ अपरिचय रहा। इस प्रक्रिया में ऐसी काव्यभाषा ने जन्म लिया जिसे अपरिचित भाषा कहना समीचीन होगा।

कला या काव्य का मूल लक्ष्य है सचेत अनुभवों को बरकरार रखना, उनको पुख्ता बनाना, लेकिन काव्यभाषा के इस तरह के रूढ़िगत, परंपरागत प्रयोगों ने जीवनानुभवों से भाषा को पूरी तरह काट दिया। सैंकड़ों साल हम इस तरह के प्रयोगों को संस्कृत काव्य में देखते हैं। नए-नए अलंकार, छंद और रूपकों की सृष्टि ने यांत्रिक भाषा को समृद्ध किया, यह ऐसी भाषा जिसमें सम-सामयिक युग नदारत है। सम-सामयिक परिस्थितियाँ नदारत हैं। इसने संस्कृत के लेखकों की आदत में शामिल भाषा के रूपों और प्रयोगों का उत्पादन और पुनरुत्थान बहुत किया।

संस्कृत काव्यशास्त्रियों की आलोचना का मूल ढांचा कुछ इस प्रकार है- मसलन्, वे पहले चिर-परिचित अवधारणाओं को उठाते हैं फिर उससे भिन्न प्रस्तुति रूपों को पेश करते हैं। इस तरह वे पहले वाली धारणाओं के प्रति अपनी समचेतनता प्रकट करते हैं लेकिन नए रूपों के जरिए अवधारणात्मक भेद पैदा करते हैं। इस क्रम में काव्य प्रस्तुति के अनेक विकल्प पेश करते हैं। इस क्रम में

वे काव्यशास्त्र के नए सिद्धांत को निर्मित करते हैं। आलोचनात्मक हायरार्की को निर्मित करते हैं। आलोचना में हायरार्की सबसे खराब तत्त्व है। हायरार्की का प्रवेश कुछ तरह होता है, मसलन्, प्रचलित अवधारणा पेश करो, पुरानी अवधारणा को अपनी धारणा के अंग के रूप में पेश करो और नई धारणा को प्राथमिकता से पेश करो। आलोचना में इस क्रम में नई धारणा प्राथमिक और पुरानी धारणा गौण होती चली गयी, यही वह समस्या है जिसने आलोचना में भेद की संस्कृति को जन्म दिया। इस तरह की प्रस्तुति का प्रधान लक्ष्य था प्रस्तुत विषय को चमत्कृत भाव से नई अवधारणा में पेश करना। नई अवधारणा पेश करते समय आलोचक पुरानी अवधारणा का जिक्र करना नहीं भूलता, इसके जरिये वह आलोचना में परंपरा क्रम को बनाए रखता है। यह एक तरह से आलोचना परंपरा को पेश करने का यह भाववादी ढंग है क्योंकि पुरानी आलोचना का विवेचन करते हुए अचानक वह नई अवधारणा पेश करता है, नई अवधारणा में उसका हठात् स्थानान्तरण और पुरानी अवधारणा के वर्चस्व से अपने को मुक्त करना वस्तुतः अपनी परंपरा से पृथक् करना है। यह नया रचने का मनोविज्ञान भी है। प्रस्तुति के नए रूपों की निरंतर खोज वस्तुतः नए को तो पेश करती है साथ ही 'सामंजस्य' के ऊपर बल देती है। जब भी नई आलोचना जन्म लेती है तो नए सिरे से सामंजस्य बिठाने की कोशिश करती है, समूचे साहित्यिक ढांचे का पुनर्मूल्यांकन करते हुए सामंजस्य बिठाने की कोशिश करती है। इस क्रम में नए वर्गीकरण, नए किस्म के रूपगत प्रभुत्व और नए काल विभाजन को भी जन्म देती है। यहाँ परंपरा का विकास वंशानुगत भाव से होता है। वे जिस नए की बात करते हैं वह पहले से परंपरा में उपलब्ध होता है, चाहे वो गैर-महत्त्व का हो। यही वजह है आलोचना परंपरा में 'वंश' की अवधारणा को वे बचाए रखते हैं। यही वजह है हमारे यहाँ वही नया मान्य है तो पहले परंपरा में हो, चाहे उपेक्षित हो। ऐसा नया जल्दी स्वीकार्य नहीं होता जो परंपरा के बाहर से आया

हो। इसने आलोचना में ठहराव को पैदा किया, आलोचना में नया तो आया लेकिन उसमें बदलाव की क्षमता नहीं थी। यही वजह है आलोचना में नए तत्त्व दाखिल तो होते हैं लेकिन देर से, तब तक वे अप्रासंगिक हो चुके होते हैं।

काव्यशास्त्र पर विचार करते हुए हमें तयशुदा निष्कर्ष निकाले वाली पद्धति से बचना चाहिए। आलोचना का काम पहले से लिखे हुए को बता भर देना नहीं है, आलोचना की समस्या यह है कि उपलब्ध काव्यशास्त्रीय अवधारणाओं का पुनर्मूल्यांकन करे, उसके अंदर दरारों या अंतरालों का उद्घाटन करे। आलोचना को पुराने मानकों के आधार पर न देखे। आलोचना पुरानी हो लेकिन उसके परखने के पैमाने आधुनिक होने चाहिए। पुरानी आलोचना यदि नए मानकों पर खरी उतरती है तो उसकी धारणाओं का नई अंतर्वस्तु के साथ इस्तेमाल करना चाहिए। इसके लिए जरूरी है कि प्रत्येक धारणा को नए सिरे से आलोचना की कसौटी पर कसा जाय। पुरानी और नई आलोचना में कहां संवाद हो सकता है उन बिंदुओं को निर्धारित किया जाय। हमें इस सवाल पर भी सोचना चाहिए कि साहित्यालोचकों ने काव्यशास्त्र का उपयोग क्यों बंद कर दिया? जबकि यूरोप में आज भी कोई भी आलोचनात्मक विमर्श अरस्तू, प्लेटो आदि के बिना नहीं होता। लेकिन हिंदी में त्रासदी है कि काव्यशास्त्र का अंत घोषित कर दिया गया। इसे परंपरा के साथ असंतुलन कहें तो बेहतर होगा। संस्कृत काव्यशास्त्र में पुनरावृत्ति बहुत है। उससे बचा जाना चाहिए।

एक अन्य समस्या यह है कि अधिकांश आलोचकों के केन्द्र में काव्य है, अन्य विधाओं में इस आलोचना का कैसे प्रयोग होगा इस पर विचार नहीं हुआ। महाकाव्य, प्रबंध काव्य आदि को केन्द्र में रखकर आलोचना का समूचा ढांचा बनाया गया। नाटक, संस्कृत, गद्य आदि पर विचार नहीं किया गया। दृश्य माध्यम को आधार बनाकर भरत ने नाट्यशास्त्र रचा लेकिन काव्यशास्त्रियों ने बिना कारण बताए दृश्य के नियमों को श्रव्य पर लागू कर दिया। सवाल यह उठता है क्या दृश्य के नियम श्रव्य पर लागू होते हैं?

#### संपर्क:

ए-8, पी 1/7, सी.आई.टी. स्कीम-VII एम  
कोलकाता-700054, मो. 09331762360

## कविता के प्रतिमान : एक बहस सुधीर रंजन सिंह

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में अंग्रेजी में स्वच्छन्दतावाद के विरुद्ध पांडित्यवाद का आगमन हुआ था। 'कविता' पाउंड के अनुसार 'गद्य के समान दुरुस्त रूप से लिखित होनी चाहिए।' कविता विद्वता और विचार की एक संस्था है। इसे एक साथ जटिल, सीधा-सादा और विवेक-सम्मत होना चाहिए। इस विचार के द्वारा कविता को मेटाफिजिक्स के प्रभाव क्षेत्र में लाया गया। अब कविता आस्वाद (टेस्ट) से अधिक समझने-समझाने का विषय हो गई : अकादमिक अध्ययन के वक्त। मोटे तौर, कविता भी पांडित्य, विचार अथवा मीमांसा (Critique) से आविष्ट लगभग उसी का हिस्सा हो गई। मुख्य प्रेरणा के रूप में कांट, कॉलरिज, क्रोचे और फ्रांसीसी प्रतीकवादी कवि पाल वेलरे आदि थे। इलियट को वेलरे के प्रतीकवादी सिद्धांतों का अंग्रेजी संस्करण कहा जाता है।

चौथे दशक के अंत में अमरीकी नई समीक्षा ने पदार्पण किया, जिसका दबदबा आगे के दो दशकों तक बना रहा। जॉन क्रो रेंसम, ऐलन टेट और क्लॉथ ब्रक्स कुछ ख्यात नाम हैं। रेंसम और टेट सिद्ध कवि थे। 'तनाव', 'विसंगति', 'विडंबना', 'जटिलता', आदि इनकी संकल्पनाओं ने मध्य बीसवीं शताब्दी और उसके आगे के दो दशकों को आक्रांत किए रखा। कविता लिखने और कविता समझने का अर्थ इन संकल्पनाओं से गुजरना था। बहरहाल, नई समीक्षा के साथ खास बात यह थी कि इसने स्वच्छंदतावादी प्रतिमानों के विरोध में आस्वाद की नई संकल्पनाएँ प्रस्तुत कीं। बिम्ब और प्रतीक के विश्लेषण की दृष्टि से यह प्रभावी साबित हुई। लेकिन रूपवाद में निहित जो जड़ता और यांत्रिक अनुकरणशीलता होती है, उसका शिकार होने में यह सबसे आगे रही।

हिंदी में कविता के नए प्रतिमानों के प्रति जो चिंता दिखाई पड़ी उसके पीछे इलियट की काव्य-दृष्टि, रिचर्ड्स की आलोचना पद्धति और अमरीकी नई समीक्षा की संकल्पनाएँ काम कर रही थीं। यह एक प्रकार से आधुनिक हिंदी कविता का रीतिकाल था। नए प्रतिमान क्या हैं, उन प्रतिमानों का उदाहरण कैसे दिया जाए, अनेक कवियों में इसकी खास चिंता दिखाई पड़ी। आलोचना में विशेष रूप से उन चीजों में दिलचस्पी ली गई जिनका संबंध प्रतिमानों से होता है। कुल मिलाकर कविता पढ़ने के बजाय उसे अकादमिक अध्ययन और बहस के विषय के रूप में देखा गया। कवि खुद इस बात के लिए तत्पर दिखाई पड़े। कवि और आलोचक का भेद लगभग समाप्त था। जो कवि बहस में भाग लेने की योग्यता नहीं रखता था, उसे खोखले समर्थन से काम चलाना पड़ा।

रीतिकाल में कविता शास्त्र से बँधी थी। यह बात भिन्न स्तर पर आधुनिक काल में नई कविता के साथ घटित हुई। कविता आलोचना के पिछलगू के रूप में दिखाई पड़ी। प्रतिमानों की चिंता से ग्रस्त होकर कविता रची गई। नई कविता के जन्मदाता अज्ञेय, मुक्तिबोध, शमशेर वास्तव में 'तनी हुई रस्सी' पर नाच रहे थे। पाउंड-इलियट की आधुनिकतावादी संवेदना के बावजूद उनका अंतःकरण समृद्ध और मौलिक था; परवर्ती कवि रघुवीर सहाय, कुँवर नारायण, सर्वेश्वर, केदारनाथ सिंह यथार्थ-चेतना और 'काव्यानुभूति की बनावट' के स्तर पर परिवर्तन ला रहे थे; लेकिन अन्य अधिकांश कवि उस दौर में 'कविता-कविता खेल रहे थे। खेलवाने का काम मुख्य रूप से आलोचना के जिम्मे था।

नई कविता के प्रतिमान के प्रश्न के साथ लक्ष्मीकांत वर्मा उपस्थित हुए थे। साहित्यिक प्रतिमानों को लेकर वे सुलझी हुई दृष्टि तो पेश नहीं कर सके, 'मानव विशिष्टता', 'अनुभूति का आधुनिक स्तर', 'क्षण' और उसके प्रति दायित्व जैसी अवधारणाओं को आगे करने और उनकी व्याख्या में एड़ी-चोटी एक करते रहे।

उस ज़माने में विजयदेव नारायण साही की 'लघुमानव' की अवधारणा चर्चा में रहती थी। 'नया मानव' शब्द भी खूब चला था। कविता और आलोचना 'क्षण', 'दर्द', 'व्यथा', 'मौन', 'अनुभूति की ईमानदारी' और 'प्रामाणिकता' जैसे शब्द और अवधारणाओं से लदफद गई थीं। एक जैसे वाक्य के टुकड़े और विचार कवियों और आलोचकों की लेखनी से स्त्रावित हो रहे थे। केदारनाथ सिंह जैसे कवि भी उस समय इस तरह की काव्य पंक्तियाँ लिख रहे थे—

*व्यथा को हक दो- वह भी अपने दो नन्हें-कटे हुए  
डैनों पर/आने वाले पावन भोर की किरन पहली/झेलकर  
बिखर जाए/झर जाए-नयी व्यथा के लिए!/माटी को  
हक दो- वह भींजे, सरसे, फूटे, अँखुआए/इन मेड़ों से  
लेकर उन मेड़ों तक छाये,/और कभी हारे/(यदि हारे)/  
तब भी उसके माथे पर हिले,/और हिले,/और उठती ही  
जाए-यह दूब की पताका-नए मानव के लिए!*

(नई कविता : खंड तीन, पृ. ७५-७६)

रघुवीर सहाय अपने गद्य में लिख रहे थे कि नई कविता अलग-अलग खोज है और 'संश्लिष्ट रूप में नए मानव की खोज ही नई कविता का धर्म है।'

संश्लिष्ट रूप में नए मानव की खोज! यानी नई कविता से पूर्व 'मानव' की खोज विखंडित रूप में हुई होगी। बात यह नहीं, उस ऐतिहासिक आवश्यकता की है जिसका सबसे पहले अनुभव बीसवीं शताब्दी के शुरुआती वर्षों में पश्चिम में पूँजीवादी समाज में मनुष्य की विसंगतियों के संदर्भ में किया गया था। मशीन के नियमनिष्ठ लय के दबाव में चित और उसके संसार में अपखंडन- भोगे हुए समय और घड़ी के समय के बीच तनाव- एक बड़े 'बंजरपन' का दृश्य उपस्थित कर रहा था। इसे आवाँगार्द कला में बेहतर ढंग से उकेरा जा सका। आवाँगार्द ने आत्मस्फूर्त के जरिये मानव चित की विडम्बनाओं की भरपाई भी की थी। लेकिन चौथे दशक के बाद आवाँगार्द में खास आकर्षण नहीं बचा। राजनीतिक उपयोगिता उसकी फिर भी बनी हुई थी। जिसे नई कविता में 'नया मानव' और 'लघु मानव' कहा जा रहा था, वह पैदा हुआ था आवाँगार्द कला में 'प्रामाणिक' अनुभव को पकड़ने के प्रयास किए गए थे। लेकिन बाद में वही 'मानव' शीतयुद्ध

की राजनीति का नायक बना। दूसरे शब्दों में, 'पाँचवे-छठवें दशक के पीछे मुड़कर देखें तो कहा जा सकता है वह कलाओं के उर्वर आंदोलन का दौर था, लेकिन बाद में उसी संलक्षण की कलाएँ शीतयुद्ध की राजनीति के हथियार बने।

एरिक हॉब्स ने शीतयुद्ध के संदर्भ में दार्शनिक थामस हॉब्स की एक पंक्ति उद्धृत की है- "युद्ध केवल वास्तविक लड़ाई के मैदान में नहीं लड़ा है, और यह न ही मुक्कम-मुक्की की क्रिया है, बल्कि किसी खास समय में लड़ाई की मानसिकता भी युद्ध है।" उस मानसिकता को बल देने में कला और उसकी संकल्पनाओं की भूमिका हो सकती है, शीतयुद्ध के दौरान यह बात बखूबी देखी गई। नई कविता में भी इस बात की पर्याप्त गंध थी। इसके प्रति मुक्तिबोध ने उसी समय आगाह किया था। उन्होंने कहा- 'नई कविता के बुर्ज से शीतयुद्ध की गोलन्दाजी' हो रही है। इसके साथ ही यह प्रतिपादित किया, "एक कला-सिद्धांत के पीछे एक विशेष जीवन-दृष्टि होती है, उस जीवन-दृष्टि के पीछे एक जीवन-दर्शन होता है, और उस जीवन-दर्शन के पीछे आजकल के जमाने में, एक राजनीतिक दृष्टि भी लगी रहती है।" मुक्तिबोध नई कविता के कला-सिद्धांत के ब्यौरे में नहीं गए, लेकिन उसके भीतर काम कर रही राजनीति से उनका परिचय था।

नामवर सिंह ने जब नई कविता दम तोड़ चुकी थी अमरीकी 'नई समीक्षा' की संकल्पनाओं और नई कविता के दौर की बहसों को निगाह में रखकर 'कविता के नए प्रतिमान' (१९६८) लिखी। पुस्तक विवाद और चर्चा में रही। मुख्य आरोप था - मार्क्सवादी आलोचक नामवर सिंह का 'रूपवादी झुकाव'। दूसरे संस्करण की भूमिका (१९७४) में जवाब में नामवर सिंह ने 'सापेक्ष स्वतंत्रता' की अवधारणा को आगे करते हुए जेरेमी हॉथॉर्न के हवाले से माना कि 'रूपवादी आलोचना के तत्त्वों का उपयोग मार्क्सवादी आलोचना को विस्तृत और समृद्ध करने के लिए हो सकता है।' आगे यह भी कहा कि 'अंग्रेजी 'नई समीक्षा' को 'साम्राज्यवादी साजिश' या 'पतनशील' पाश्चात्य प्रवृत्ति कहकर टाला नहीं जा सकता।' बात यहाँ जाकर समाप्त की कि मार्क्सवादी आलोचकों ने साहित्य की सापेक्ष स्वतंत्रता का सम्मान किया होता तो नई समीक्षा को पैर

फैलाने का मौका नहीं मिलता।

दूसरे संस्करण की भूमिका के चौदह साल बाद नामवर सिंह ने क्या कहा, उसे देखें। कहा कि नई कविता के दौर में चर्चित नई समीक्षा की 'अनुभूति की प्रामाणिकता', 'जटिलता', 'तनाव', 'विसंगति', 'विडंबना', 'ईमानदारी' आदि का उन्होंने जो परीक्षण किया था और अनेक की अपर्याप्तता और असंगतियों का जो संकेत किया था वह केवल तार्किक था। नई समीक्षा की ये संकल्पनाएँ रूपवादी हैं और तर्क के आधार पर किया गया उसका खंडन भी 'रूपवादी' कहलाएगा। सटीक शब्दों में, उन्हीं का कथन है, " 'कविता के नए प्रतिमान' का रूपवाद यह है कि उसमें रूपवाद की आलोचना भी रूपवादी ढंग से की गयी है— अर्थात् तार्किक आधार उसका खंडन किया गया है, ऐतिहासिक आधार पर नहीं किया गया है।' कौन-सी राजनीति काम कर रही है? कहा— 'शीतयुद्ध का काव्यशास्त्र' जिसके मूल में है 'विचारधारा का अंत'।

सवाल है कि 'कविता के नए प्रतिमान' की तार्किकता के मूल में नामवर सिंह ने जो कहा उसके अलावा क्या है?

'कविता के नए प्रतिमान' जिस समय लिखी गई थी नई कविता ने दम तोड़ा था, शीतयुद्ध ने नहीं। शीतयुद्ध समाप्त हुआ रेक्जिविक (१९८६) और वाशिंगटन (१९८७) की शिखर वार्ताओं के बाद। उसकी व्यावहारिक परिणति १९८९ में सोवियत साम्राज्य का बिखराव और १९८९-९१ के बीच सोवियत संघ के विघटन के रूप में दिखाई पड़ी। शीतयुद्ध की ठीक समाप्ति के बाद और सोवियत संघ के बिखराव-विघटन से थोड़ा पहले अप्रैल १९८८ में 'कविता के नए प्रतिमान' पर नामवर सिंह द्वारा दिए गए वे दो व्याख्यान, जो कि 'कथ्य-रूप' में छपे हैं, ऐतिहासिक आधार पर व्याख्या की माँग करते हैं।

शीतयुद्ध पूँजीवाद बनाम समाजवाद दो व्यवस्थाओं की विचारधारा का युद्ध था। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद लगभग डेढ़ दशक तक काँटे की टक्कर रही। १९६० के बाद समाजवादी धुरी कमजोर होने लगी थी। दशक के अंत तक जहाँ अमरीका, जापान और अमरीका-समर्थित यूरोप के देश बहुत आगे खड़े दिखाई पड़े, वहाँ सोवियत संघ और उससे संबद्ध देशों की स्थिति अच्छी नहीं थी। उनमें से

भारत भी एक था, जो स्वतंत्रता के पन्द्रह-बीस वर्ष गुजर जाने के बाद भी अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो पाया था। उस समय भी यह बहुत स्पष्ट था कि सोवियत संघ के समर्थन के जोर से समाजवादी आंदोलन का कुछ भला नहीं किया जा सकता, फिर भी हमारे कम्युनिस्ट उससे चिपके रहे। सारा खेल तर्क के स्तर पर चल रहा था। समाजवादी आंदोलन नहीं था, समाजवाद का तर्क था। तार्किकता आलोचना में दिखाई पड़ी हो तो इसमें आश्चर्य क्या!

यहाँ हम १९६७ के बाद आए परिवर्तन को याद कर सकते हैं। राजनीति और साहित्य में लड़ाकूपन का दौर शुरू हुआ। नक्सल आंदोलन ने देश व्यवस्था को भयभीत कर दिया था। प्रभाव उसका सीमित था, लेकिन चूँकि यह वास्तविक टकराव और संघर्ष का मामला था, इसलिए इससे डर भी स्वाभाविक था। नक्सल आंदोलन बड़ा अंजाम न ले, इसे ध्यान में रखकर 'तार्किक' वामपंथियों को बढ़ावा दिया गया। नामवर सिंह जिस जे.एन.यू. के सिरमौर हैं, उसके निर्माण के पीछे यह बात खासतौर पर कहीं जाती है।

शीतयुद्ध में अधिकांश राजनीतिक या साहित्यिक गतिविधि का कोई न कोई उपयोग था। मसलन नक्सली वाम ने सोवियत संघ को सामाजिक साम्राज्यवादी घोषित किया था, जो अमरीकी प्रचार के पक्ष में जाता था। पता नहीं इस बारे में आज नक्सल क्या सोचते हैं। राजनीति में स्वीकारोक्ति का साहस कम होता है। यह साहस साहित्य में होता है। नामवर सिंह ने १९८८ के व्याख्यान में 'एंड ऑफ़ आइडियोलॉजी' के लेखक डैनियल बेल के हवाले से स्वीकार किया कि 'अनेकार्थकता', 'विडंबना', 'तनाव', 'जटिलता' आदि शब्द जो साहित्य की आलोचना में इस्तेमाल किए गए वे अमरीकी राजनीति विभाग के अंग थे। मतलब अमरीकी राजनीति जो आख्यान रच रही थी, जो शब्दावली पेश कर रही थी उसके सहारे एक 'काव्यशास्त्र' बना। यह काव्यशास्त्र नई कविता और उस जमाने की राजनीति के अनुकूल बैठ रहा था। क्योंकि इसमें 'एक सुविधाभोगी समाज-दृष्टि का प्रतिमान' था। उसी प्रतिमान का उपयोग नामवर सिंह की कविता 'कविता के नए प्रतिमान' में हुआ है।

सुविधाभोगी समाज-दृष्टि का प्रतिमान! यह सच है। लेकिन शीतयुद्ध वाली बात को अलग करके देखें तो नई

समीक्षा में कुछ अच्छाइयाँ भी हैं। इसके अन्तर्गत सामान्य रूप से माना गया कि कविता अपने भीतर एक विषय है— “अ बिलीफ़ दैट दी पोइम्स डिस्कोर्स सम हाउ ‘इनक्लुडेड रियलिटी’ विदि इटसेल्फ़।” अपनी इस धारणा से इसने कविता को कवि और पाठक दोनों से पृथक् करने का काम किया। प्रचलित आलोचना में अब तक माना जाता था कि साहित्य महान व्यक्ति का उत्पाद है। नई समीक्षा ने इस धारणा से साहित्य में महान व्यक्ति के सिद्धांत को बेखटके तोड़ दिया। काव्यार्थ अब सार्वजनिक और वस्तुनिष्ठ था—यह साहित्यिक पाठ की भाषा में निहित था, न कि कब के दिवंगत हो चुके लेखक के मस्तिष्क में। कविता स्वयं में विषय है अर्थात् समाज है— इसमें समाज से विद्रोह की भावना निहित थी। पाँचवें दशक की नई समीक्षा में यह बात थी। छठवें दशक में नई समीक्षा पर अकादमिकता हावी हुई, और वह व्यवस्थावाद और राजनीतिक युद्ध के विषय का हिस्सा हो गई। इसकी संकल्पनाओं में, जैसा कि नामवर सिंह ने इंगित किया है, शीतयुद्ध की राजनीति भूमिका निभाने लगी। टेरी इगल्टन ने इसका खुलासा बेहतर ढंग से किया है। कहा कि कविता के प्रति नई समीक्षा की दृष्टि संतुलन-आधारित तर्कवृत्ति, विरोधी मनोवर्गों के अनिच्छुक सामंजस्य पर आधारित और शीतयुद्ध के टकरावपूर्ण सैद्धांतिकी के परीक्षण का विषय थी, जो उस समय संशयी बुद्धिजीवियों को आकर्षित कर रही थी।

नई समीक्षा में खास किस्म की तार्किकता थी, जिसका निश्चित परिवेश था। अब यह कहना कि ‘कविता के नए प्रतिमान’ में नई समीक्षा की संकल्पनाओं का किया गया परीक्षण तार्किक होने के नाते रूपवादी था, यह बदले हुए समय का तर्क है’ और यह कहना काफी नहीं कि नई समीक्षा का काव्यशास्त्र केवल सुविधाभोगी वर्ग और शीतयुद्ध के काम का विषय रहा था। मुक्तिबोध शीतयुद्ध के प्रभावों से भलीभाँति वाकिफ़ थे, लेकिन उन पर नई समीक्षा की दृष्टि का भी असर था। विरोधी मनोवर्गों की अभिव्यक्ति की प्रवृत्ति और उसकी संशयशीलता को वह दृष्टि सूट करती थी। इस प्रकार नामवर सिंह ने नई समीक्षा की संकल्पनाओं के आधार पर मुक्तिबोध की कविता की सार्थकता की जो जाँच की थी, वह अनुचित नहीं था। विसंगति और विडंबना पर

विचार करते हुए उन्होंने कितनी सधी हुई बात कही थी, “मुक्तिबोध की ‘चम्बल की घाटी में’ और ‘अँधेरे में’ जैसी भयावह त्रासदीय रंग की नाटकीय कविताओं के अंतर्गत काले बादलों को चीरकर बिजली की कौंध के समान हल्के-फुल्के संक्षिप्त प्रसंग झलक जाते हैं, जिनसे विडम्बना के सर्जनात्मक उपयोग का गहरा एहसास होता है।”

‘कविता के नए प्रतिमान’ की सीमा नई समीक्षा नहीं है। उसकी सीमा है अपनी ही मूल योजना के प्रति संशय, जिसके उसके लेखक का बाद-बाद तक पीछा नहीं छोड़ा। अपने समय और उसकी राजनीति को नजरअंदाज करके किए गए काम की यही सबसे बड़ी सीमा हो सकती है। १९६७ के बाद की राजनीति और साहित्य में आए परिवर्तन को ध्यान में रखकर नई कविता पर बहस की गई होती तो १९८८ में ‘कविता के नए प्रतिमान’ कह सीमाएँ गिनाने की जरूरत नहीं पड़ती। यहीं नहीं, नामवर सिंह जैसे समर्थ आलोचक द्वारा सार्थक प्रतिमानीकरण (कैननाइजेशन) भी संभव होता। नई कविता से अलग धारा की कविता और बाद की रचनाशीलता के संदर्भ में भी इसका खास महत्व हो सकता था।

बहरहाल, हमारा जोर प्रतिमानीकरण पर नहीं है। लगभग सभी प्रतिमानीकरण अन्ततः साहित्य की स्वायत्तता के बिंदु पर आकर ठहर जाते हैं। ‘सापेक्ष स्वतंत्रता’ अथवा उसके बदले में आया शब्द ‘अस्मिता और संबंध’, जिसका नामवर सिंह ने ‘कविता के नए प्रतिमान’ में पक्ष लिया है, भी निरापद नहीं है। प्रतिमानीकरण के साथ प्रायः यह प्रश्न जुड़ा होता है कि क्या साहित्यिक विषय निष्ठा और सामाजिक परिस्थिति में कोई अन्तर्संबंध होता है? अन्तर्संबंध पर विचार तो ठीक है, लेकिन उस क्रम में साहित्य के संबंध में एक ऊँची बात भी ठोक दी जाती है कि साहित्य में वास्तविक संसार की वैकल्पिकता की माँग होती है। इसका अर्थ यह निकला, पेटर बर्गर की एक पंक्ति के सहारे कहें, साहित्य ‘यथार्थ संसार का पूर्णतः ‘अन्य’ के रूप में विरोध करता है।’ तो यह है साहित्य की ‘अस्मिता’ और समाज से उसका ‘संबंध’। ‘स्वायत्ता’ अथवा ‘स्वतंत्रता’, बर्गर की विचारणीय सूझ है, विचारधारा के ढाँचे में संस्थानीकृत होती है। यानी साहित्य ‘स्वायत्ता’ अथवा ‘सापेक्ष स्वतंत्रता’ की धारणा के अन्तर्गत विचारधारात्मक ढाँचा है, और इस

रूप में 'छद्म चेतना' अथवा 'भ्रम' ही है (जैसा कि मार्क्स की 'जर्मन विचारधारा' को आधार बनाकर विचारधारा के बारे में एक समझ दिखाई पड़ती है) इस बात का विस्तार में जाने का यहाँ अवकाश नहीं है।

संक्षेप में, साहित्य-कविता- यदि विचारधारात्मक ढाँचा है, तो विचारधारात्मक ढाँचे में परिवर्तन लाने (उसे तोड़ने) की युक्ति भी है। इस स्तर पर 'सापेक्ष स्वतंत्रता' के सिद्धांत का महत्व सीमित हो जाता है। प्रतिमान प्रामाणिक विश्लेषण के दावे के साथ उपस्थित होने के बावजूद, ढाँचे को तोड़ने में प्रायः असफल साबित हुए हैं। प्रतिमान का काम प्रायः मूल्य-निर्णय देने का होता है। यदि मूल्य-निर्णय समग्र भी हो, जिसकी अपेक्षा नामवर सिंह ने की है, उन्हीं की शब्दावली में कहें, तो वह प्रायः 'संस्कार' से जुड़ जाता है। इस रास्ते वह साहित्यिक स्वातंत्र्यता को ही अधिक पुष्ट करता है। इस प्रकार साहित्य का पालिटिकल फंक्शन' अस्पष्ट रह जाता है। खुद आलोचना की राजनीति भूमिका घटती है, सामने उपस्थित चुनौतियों से निपटने की प्रवृत्ति घटती है। यदि आलोचक का वास्तव में चुनौतियों से निपटने का उद्देश्य हो तो आलोचना-कर्म को, वाल्टर बेंजामिन के सहारे कहें, किसी भी रूप में ऐसे कार्यक्रम पर आधारित करना चाहिए जो क्रांतिकारी राजनीति से प्रतिबद्ध हो। यहाँ बेंजामिन के अभिप्राय को ठीक-ठीक बताने का दावा तो मैं नहीं कर सकता, लेकिन मेरी समझ से 'क्रांतिकारी राजनीति से प्रतिबद्ध' का अर्थ उस राजनीति से नहीं, जो आलोचक की 'पसंद' और 'स्वार्थ' की सेवा करती हो; बल्कि उस राजनीति से है जो बदली हुई परिस्थितियों में व्यक्ति-इच्छा और संगठन इच्छा से ऊपर कार्यक्रम पेश करने का माह्न रखती हो। इस स्तर पर 'प्रतिबद्धता' का अर्थ 'अबौद्धिक जिद' नहीं रह जाता है। इस रास्ते, हमारी समझ से, व्यावहारिक सूझ पैदा होती है कि कैसे साहित्य विचारधारात्मक ढाँचा है और उसमें परिवर्तन की युक्ति भी। इस बिंदु पर नामवर सिंह द्वारा यह उपदेश देने का अवसर समाप्त हो जाता है कि मार्क्सवादी आलोचकों ने सापेक्ष स्वतंत्रता का सम्मान किया होता तो नई समीक्षा

को पैर फैलाने का मौका नहीं मिलता। नई समीक्षा को पैर फैलाने दीजिए न! उसने यही तो कहा, कि कविता स्वयं में समाज है। ठीक है, अब हमें देखना चाहिए कि उस 'समाज' के पीछे राजनीति क्या है, और यह समय पर ही देखना चाहिए। असल में, आलोचना में 'तर्क' के स्तर पर जवाब देने के कारण रूपवाद पैदा नहीं होता, रूपवाद पैदा होता है साहित्य में निहित राजनीतिकता को प्रकाश में नहीं लाने के कारण।

नई समीक्षा की संकल्पनाओं के मूल में शीतयुद्ध की राजनीति काम कर रही थी, जिसका खंडन नामवर सिंह ने 'कविता के नए प्रतिमान' के प्रकाशन के बीस वर्ष बाद जरूरी समझा। जरूरी क्यों? - 'दूसरी परम्परा' की खोज और स्थापना के लिए। कहा कि नई कविता के अंतर्गत जो दूसरी परंपरा थी उसके वाहक मुक्तिबोध थे। नई कविता के बाहर जो दूसरी परंपरा है और उसको चुनौती देती है, उसके वाहक नागार्जुन और त्रिलोचन हैं।

नई समीक्षा की संकल्पनाओं के सहारे नामवर सिंह ने 'कविता के नए प्रतिमान' में मुक्तिबोध की समीक्षा की। उसमें नई समीक्षा की संकल्पनाओं का परीक्षण हो गया और यह भी साबित हुआ कि मुक्तिबोध नई कविता की 'दूसरी परंपरा' हैं। नागार्जुन और त्रिलोचन ठेठ हिंदी परंपरा के कवि हैं, उनके जरिए पूरी हिंदी कविता की दूसरी परंपरा का निरूपण संभव है। इस प्रकार ये नामवर सिंह को अपने नए कार्यक्रम के अधिक उपयुक्त प्रतीत हुए। बहरहाल, इससे नागार्जुन और त्रिलोचन की जिन दो कविताओं का उल्लेख किया है, वे हैं 'मादा सुअर' और 'चम्पा काले-काले अक्षर नहीं चीन्हती'। दोनों कविताओं से हिंदी के पाठक सुपरिचित हैं। नामवर सिंह ने नागार्जुन की कविता के लिए कहा कि यह भद्र-वर्ग की सौन्दर्याभिरुचि को चोट पहुँचाने वाली है। त्रिलोचन की 'चम्पा' के लिए कहा कि यह 'प्रति-आधुनिकता की कविता है।' दोनों बातें हमें मान्य हैं। लेकिन ये दोनों कविताएँ उस 'विडंबना' का भी संकेत करती हैं जिसका निरूपण नई समीक्षा का अभीष्ट था, और 'कविता के नए प्रतिमान' में नई समीक्षा ही तो 'पुनर्नवा' नहीं हुई है?



## असाध्य वीणा : 'जो शब्द हीन अर्थमें गाता है'

पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'

सर्जनात्मक, सैद्धान्तिक, आलोचक

तथा अद्यतन भाषाविज्ञानी

इस संसृति में 'असाध्य वीणा' की झंकृति को साधने तथा सुनने-सुनाने वाले अज्ञेय स्वयं भी एक 'असाध्य वीणा' रहे हैं। हिंदी में उनके समवर्ती अनेक सर्जकों और आलोचकों ने उनके व्यक्तित्व और कृतित्व, दोनों को अपने-अपने लेखन में साधने का प्रयत्न किया। पर अज्ञेय सबके लिए 'असाध्य वीणा' ही सिद्ध हुए। चाहे वह 'शब्द-पुरुष' लिखने वाले नरेश मेहता हों या अज्ञेय की रचना-धर्मिता पर विचार करने वाले रामस्वरूप चतुर्वेदी, चंद्रकांत बान्दिवडेकर या नंदकिशोर आचार्य जैसे आलोचक-त्रय।

अपनी इस स्थापना को स्पष्ट करने के लिए सबसे पहले मैं उनकी 'असाध्य वीणा' कविता से ही आरंभ करता हूँ। यद्यपि यह कविता एक चीनी-जापानी लोककथा पर आधारित कही गयी है और है भी, पर इस कविता का प्रतीक-विधान पूरी तरह भारतीय है। अज्ञेय के आलोचकों ने 'असाध्य वीणा' को रचना-प्रक्रिया से जोड़ दिया है। पर 'असाध्य वीणा' और कुछ नहीं, यह हमारी मानवीय काया है। हमारा शरीर ही वीणा-रूप झंकृत होने वाले सुरों का उद्गम-स्रोत है। भारतीय मिथक में मानवीय काया को दैवत् वीणा कहा गया है। इस दैवत् वीणा की साज सज्जा, उसका प्रदर्शन तो सभी कर लेते हैं, पर उससे प्राक्तन स्वर-लहरी झंकृत कर अपने रचनाकार से तादात्म्य करना एक अत्यन्त कठिन कर्म है। 'दैवत् वीणा' यानी 'मानवीय काया' की स्थिति ऐसी ही है। अज्ञेय ने इसी 'दैवत् वीणा' को 'असाध्य वीणा' कहा है, जो किसी-किसी विरले के ही साधे सधती है, वह भी 'सर्वात्मना आत्मविलय' करने की स्थिति में।

अज्ञेय की 'असाध्य वीणा' की इस अन्तर्गर्भी साभिप्रायता को अब तक हिंदी में उद्घाटित, निरूपित और विवेचित नहीं किया जा सका है। यही कारण है कि मेरे अनेक मित्रों को ऐसा प्रतीत होता है कि मुक्तिबोध की 'अंधेरे में' कविता अपने-आप बनती चलती है, पर अज्ञेय इस कविता में एक बनी-बनायी कथा को लेकर उसका काव्यात्मक अभिव्यंजन-भर कर देते हैं। हाँ, 'असाध्य वीणा' की प्राकृतिक बिम्ब-माला को वह अवश्य महत्त्व देते हैं। पर यह सब प्रतीति उन्हें इसलिए ही होती है कि वे 'असाध्य वीणा' के लक्ष्य या गंतव्य तक, उसके अर्थ-गह्वर तक प्रवेश नहीं कर पाते। जैसे 'कामायनी' के 'हिमालय' को 'आंतरिक हिमालय' के रूप में न देखकर उसके पाठक, आलोचक उसे 'भौगोलिक हिमालय' के रूप में ही देखते रहे हैं और उसकी आलोचना करके उसके साथ जैसा अन्याय किया है, ठीक वैसा ही अन्याय अज्ञेय की 'असाध्य वीणा' के साथ भी हुआ है। वस्तुतः यह न तो कोई 'मूर्त असाध्य वीणा' है और न ही वैसी कोई अमूर्त 'असाध्य वीणा', जो साहित्यकार की रचना-प्रक्रियाई वीणा है, जैसा

उसके आलोचकों को लगता है। यह जिस वृक्ष के काष्ठ से बनी वीणा है, वह वृक्ष ही आदिसृष्टि का प्रतीक है और यह 'दैवत् वीणा' आत्मसाक्षात्कार की वीणा है। 'आत्मज्ञान' प्राप्त करने की यह वीणा हमें प्राप्त है, पर हमें आत्मज्ञान नहीं हो पाता, ब्रह्मज्ञान नहीं हो पाता। हम अपना स्थूल शरीरी जीवन जी कर चले जाते हैं या मिट जाते हैं। पर हम आत्मज्ञान की दिशा में उन्मुख तक नहीं हो पाते। उपनिषदों में ऐसे ही मनुष्य को 'आत्महन्ता' कहा गया है। 'असाध्य वीणा' का सम्यक् परिज्ञान हमें आत्महन्ता होने की भूमिका से बचाता है। हम दिन-रात अपने भौतिक पदार्थों के लिए, अपने अर्जन के लिए आकुल-व्याकुल रहते हैं, पर अपनी भविता को, अपनी 'बीइंगनेस' को नहीं पहचान पाते हैं। 'असाध्य वीणा' की सिद्धि हमें हमारी भविता से जोड़ती है। हमें आत्महन्ता होने से बचाती है, हमें आत्मज्ञान की दिशा में उन्मुख करती है और हमें अपने परम गंतव्य तक पहुँचाती है।

'दैवत् वीणा' को गढ़नेवाला वज्रकीर्ति और कोई नहीं, विधाता है, ब्रह्मा है। राजा कोई भौतिक पुरुष नहीं, बल्कि हमारे भीतर का प्रभुत्वाकांक्षी, भौतिक पदाभिलाषी है, जो केवल शासित करना जानता है। रानी और कोई नहीं, कामना की स्रोतस्विनी है। हमारे भीतर की अनंत इच्छाओं की उद्गम-स्थली है। अनुस्मृति में विगत का आवाहन परमपुरुष की व्यापकता है, 'ओ पूरे झारखण्ड के अग्रज' का झारखण्ड निखिल ब्रह्माण्ड और अग्रज परमपुरुष ब्रह्मा है। गुफा-गेही-केश-कम्बली आत्मगुफा में वास करने वाला है। पर इस 'दैवत् वीणा' को पहचानना सहज साध्य नहीं है। इसे साधना मन के कामना-त्याग और सर्वात्मना समर्पण करने पर ही संभव है। उसे ही अज्ञेय ने अपनी कविता में निरूपित किया है। इस कविता में पुरुष अदृश्य है और प्रकृति साकार है। सांख्य दर्शन मानता है कि प्रकृति शैलूषी है, वह नटी है। वह रूप-परिवर्तन करती, नृत्य करती परमपुरुष को रिझाती है 'असाध्य वीणा' में इसी प्रकृति का साक्षात्कार है, जिसके व्याज से पुरुष तक पहुँचने का द्वार खुलता है। संगीत की लय में सबका एक साथ डूबना परमपुरुष का अपने-अपने अनुरूप अनुभावन है। कविता के अंत का मौन और कुछ नहीं, उसी परमपुरुष का निःशब्दता में साक्षात्कार है- "वह तो सब-कुछ की

तथता थी/ महा शून्य/ वह महा-मौन/ अविभाज्य, अनापात, द्रवित, अप्रमेय/ जो शब्दहीन सबमें गाता है।"

'असाध्य वीणा' को केन्द्र में रखकर उसका सम्यक् और सटीक विवेचन न तो रामस्वरूप चतुर्वेदी ने किया है, न चंद्रकांत बांन्दिवडेकर ने और न ही नंदकिशोर आचार्य ने। चतुर्वेदी ने उस रचना-प्रक्रियाई आत्मसमर्पण से जोड़ दिया है- "सृजन की इस रहस्य की आत्मदान के रूप में व्याख्या रचनाकार ने 'आँगन के पार द्वार' में संकलित लंबी कविता 'असाध्य वीणा' में की है।" (हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, इलाहाबाद, लोकभारती, २००१, पृ. १९७) पर उसका भावन करने का प्रयास जिन व्यक्तियों ने किया है, उनमें कवि-विचारक नरेन्द्र शर्मा और आलोचना में सिद्धहस्त विद्यानिवास मिश्र प्रमुख हैं।

नरेन्द्र शर्मा ने 'असाध्य वीणा' के कुछ महत्वपूर्ण बिंदुओं का स्पर्श तो अवश्य किया है, पर यह बिंदु प्रस्थान-बिंदु मात्र है। वह उसकी साभिप्रायता के गह्वर में तो प्रवेश नहीं कर सके, परंतु विदेशी पुराकथा लेने के कारण उन्होंने 'असाध्य वीणा' को अतीतोन्मुख कर दिया है। उनका यह भावन यहाँ तक तो यही है कि तन्त्री को साधने वाले ने वाद्ययंत्र के अंतर में सोये हुए संगीत को अपने आपको सौंपकर, आत्मविस्मृत कर जगाया। इसे उन्होंने साधक का अपना अनुभावन कहा है। पर इस तादात्म्य को स्थापित करने के बाद उनकी दृष्टि में वह अतीतोन्मुखी साधना आरंभ हुई, जिससे वाद्ययंत्र संजीवन मंत्र से सजीव होकर पुनः वादक ही हो गया। वह वृक्ष को अधोमुख कहते हैं, पर वृक्ष के मूल को अतीत में स्थित मानते हैं। इसीलिए वे 'अतीतोन्मुखी साधना' की अनिवार्यता की बात करते हैं। उनकी यह मान्यता है कि 'अतीत तक पहुँचे बिना सोया हुआ वह संगीत नहीं जगाया जा सकता, जो वाद्ययंत्र में अन्तर्निहित है। (अतीतोन्मुखी साधना, धर्म युग, नवंबर १९६४, पृ. १५) पर वह 'असाध्य वीणा' के मिथकीय अतीत को न खोज पाते हैं और न ही खोल पाते हैं। वह कविता के इस अंश को उद्धृत तो करते हैं-

"डूब गये सब एक साथ/सब अलग-अलग एकाकी पार तिरे/राजा ने अलग सुना : त्रय देवी यशःकाय/ वरमाल लिये गाती थी मंगल-गीत/दुन्दुभी दूर कहीं बजती थी/

राजमुकुट सहसा हलका हो आया था, / मानो फूल हो सिरिस का। / रानी ने अलग सुना छंद जो बटुली में / एक कौंध कह गयी / तुम्हारे यह मणि-माणिक, कण्ठहार, पट-वस्त्र / मेखला, किंकिणि / सब अंधकार के कण हैं। ये आलोक एक है / प्यार अनन्य... / सबने भी अलग-अलग संगीत सुना। / इसको / वह कृपा-वाक्य था प्रभुओं का। / उसको / आतंक-मुक्ति का आश्वासन: / इसको / वह भरी तिजोरी में सोने की खनक / उसे / बटुली में बहुत दिनों के बाद अन्न की सोंधी बुदबुद।”

नरेन्द्र शर्मा ने उस संगीत को सबके द्वारा भिन्न-भिन्न रूप में आत्मसात् करने की स्थिति को ठीक समझा है और लगे हाथ वहाँ तुलसी के मानस की इस प्रसिद्ध काव्य-प्रोक्ति को भी उद्धृत कर दिया है- ‘जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरत देखि तिनु तैसी।’ पर नरेन्द्र शर्मा रामचरितमानस का संदर्भ भूल जाते हैं कि वहाँ अपनी-अपनी भावना के अनुरूप ब्रह्म या परमात्मा को ही देखा-दिखाया गया है। आत्मसमर्पण से उसकी ही प्राप्ति की जाती है। इसलिए यह साधना ‘अतीतोन्मुखता’ की नहीं, ऐतिहासिकता की नहीं, बल्कि अपने में निहित परमात्म अंश के तादात्म्यबोध की है, उसमें लय होने की है।

नरेन्द्र शर्मा ने अज्ञेय ‘असाध्य वीणा’ पर यह कहकर आरोप भी किया है कि कविता का आरंभ तो सुंदर है, पर कविता का अंत उपयुक्त नहीं है। तन्त्री को साधने के बाद पुनः मौन का अवतरण उचित नहीं है- “इस कथा-काव्य का आरंभ अत्यंत प्रभावोत्पादक और सच्चे अर्थ में नाटकीय है, पर यही बात कविता के अंत के विषय में नहीं कही जा सकती।... तुरंत बाद ‘प्रिय पाठक यूँ मेरी वाणी भी मौन हुई’ कहकर कवि ने अपनी अतीतोन्मुखी साधना की उदाराशयता को सीमित और संकुचित बना दिया है। कहाँ अद्वैतवाद और कहाँ क्षणवाद?” (पूर्ववत्, पृ. ३५) नरेन्द्र शर्मा कवि होते हुए भी यहाँ यह भूल जाते हैं कि तादात्म्य होने के बाद मौन में ही उसका परम साक्षात्कार होता है। वहाँ वह केवल ‘वह’ रह जाता है और मैं की इयत्ता समाप्त हो जाती है। वस्तुतः नरेन्द्र शर्मा जिसे अतीतोन्मुखता कहते हैं, वह उनकी मौलिक दृष्टि का ही पसारा है, जबकि यह कविता अलौकिकता की साधना है और उसी में यह अंत में पर्यवसित होती है। इस तरह ‘असाध्य

वीणा’ भारतीय मिथक के अनुरूप काया-रूपी वह ‘दैवत् वीणा’ ही है, जिसको आत्मसमर्पण, तादात्म्य और आत्मविलय से साधकर सिद्ध किया जाता है और परमात्म-रूप आत्म-स्वरूप की प्राप्ति हो पाती है।

विद्यानिवास मिश्र जी भी ‘असाध्य वीणा’ की व्याख्या करने के क्रम में उसके मर्म तक नहीं पहुँच पाते हैं, पर उन्होंने कुछ नवीन स्थापनाएँ अवश्य की हैं, जिनमें उनकी यह स्थापना महत्वपूर्ण है- “पूरी कविता मौन की ओर लौटने की- एक ओर व्यष्टि से समष्टि में डूबने की तथा समष्टि से व्यष्टि में अलग-अलग उतरने की प्रक्रिया का एक आख्यान है...” “इसके एक सार भाग से वज्रकीर्ति ने साधना के द्वारा वीणा गढ़ी, तो उस वीणा में समग्र सृष्टि की वाणी भी समाहित हो गयी।” (असाध्य वीणा, रीति-विज्ञान, नयी दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन, १९७३, पृ. १७०)। उन्होंने आगे चलकर समष्टि और व्यष्टि के संबंध को निरूपित करते हुए यह भी बताया है कि “जब दोनों परस्पर साकांक्ष हो जायँ और दोनों के बीच पूर्ण रागात्मक संबंध स्थापित हो जाय तब विराट् व्यक्ति की ओर उन्मुख हो जाता है, सृष्टि की धारा फव्वारे की तरह एक केन्द्र से ऊपर जाकर अनेक केन्द्रों को छूने लगती है।” (पूर्ववत्, पृ. १७१)। “वीणा का यह स्रष्टा के अखण्ड, अशेष, प्रभामय, स्वयंभू मौन का जागरण बन जाता है।” (पूर्ववत्, पृ. १७२) मिश्र जी विराट् तक तो पहुँचते हैं, पर उस विराट् को वृक्ष की विराट्ता से ऊपर नहीं देख पाते हैं। उन्होंने अपनी पूरी विश्लेषण-व्याख्या रीतिविज्ञान बनाम शैलीविज्ञान के आधार पर की है। यदि उस ‘अन्तरपाठीय समान्तरता’ की ओर उनकी दृष्टि व्यापकता में जा पाती, तो वह इस कविता के साभिप्राय अर्थ-गह्वर में प्रवेश कर जा सकते थे, पर उन्होंने भी इसका अन्तरपाठीय संबंध उस चीनी लोककथा से ही जोड़ा, इस पर भारतीय संदर्भ में मीमांसा करने का प्रयास नहीं किया। वह ‘दैवत् वीणा’ से अपरिचित रहने के कारण भी विराट् में परमात्मा को नहीं देख सके तथा वीणा को काया में प्राप्त नहीं कर सके। ‘असाध्य वीणा’ की वीणा का संबंध भारतीय अध्यात्म की ‘दैवत् वीणा’ से जुड़ता है, जो हमारी मानवीय काया ही है।

हाँ, मिश्र जी ने मौन के मर्म को अवश्य समझा है,

जिसे नरेन्द्र शर्मा पहचानने से रह गये हैं- “अंतिम पंक्तियाँ इसलिए आवश्यक थीं कि वाणी की सार्थकता मौन में हैं, वह मौन ऐसा कि ‘वह’ के व्यक्ति को विराट् सत्ता में डुबोने के बाद पुनः पार तिरने पर मिला...” (पूर्ववत्, पृ. १७२) पर इस मौन को उस महामौन की आनन्दात्मक स्थिति तक वह भी नहीं ले जा सके हैं। वह यहाँ तक तो पहुँच जाते हैं कि ‘मैं’ का विलयन और वह भी एक विराट् ‘तू’ और नाना रूपों के माध्यम से खण्ड-खण्ड में दृश्यमान ‘तू’ में कराके ‘मैं’ का सबके साथ तादात्म्य स्थापित कराना कविता का मुख्य प्रयोजन है।” (पूर्ववत्, पृ. १७४) पर वह यहाँ ‘मैं’ और ‘तू’ का स्पष्टीकरण करने से, उन्हें चिह्नित करने से रह गये हैं। यह स्पष्ट नहीं हो पाता है कि ‘मैं’ कौन है और ‘तू’ कौन है। यदि ‘दैवत् वीणा’ की अन्तरपाठ्यता तक वह पहुँच जाते, तो ‘असाध्य वीणा’ का मिथकीय प्रतीक अवश्य उद्घाटित हो जाता। कविता में यही परमतत्त्व ‘संगीत-स्वयंभू’, ‘आलोक एक’ और ‘महामौन’ के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। मिश्र जी यह भी कहते हैं कि इस कविता का ‘मूल प्रतिपाद्य समष्टि के ध्यान में व्यष्टि का विलयन और उस विलयन के द्वारा समष्टि का व्यष्टि में अलग-अलग प्रतिबिम्बन है।” (पूर्ववत्, पृ. १७९) पर यहाँ भी वह कविता के मूल प्रतिपाद्य को समझने से रह जाते हैं। वस्तुतः यह आत्मा का परमात्म-तत्त्व में विलयन है और इस विलयन के द्वारा समग्र सृष्टि में प्रतिबिम्बन का अनुभावन भी है। यहाँ समष्टि-चेतना परमात्मा है और व्यष्टि-चेतना आत्मा है।

मिश्र जी ‘असाध्य-वीणा’ की इन पंक्तियों का विवेचन करते हैं-

“किन्तु अंगी, तू अक्षत, आत्मभरित, रसविद्, तू गा।”

और बताते हैं कि यहाँ ‘अंग की अपंगता, अंग की खंडता, अंग की रिक्तता और अंग की विरसता अंगी के साथ जुड़कर दूर हो जाती है।” (पूर्ववत्, पृ. १८०)

उपर्युक्त काव्य-प्रोक्ति में वीणा, जो अंगी का अंग-रूप है, कवि उसका आत्मबोध जाग्रत करता है। पर उसका उद्देश्य उसकी ऋणात्मकता को न दर्शाकर उसकी धनात्मकता को दर्शाना है, उसके मूल अंगी रूप का साक्षात्कार कराना है। उसमें ‘अहं ब्रह्मास्मि’ की चेतना भरना है।

साधक मानवीय काया को साधने की प्रक्रिया में आत्मा को परमात्म-स्वरूप होने वाला ज्ञान करवाता है। तभी वह यह कह पाता है कि आत्मा भी अंगी ही है, अक्षत है, रसविद् है और इसी रहस्य को जान लेने पर उसे उसका गान करने का आग्रह करता है। कहना न होगा कि यहाँ भी मिश्र जी ‘असाध्य वीणा’ को ‘काया की दैवत् वीणा’ के रूप में नहीं ग्रहण कर सके हैं। साथ ही अंगी वृक्ष का भी सही परिचय नहीं करा सके हैं। यहाँ यह अंगी-वृक्ष स्वतः परमात्म-स्वरूप है।

इसी तरह मिश्र जी माँ के शिशु में रूपांतरित होने और शिशु के माँ-रूप में विकसित होने को रेखांकित करते हुए लिखते हैं- “यह रूपांतर विराट् की अस्ति को अपने में समाहित करने की उपलब्धि को ही प्रमाणित करता है।” (पूर्ववत्, पृ. १८३) यहाँ भी ऐसा लगता है कि मिश्र जी की माँ और शिशु के पारस्परिक रूपांतरण तक आकर भी कविता के मुख्य सूत्र को पकड़ने से रह जाते हैं, जो विराट् परमात्मा और असाध्य वीणा रूप काया में अन्तर्हित आत्मा के अभिज्ञान का सूत्र है।

प्रस्तुत संदर्भ में नरेन्द्र शर्मा और विद्यानिवास मिश्र दोनों के ‘असाध्य वीणा’- विषयक विवेचन को देखने से यह स्पष्ट होता है कि नरेन्द्र शर्मा, जहाँ अपनी स्थापना एक अतिरेकी दृढ़ता के साथ करते हैं, (यथा-कविता के अंत में मौन की स्थिति को समीचीन नहीं मानना), वहाँ विद्यानिवास मिश्र इस कविता के विषय में स्पष्ट शब्दों में यह कहते हैं कि शास्त्र के प्रवक्ता के रूप में यह ऐसी चुनौती नहीं देती कि “इसके अलावा कोई दूसरी व्याख्या प्रस्तुत नहीं की जा सकती है। इतना विश्वास जरूर मन में है कि इन व्याख्याओं की शृंखला लेखक स्वयं और लेखक के समझदार पाठक आगे बढ़ाएँगे और इन व्याख्याओं की प्रयोजकता इसी में चरितार्थ होती है।” (पूर्ववत्, पृ. १८४)

कविता के निर्वचन-क्रम में शैलीविज्ञान जैसे यह मानता है कि रचना का कोई भी निर्वचन अंतिम नहीं होता, वैसे ही विसंरचनात्मक आलोचना भी रचना की पाठ-प्रक्रिया को ‘मिसरीडिंग’ अर्थात् अधूरे वाचन के रूप में देखती है, जिसका आशय है कि प्रत्येक वाचन में कविता के कुछ बिंदु छूट जाते हैं या कि पकड़ में आने से रह जाते हैं।

‘असाध्य वीणा’ के अब तक के निर्वचनात्मक विमर्श में प्रायः यही हुआ है। आलोचक इसके निर्वचन के मूल-सूत्र को ही पकड़ने से रह गये हैं। विसंरचनावादी आलोचना का यह मानना है कि कविता में एक संकेतक जो संकेतित देता है, वह संकेतित पुनः वहीं संकेतक बन जाता है और किसी अन्य संकेतित को निर्दिष्ट करने लग जाता है। इस तरह कविता में यह अर्थ-क्रीड़ा लगातार चलती रहती है। स्मरणीय है कि भारतीय परंपरा में भर्तृहरि ने भी अर्थ के अंतिम निर्धारण को अस्वीकार कर दिया था।

अन्ततः शैलीविज्ञान की दृष्टि से समतामूलक अन्तरपाठीय समान्तरता और विसंरचनात्मक आलोचना की दृष्टि से अन्तरपाठीय आवृत्ति ही यहाँ उस कुंजी के रूप में सक्रिय होती है, जो ‘दैवत् वीणा’ के भारतीय मिथक के आलोक में हमें कविता के अर्थ-गह्वर में ले जाती है तथा उसकी साभिप्रायता को उद्घाटित-निरूपित करती है।

यह तो हुई अज्ञेय की कविता ‘असाध्य वीणा’ की साभिप्रायता और मार्मिक दार्शनिकता, पर स्वतः अज्ञेय भी अपने जीवन और लेखन दोनों में इस प्रतीक के अनुरूप ही ‘असाध्य वीणा’ बने रहे। उन्होंने अपनी जीवन-रूपी वीणा को कैसे साधा और किस सीमा तक उन्हें सिद्धि प्राप्त हुई, यह तो विचार मंथन का विषय है, पर इतना अवश्य है कि यह आत्मबोध उन्हें हो चुका था और वह उस दिशा में उन्मुख हो चले थे। उन्होंने समझ लिया था कि उनका शरीर साधन है, साध्य कोई और है। वह परम आस्तिक थे। भारतीय परंपरा के बहुदेववाद के अनेक स्तोत्रों का पाठ भी किया करते थे। उनको जिस किसी ने अपने जीवन में साधने और बाँधने की कोशिश की, उसे उसमें सफलता नहीं मिला। चाहे वह उनकी आजीविका हो, या सहचरी हो। इसी तरह उनकी सर्जना को भी बाँधने और इस दृष्टि से साधने के प्रयास अब तक सार्थकता प्राप्त नहीं कर सके हैं। अज्ञेय अपनी कायिक ‘असाध्य वीणा’ को आन्तर संगीत-सागर से समरस होकर चुना था। सागर पर लिखी उनकी कई कविताओं में अध्यात्म-विषयक परम जिज्ञासा

और पिपासा मिलती है। उनकी कविता में वीणा को साधनेवाला केश कम्बली संगीत को साध लेता है और सभी उस लय से समरस हो उठते हैं। पर अपने जीवन में अज्ञेय इस समरसता को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हुए ही थे कि उनकी कायिक वीणा का नाद-तत्त्व मौन हो गया या वही उसे साध नहीं सके, सिद्धि प्राप्त नहीं कर सके।

अज्ञेय परम दार्शनिक थे। उनकी अंतिम औपन्यासिक कृति ‘अपने-अपने अजनबी’ में जहाँ पाठकों-आलोचकों को अस्तित्ववादी दर्शन निरूपित होता दीखता है, वहीं भारतीय तंत्र-विद्या की सिद्धांत-सरणियाँ भी खुलने लग जाती हैं। डॉ. प्रेमस्वरूप गुप्त ने तन्त्र-साहित्य से उदाहरण देकर आज से वर्षों पूर्व ‘दस्तावेज’ (गोरखपुर) के एक अंक में इसे तथ्यों के साक्ष्य में सप्रमाण सिद्ध कर दिया था।

अज्ञेय वस्तुतः ‘शब्द-पुरुष’ थे। यह विरुद्ध उन्हें नरेश मेहता ने दिया। हमारे यहाँ शब्द को ब्रह्म माना गया है और यह शब्द कोरा शब्द नहीं है, वागर्थ की तरह ही वह अर्थ से सम्पृक्त है। अज्ञेय अपनी रचना में, अपनी अभिव्यक्ति में जिस सीमा तक शब्दार्थ की पहचान में सिद्ध थे, उसी सीमा तक वह मानवीय काया के शुद्ध-पुरुषत्व को भी समझने लगे थे। उनकी ‘असाध्य वीणा’ उसी दिशा में उनके प्रयास का प्रथम सार्थक चरण है, जिसकी रचना-प्रक्रिया के दौरान वह उस परम उद्गम स्रोत के साथ आत्म-विलय की ओर उन्मुख होते हैं, जहाँ उन्हें हर कहीं उसी का गान सुनायी पड़ता है- ‘तू, गा, तू, गा, तू, गा’ और यह गाना प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का अनंत संगीत बन जाता है। अपनी-अपनी भाव-स्थिति के अनुरूप उसका सभी साक्षात्कार करते हैं। हाँ, परमपुरुष स्वयं भी ‘परम असाध्य वीणा’ है। हमारा शरीर उसी का प्रतीक है और वह हम में रूपान्तरित है, जिसे साधकर ही हम उस तक पहुँच पाते हैं। अज्ञेय ने अपनी इस कविता में इस प्रक्रिया को वह परम और चरम भाव-स्थिति प्रदान की है, जो इसे ‘अहं ब्रह्मास्मि’ और ‘रसो वै सः’ तक की भूमिका में पहुँचा देती है।

संपर्क: ‘साई-कृपा’, 58 लाल एवेन्यू, पो. रेआन एण्ड सिल्क मिल्क, अमृतसर- 143005, मो. 09878647468

## वह ट्रेजेडी जो आखड़ी में अड़ गयी डॉ. राजेन्द्र मिश्र

यदि मुक्तिबोध से यह सवाल पूछा जाता कि उन्हें किस तरह पता चलता है कि रची जा रही कविता कहाँ और कब खत्म होती है, तो वह कह सकना मुश्किल है कि उनका उत्तर ठीक-ठीक क्या होता। लेकिन उनके सर्जनात्मक लेखन की बुनियादी प्रकृति को टटोलते हुए कुछ नतीजे तो निकाले ही जा सकते हैं।

मुक्तिबोध जैसे अपनी रचना का अंत नहीं जानते थे, क्योंकि लगातार संयोजित हुआ उनका अटूट अनुभव-ताप, अंत-अंत तक आते-आते एक नयी शुरुआत की गहरी रचनात्मक इच्छा से परिचालित होने लगता था। वह मूलतः कवि थे, और उनका समूचा संघर्ष, जीवन भर मानों एक कविता को ही बार-बार पहचानने-पाने, लिखने-रचने का अंतहीन सिलसिला था। ज़ाहिर है, इसलिए उनकी कहानी ही नहीं, आलोचना भी उस कविता का अनिवार्य सर्जनात्मक हिस्सा मालूम पड़ती है। ऐसी अदम्य और एकतान ऊर्जा के खतरे भी कम नहीं होते, लेकिन मुक्तिबोध ने न तो किसी विचार-सत्ता को संवेदना के आगे बनते घुमड़ते वृत्त पर हावी हो जाने की छूट दी और न ही अपनी कल्पना को इतना स्वतंत्र रहने दिया कि वे विवेक और विश्वास को चाहे जिधर घुमा सके। एक खास काट के सौंदर्य बोध और विन्यास के बरक्स अक्सर अनगढ़ रूपाकार की शिकयत के साथ देखी-पढ़ी जाने वाली उनकी कविताएँ एक ऐसे काव्यशास्त्र की शुरुआत हैं जिसमें शब्द-द्वंद्व, तत्त्वतः एक यातना भरे नैतिक-द्वंद्व का पर्याय भी है।

बरसों पहले, शायद १९५७ में अपने छोटे से कस्बे बिलासपुर के वाचनालय में आने वाले 'नया-खून' में मुक्तिबोध की एक कहानी मैंने पढ़ी थी- "ब्रम्हराक्षस का शिष्य"। एक महाभय भवन की आठवीं मंजिल के जीने से सातवीं मंजिल के जीने की सूनी-सूनी सीढ़ियों पर नीचे उतरते हुए विद्यार्थी का भीतर के किसी प्रकाश से लाल हो रहा चेहरा मुझे जब-तब बराबर याद आता है। विडम्बना यह है कि स्मृतियाँ भी अपनी जड़ों के साथ एक मौलिक रिश्ता हमेशा नहीं रख पातीं। एक लेखक की जब हम पूरी रचनाएँ पढ़ रहे होते हैं। बहरहाल, कहानी के अपने देश और काल में बारह साल और कुछ दिन पहले की ही तो बात है। वह लड़का सड़क पर दो बजे, भूखा प्यासा अपने सूखे होठों पर जीभ फेरता हुआ ऊँचे सेमल के वृक्ष के नीचे बैठकर मुझे आज भी दीख पड़ता है। पढ़ने-लिखने से बँर होने के कारण विद्वान पिता ने उसे घर से निकाल दिया था। लेकिन जंगल-जंगल घूमता, राह पूछता, ज्ञान के लिए किसी गुरु की खोज में वह काशी आया। चूँकि उसके मन में खेद था इसलिए वह मानो ब्रम्ह राक्षस का शिष्य बनने के योग्य था।

बारह वर्ष तक संकल्पपूर्वक अनेक विद्याओं को आत्मसात करने के बाद भी यही जिज्ञासा शिष्य के मन में बार-बार उठती है कि उस भव्य भवन में गुरु के समीप छोटी सी दुकान में यदि कोई और व्यक्ति नहीं है तो सारा मामला चलता कैसे है? इतनी प्रबंध व्यवस्था के बाद भी उसे कहीं मनुष्य के दर्शन नहीं होते और न कोई पैरों की आवाजें सुनायी पड़ती, सिवाय अपनी पगध्वनि के।

निर्धारित अवधि समाप्त होते-होते गुरु और शिष्य दोनों अपनी अंतिम बातचीत के लिए स्वयं को तैयार करते हुए कौर में मुंह डालने की थोड़ी देर के लिए गुरु ने कहा- ‘बेटे, खिचड़ी में घी नहीं डाला है?’

शिष्य उठने ही वाला था कि गुरु ने कहा “नहीं, नहीं, उठो मत।” और उन्होंने अपना हाथ इतना बढ़ा दिया कि वह कक्ष पार जाता हुआ, अन्य कक्ष में प्रवेश कर एक क्षण में भीतर घी की चमचमाती लुटिया लेकर शिष्य की खिचड़ी में घी उड़ेलने लगा। शिष्य कांपकर स्तंभित रह गया। वह गुरु के कोमल वृद्ध मुख को कठोरता से देखने लगा कि यह कौन है? मानव है या दानव? उसने आज तक कभी भी गुरु के व्यवहार में अप्राकृतिक चमत्कार नहीं देखा था। गुरु ने दुःखपूर्ण कोमलता से कहा “शिष्य। स्पष्ट कह दूँ कि मैं ब्रम्हराक्षस हूँ किंतु फिर भी तुम्हारा गुरु हूँ। मुझे तुम्हारा स्नेह चाहिए। अपने मानव-जीवन में मैंने विश्व की समस्त विद्या को मथ डाला, किंतु दुर्भाग्य से कोई योग्य शिष्य न मिल पाया कि जिसे समस्त ज्ञान दे पाता। इसलिए मेरी आत्मा इस संसार में अटकी रह गयी और मैं ब्रम्हराक्षस के रूप में यहां विराजमान रहा।... तुम आये, मैंने तुम्हें बार-बार कहा लौट आओ। कदाचित् तुममें ज्ञान के लिए आवश्यक श्रम और संयम न हो। किंतु मैंने तुम्हारी जीवन गाथा सुनी। विद्या से बैर रखने के कारण, पिता द्वारा अनेक ताड़नाओं के बावजूद, तुम गंवार रहे और बाद में माता-पिता द्वारा निकाल दिये जाने पर तुम्हारे व्यथित अहंकार ने तुम्हें ज्ञान-लोक का पथ खोज निकालने की ओर प्रवृत्त किया। मैं प्रवृत्तिवादी हूँ, साधु नहीं।... मैंने अज्ञान से तुम्हारी मुक्ति की। तुमने मेरा ज्ञान प्राप्त कर मेरी आत्मा को मुक्ति दिला दी। ज्ञान का लाया हुआ उत्तरदायित्व मैंने पूरा किया।... जब तक मेरा दिया तुम किसी और को न

दोगे तब तक तुम्हारी मुक्ति नहीं।”

यहाँ यह गौर करने की जरूरत है कि मुक्तिबोध ने ब्रम्हराक्षस जैसे पुराण प्रतीक को अपनी कहानी में एक नया अर्थ दिया है। वह एक महा भव्य भवन है जिसमें ब्रम्ह राक्षस रहता है लेकिन मनुष्य की अनुपस्थिति में वह अभिशप्त भवन भी है। उसमें सूनी-सूनी सीढ़ियाँ हैं। चारों से काटने के लिए दौड़ती लाल-लाल गूँ-गूँ करते बर्रे हैं। सूने बरामदे हैं। आंगन से दिखने वाली तीसरी मंजिल की छज्जेवाली मुंडेर पर एक बिल्ली सावधानी से चलती दिखायी दे रही हैं। मुक्तिबोध की संवेदना को मुक्त करने वाला बिम्ब लोक यहाँ मौजूद है। अपने संचित ज्ञान को किसी दूसरे को न दे सकने के कारण ब्रम्ह राक्षस बना मनुष्य इस बिम्ब-लोक का केन्द्र है। एक साहसी और संकल्पवान शिष्य को ज्ञान देकर ब्रम्ह राक्षस मुक्त हो जाता है लेकिन इस सीख के साथ कि शिष्य भी केवल इस परंपरा में ही मुक्ति पा सकता है।

अपनी बिल्कुल आरंभिक प्रतिक्रिया में मुझे यह कहानी काफी दिलचस्प लगती थी। लेखक ने एक फैन्टेसी के भीतर पाप-बोध के साथ ऋण की भारतीय अवधारणा को प्रक्षेपित करने का जो प्रयत्न किया है वह आज भी मुझे महत्वपूर्ण लगता है। लेकिन इस कहानी को पढ़ते हुए मुझे वह ज्यादा केन्द्रीय जान पड़ती है जिसके आसपास कथा के तन्तु पूरी बौद्धिक सजगता से बुने गये हैं। संभवतया ब्रम्हराक्षस का यह प्रतीक, कथा के लगभग इकहरे विन्यासमें पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाता। लक्ष्य किया जा सकता है कि ठीक इसी दौर में ‘ब्रम्हराक्षस’ कविता के भीतर भी गहरी हलचल कर रहा था। मुक्तिबोध रचनावली के अनुसार इस कविता का संभावित रचनाकाल १९५६ से १९६२ है। इसका अंतिम प्रारूप १९६२ में बना। कविता इस तरह शुरू होती है- *शहर के उस ओर खंडहर की तरफ/ परित्यक्त सूनी बावड़ी/ के भीतरी/ ठण्डे अंधेरे में/ बसी गहराइयाँ जल की.../ सीढ़ियाँ डूबी अनेकों/ उस पुराने घिरे पानी में.../ समझ में आ न सकता हो/ कि जैसे बात का आधार/ लेकिन बात गहरी हो।*

यहाँ कथा का अभिशप्त महाभव्य न होकर खंडहर की तरफ एक परित्यक्त सूनी बावड़ी है। अनेकों सीढ़ियाँ यहाँ

भी मौजूद हैं। शिष्य का आरंभिक प्रसंग छूट गया है। ब्रम्ह राक्षस यहाँ भी है लेकिन उससे भिन्न- बावड़ी की उन घनी गहराईयों में शून्य/ ब्रम्ह राक्षस एक बैठा है, व भीतर से उमड़ती गूँज की भी गूँज/ बड़बड़ाहट- शब्द पागल से।/ गहन आनुमानिता/ तन की मलिनता/ पाप-छाया दूर करने के लिए, दिन-रात/ स्वच्छ करने- ब्रम्ह राक्षस/ घिस रहा है देह/ हाथ के पंजे, बराबर/ बांह-छाती मुंह छपाछप/ खूब करते साफ, फिर भी मैल/ फिर भी मैल।।

“समक्ष में आ न सकता हो/ कि जैसे बात का आधार/ लेकिन बात गहरी हो।” पाप-छाया कविता में स्वयं ब्रम्हराक्षस के मन में मंडराती है। वह उसे दूर करने का यत्न भी कर रहा है लेकिन “फिर भी मैल/ फिर भी मैल/ आगे की पंक्तियों में एक ही व्यक्ति के आत्म-द्वंद्व को कवि, संवेदना में बहुत गहरे धंसी भाषा के सहारे नाम देता चलता है। ब्रम्ह राक्षस के मस्तक की लकीरें बताती हैं कि उसके भीतर आलोचना की सक्रियता मौजूद है, लेकिन आत्म बद्धता की संकरी सीमाओं में वह जैसे हर बार सिमट कर रह जाती है। वह दूसरे के केन्द्र में स्वयं को न देखकर अपने केन्द्र में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को देखता-सुनता है-

किंतु, गहरी बावड़ी/ की भीतरी दीवार पर/ तिरछी गिरी रवि-रश्मि/ के उड़ते परमाणु जब/ तल तक पहुँचते हैं कभी/ तब ब्रम्ह राक्षस समझता है, सूर्य ने/ झुककर ‘नमस्ते’ कर दिया।/ पथ भूलकर जब चांदनी/ कि किरन टकराये/ कहीं दीवार पर, तब ब्रम्ह राक्षस समझता है/ वंदना की चांदनी ने/ ज्ञान-गुरु माना उसे।/ अति प्रफुल्लित कण्टकित तन-मन वही/ करता रहा अनुभव कि नभ में भी/ विनत हो मान ली है श्रेष्ठता उसकी।।

अहं की इस लगभग रोमानी तुष्टि में उसका, पहचान वाला मन सुमेरी- बेबिलोनी जन-कथाओं से मधुर वैदिक ऋचाओं तक और मार्क्स, एंजेलस, रसेल, टाएन्बी, स्पेंग्लर, सार्त्र और गांधी तक के सिद्ध-अंतों का नया व्याख्यान करता है। उसका यह समूचा व्याख्यान द्वंद्व-रहित व्याख्यान नहीं है। मुक्तिबोध ने भीतर और बाहर के एक अद्भुत तनाव-बिंदु पर इस कश्मकश को उकेरने की कोशिश की है-

ये गरजती, गूँजती, आंदोलिता/ गहराईयों से उठ रही ध्वनियाँ, अतः/ उद्भ्रांत शब्दों के नये आवर्त में/ हर शब्द निज प्रति-शब्द को भी काटता, वह रूप अपने बिम्ब से ही जूझ/ विकृताकार-कृति/ है बन रहा/ ध्वनि लड़ रही अपनी प्रतिध्वनि से यहाँ।/...../ सुनते हैं करौंदी के सुकोमल फूल/ सुनता है उन्हें प्राचीन औदुम्बर/ सुन रहा हूँ मैं वही/ पागल प्रतीकों में कही जाती हुई/ वह ट्रैजेडी/ जो बावड़ी में अड़ गयी।

बावड़ी में अड़ी और पागल प्रतीकों में कही जाती हुई ट्रैजेडी की जड़े हमारी उस जिंदगी में हैं जिसमें हम जीते हैं। उसके एक ओर युद्ध, अकाल और महामारी है, प्रजातंत्र, संसद और संविधान है। दूसरी ओर हमारी निजी आसक्तियों और आशंकाएँ हैं, प्रेम और घृणा की सैकड़ों संवेदनाएँ हैं। तीसरी ओर जन्म और मृत्यु से जुड़े सनातन सवाल हैं। ऊपर से अलग-अलग दिखाई देने वाले ये पक्ष वास्तव में अलग-अलग नहीं हैं। मुक्तिबोध ने जिंदगी को किशतों में अभिव्यक्त नहीं किया है। उनकी मुख्य समस्या जीवन को तनावमुक्त समग्रता में देखने की है। वस्तु संसार के प्रति मुक्तिबोध की प्रतिक्रियाएँ सीधी और तात्कालिक नहीं हैं। उनकी प्रतिभा इन प्रतिक्रियाओं को संगठित कर उन्हें समूचे अस्तित्व की एक आलोचनात्मक व्यवस्था से जोड़ती है। जाहिर है इससे जीवन के किसी भी हिस्से की अनुभव-यातना, बनकर अभिव्यक्त होती है। पागल प्रतीकों में कही जाती हुई ट्रैजेडी एक समूचे जीवन की ट्रैजेडी है। उसे वैयक्तिक और सामाजिक जैसे खानों में देखा जा सकना असंभव है। पसरे हुए उलझे गणित मैदान में मारा गया ब्रम्ह राक्षस महज पुराण का प्रतीक नहीं है। वह मुक्तिबोध की सभ्यता समीक्षा से उपजा एक ऐसा जीवित मनुष्य है जिसे वे विभिन्न कोणों से पहचानने की बार-बार कोशिश कर रहे थे। अंततः कविता में उपस्थित इस मनुष्य की ट्रैजेडी क्या है-

आत्मचेतस किंतु इस/ व्यक्तित्व में थी प्राणमय अनबन.../ विश्वचेतस् बे-बनाव।।/ महंता के चरण में था/ विषादाकुल मन।/ मेरा उसी से उन दिनों होता मिलन आदि/ तो व्यथा उसकी स्वयं जीकर/ बताता मैं उसे उसका स्वयं का मूल्य/ उसकी महत्ता।/ वह उस महत्ता का/ हम सरीखों के



लिए उपयोग, उस आंतरिकता का बताता मैं महत्त्व।  
पिस गया वह भीतरी/ ओं बाहरी दो कठिन पाटों बीच/  
ऐसी टूँजेडी हे नीच।।

कहानी में मुक्ति का प्रसंग एक तनाव रहित सीधा प्रसंग है। योग्य शिष्य को ज्ञान देकर ब्रम्ह राक्षस जैसे सदा के लिए मुक्त हो जाता है। यह मुक्ति भी सार्थक है लेकिन मुक्तिबोध इतने सरल स्वीकार के कवि नहीं थे। उनके लिए कोई भी उपलब्धि जैसे अंतिम उपलब्धि नहीं थी। उनकी यात्रा का कोई अंत नहीं था। वह प्रतिज्ञापूर्वक अपनी मनःशांति भंग कर ही कवि बने रहना चाहते थे। जाहिर है, इसीलिए उन्होंने शांत और स्थिर बिंदुओं में अपने आपके लिए एक सुरक्षित भूमि खोजने के स्थान पर निरंतर बदलते हुए और तनावग्रस्त संसार में मनुष्य की नियति को पहचानने का प्रयत्न किया। कहानी में उपस्थित ब्रम्ह राक्षस जैसे रचनात्मक प्रक्षेपण की दृष्टि से अधूरा है। उसमें उनकी काव्य-दृष्टि मुक्त नहीं हो पाती। कविता में कथा के देश को काल के बीचो बीच रखकर वे एक-दूसरे से उलझे द्वंद्व सूत्रों को एक बार देखना-परखना चाहते हैं। मुझे उनकी कहानी का शिष्य आज भी याद आता है। आठवीं मंजिल के जीने से

सातवीं मंजिल के जीने की सूनी-सूनी सीढ़ियों पर नीचे उतरते हुए, उस विद्यार्थी के चेहरे को भीतर के किसी प्रकाश से लाल होता अभी भी देखता हूँ। क्या यह स्वयं मुक्तिबोध का तीसरा स्वर है? कविता में वह शिष्य नहीं है और न ही मुक्ति के नाटकीय संवाद लेकिन अंतः में क्या फिर पिछली व्यंजना एक नयी अर्थवत्ता के साथ उभर कर सामने नहीं आती।

बावड़ी में वह स्वयं/ पागल प्रतीकों में निरंतर कह रहा/ वह कोठरी में किस तरह/ अपना गणित करता रहा/ ओं मर गया.../ वह सघन झाड़ी के कंटीले/ तम-विवर में/ मरे पक्षी-सा/ विदा ही हो गया/ वह ज्योति अनजानी सदा को सो गया/ यह क्यों हुआ।/ क्यों यह हुआ।।/ मैं ब्रम्हराक्षस का सजल-उर शिष्य/ होना चाहता/ जिससे कि उसका वह अधूरा कार्य, उसकी वेदना का स्रोत/ संगत पूर्ण निष्कर्षों तलक/ पहुँचा सकूँ।

क्या वास्तव में ब्रम्हराक्षस विदा हो गया?

ध्यान से देखें तो वह उनकी कविताओं में बार-बार नये-नये रूपों में हस्तक्षेप करता दिखाई देता है। इस ब्रम्हराक्षस को समझे बगैर मुक्तिबोध को समझना नामुमकिन है।

संपर्क: एच.आई.जी-सी 16, शैलेन्द्र नगर, रायपुर छत्तीसगढ़, पिन- 492001

## बंभार को अंगूठा दिखाता अंगूठा : 'एकलव्य'

शशिभूषण द्विवेदी

डिप्टी एडिटर, 'द हिंदू' (अंग्रेजी दैनिक)

जिस उदारता से डॉ. रामकुमार वर्मा को हिंदी-आलोचना ने 'एकांकी-सम्राट' मान लिया था, या है- हालांकि पता नहीं मेरा 'उदारता' शब्द आज की ओलाचना के एक वादों-विवादों तबके को कैसा लगेगा- क्या उसी उदारता के साथ उन्हें छायावादी युग का एक बड़ा कवि माना जा सकने में कोई हर्ज है? और अगर उदारता में थोड़ी ईमानदारी का प्रजातांत्रिक पुट हो तो क्या यह कहा जा सकता है कि अकेले एकलव्य; बिना इस पचड़े में पड़े कि वह महाकाव्य है या प्रबंधकाव्य, उनके कवि की महत्ता और पुरुषार्थ को साबित करने के लिए न सिर्फ काफी है, बल्कि वह हमारे समय पर एक ऐसी टीका भी है जिसको विभिन्न कोणों से विनिर्मित या 'डिक्साट्रक्स' करने की सामयिक-आवश्यकता है और उसके आंतरिक अर्थ या 'मिनिंग ऑफ द मिनिंग' या 'इनर मिनिंग' पर फिर से विचार होना ही चाहिए; क्योंकि पुनःविचार से बड़ी रचनाओं का मर्म बार-बार खुलता भी है, और बार-बार समाज उसमें से कुछ अपने लिए और सभ्यता विकास के लिए हासिल भी करता है। इतना ही नहीं बड़ी रचनाएँ बार-बार आपको ताकीद करती हैं कि उनका उत्खनन बेकार नहीं होता; क्योंकि वे आगे के साहित्य और उसकी आनुवंशिक कलाओं के लिए 'कुछ नए' का मार्ग खोलती-सुझाती हैं क्योंकि आखिरकार हम किताबों के बारे में हो तो किताबें लिखते हैं; यानि अंग्रेजी कहावत के अनुसार 'वी राइट बुक्स एबाउट बुक्स'; यानि अगर इस शब्दावली में नाम जोड़ दिए जाएँ तो हमारे वैदिक-ऋषि नहीं होते तो शंकराचार्य नहीं होते; और हेगेल- किर्कगार्ड नहीं होते तो मार्क्स कहाँ होते? ? उलट-पुलट, जोड़-घटाव और गुणा-भाग सिर्फ गणित की शब्दावली मात्र नहीं है; उनके अरस्तू का जीवन भी झलकता है, जो सारे संसार में तो फैला ही है; उनकी व्याख्या के अनुसार पानी में मछली के रूप में भी मही यानि 'जीवन' ही तैर रहा है। तो अरस्तू अपने शिष्यों को नदी किनारे ले-जाकर पानी में मछली के रूप में 'जीवन' को देखने-समझने की जो व्यावहारिकी देते हैं; उसका मेरी ऊपर की बातों से क्या संबंध है; और मैं इस हवाले के साथ डॉ. वर्मा के 'एकलव्य' का क्या करने जा रहा हूँ। आइये देखें:

डॉ. वर्मा के भीतर के सनातनी-गाँधीवादी-भारतीय को 'एकलव्य' लिखने की सूझ १९५० के दशक में जब आई, तो आजादी नई-नई थी, लेकिन १९५७ में जब यह किताब छपकर आई तो आजादी दस वर्ष का किशोर हो गई थी। लेकिन जानने वाले जानते हैं कि दस वर्षों का समय किसी देश के जीवन में कोई बड़ा अर्थ संदर्भ नहीं बनाता, हालांकि बटुले के एक चावल को छूकर उसके पूरे चावल के पकने का अंदाजा लगाया जा सकता है। तो एकलव्य का इस समय से, यानि १९५० के बाद के बनते हुए समय से क्या रिश्ता है? और यह कैसा रिश्ता है जिसमें से भविष्य के कुछ सूत्र निकलेंगे, या सक्षम-मस्तिष्क द्वारा निकाले जा सकेंगे?

एकलव्य हमारे समय से जुड़ी वह रचना है जिसमें प्रतिभा, राजनीति, जीवन, उसका गणित, उपमाओं से जीवन की व्याख्या अपने पूर्ववर्ती साहित्य से बहुत कुछ लेने की ललक से सभ्यता को आगे बढ़ाने की जिम्मेवारी-जिम्मेदारी, राजनीति के धर्म से जुड़े प्रश्न जो सीधे हमारे समय की राजनीति से जुड़े हैं, कविता को ऊँचाई, 'प्रेम के अनुभाग' की भक्ति, निम्न मध्यमवर्गीय जीवन की गरीबी को तड़प और अविश्वास, पर्यावरण प्रतिभा हों प्रतिभा और उसकी उदात्तता और बोध की भद्रता, पूर्वजों की याद, सामाजिक ताने-बाने में कराहता समाजशास्त्र, 'अस्त्र' और 'शस्त्र' में भेद करता भाषा-विज्ञान, परंपरा, धन की महिमा, दरिद्रता पर प्रहार करता रोष, शासन की पेची-दगियाँ, शासक संचालक रूप में भीष्म की दृष्टि आदि वे सारे तत्त्व हैं जिन्हें आज के जीवन से अलग करके नहीं देखा जा सकता। इसमें अहंकार के प्रभाव से सचेत रहने की सीख है, क्योंकि अहंकार सिर्फ अपने को देखता है। उसे न तो दूसरा व्यक्ति दिखाई देता है, न दूसरी समस्याएँ और न नीति नैतिकता! इस किताब में 'मनोरथ' में 'रथ' है जिसमें भीष्म की राजनीति और महत्वाकांक्षा के घोड़े हैं और निम्नमध्यमवर्गीय समाज के प्रतिनिधि वे द्रोणाचार्य हैं जिनके बच्चे को दूध नसीब नहीं है; लेकिन सत्ता जैसे उनका वर्ग बदलती है यानि जब उनका 'क्लास' बदलता है; तो वे उस कुत्सित राजनीति का एक घमंडी पात्र बन जाते हैं जो अर्जुन से बेहतर होते हुए किसी को देख नहीं सकता और वे एकलव्य का अंगूठा कटवा लेते हैं। आदमी का क्लास बदलते ही उसकी महत्वाकांक्षाएँ और दमित कुंठाएँ किस तरह ताकतवर होकर सर्वनाश का तांडव रचती हैं, इसे भीष्म और द्रोणाचार्य को राजनीति में देखा समझा जा सकता है और भविष्य के लिए सावधान हुआ जा सकता है। राजनीति में 'अपने' और 'पराये' तथा 'वर्चस्व' और 'नीरिहता' कोई नए मापदंड नहीं हैं और दलित एकलव्य के कटे हुए अंगूठे से शुरू होकर जो राजनीति दलित-विमर्श और बराक ओबामा तक पहुँची है उसके सूत्रों की पहचान एकलव्य से गुजरते हुए हर पल होती है। राजनीति चाहे भीष्म की हो, या उसके प्रक्षेपण चाहे द्रोणाचार्य में एकलव्य का अंगूठा काट कर मांगते

समय नजर आए, ये सब इसी बात के प्रतीक हैं कि राजनीति वह निरंतर लड़ी जाती हुई लड़ाई है जिसमें सब कुछ 'प्रेम और युद्ध' की तरह जायज होता है यानि 'इवरी थिंग इज फेयर इन वार एंड लव'। मुझे लगता है कि सबसे पहले इस कहावत को राजनीति पर लागू करना चाहिए क्योंकि महाभारत रामायण से लेकर आज तक उसके रूपक (मेटाफर) भले बदलते रहे हैं; उसका मूल चरित्र जस का तस है। उस समय कोई धृतराष्ट्र था, या रावण था, आज हमारी राजनीति में खानदान ही खानदान हैं। और इस पर तो थिसिस लिखी जा सकती है।

मानने वाले मानेंगे कि इस किताब का सारा फोकस दलित एकलव्य और ब्राह्मण द्रोणाचार्य पर आज की शब्दावली में हैं, लेकिन गांधीवादी सनातनी रामकुमार वर्मा ने दोनों को कहीं भी कर्कश नहीं होने दिया है और वे अपनी भद्रता इस बड़ी घटना के बावजूद नहीं छोड़ते। दरबार में पहली बार द्रोण जिस तरह अपनी गरीबी की निरीहता का वर्णन करते हैं वह हमारे समय के उस निम्न मध्यवर्गीय व्यक्ति का चरित्र है जिसका बच्चा उस सारी क्षमता के बावजूद दूध से वंचित है। यह हमारे समय के सही आदमी का द्वंद्व भी है, क्योंकि विपन्नता कहीं उसका पीछा नहीं छोड़ती। लेकिन साथ ही द्रोणाचार्य उस 'क्लास' बदलते हुए आदमी के प्रतीक भी हैं जो संपन्न होते ही सत्ता की रक्षा के लिए या उसे खुश करने के लिए कभी किसी एकलव्य का अंगूठा कटवाता है और कभी किसी अभिमन्यु को मारने-मरवाने के लिए 'चक्रव्यूह' की रचना करता है; क्योंकि उसे बच्चे के दूध और अपनी काबलियत के वर्चस्व की स्वीकृति चाहिए और इस स्वीकृति का सबसे प्रामाणिक मंच राजनीति से बेहतर कुछ नहीं होता। और राजनीति संपन्नता तो देती ही रही है, दे रही है। द्रोणाचार्य इस अर्थ में एक निरीह जीव हैं कि अंगूठा उन्होंने भले एकलव्य का कटवा दिया हो, लेकिन यह अंगूठा जीवन भर उनका पीछा करता रहा होगा। यह काम उनके बदले हुए 'क्लास' और राजनीति ने कराया है। महान धनुर्धर द्रोणाचार्य, या आज की शब्दावली के महान राजनीतिकार द्रोणाचार्य, जब-जब अपने अंगूठे से प्रत्यंचा खींचते होंगे, तब-तब उन्हें एकलव्य का अंगूठा याद आ जाता होगा।

तब उनकी दशा कैसी होती होगी यह एक भावुक-भावक होकर हों जाना जा सकता है। एकलव्य इस बात का पक्का प्रमाण है कि आज अगर कोई द्रोणाचार्य बनना भी चाहेगा तो उसे ऐसा बनने नहीं दिया जायेगा; अगर उस पर एकदम से सत्ता का क्षणिक हाथ नहीं हो। और तो और इक्कीसवीं सदी शताब्दी के हमारे बाजारू समय में कोई एकलव्य कितना भी गुरुभक्त क्यों न हो, वह अंगूठा काट कर देने के बदले गुरु को अंगूठा दिखा देगा। लेकिन द्रोणाचार्य से सहानुभूति इसलिए भी होनी चाहिए कि वे एक प्रतीक हैं, असली कर्ता तो वह राजनीति है जिसका दिया दूध उनका बच्चा पी रहा है। यानि वे आज के बाजार का एक सामान हैं जो बिक गया है। राजनीति हमेशा से व्यक्ति या आम-आदमी को सावधान करती रही है, लेकिन व्यक्ति हमेशा उसका शिकार रहा है। इस गुत्थी को आजादी के बाद 'एकलव्य' में रामकुमार वर्मा ने पहली बार और बाद में 'रश्मिरथी' में दिनकर ने, और 'नाच्यौ बहुत गोपाल' उपन्यास में महान कथा शिल्पी अमृत नागर ने बहुत ही क्लासिक ढंग से उकेरा। आज अगर दलित-विमर्श एक साहित्यिक रूप में या एक विधा या जेनर के रूप में अपनी जगह बना रहा है, उसके लिए संघर्ष कर रहा है तो इसका श्रेय डॉ. वर्मा के 'एकलव्य' को भी जाएगा, दलित विमर्श पर राजनीति चाहे कितनी गंदी हो रही हो। प्रेमचंद की किताबें जलाने वाले सुन रहे होंगे।

'एकलव्य' काव्य का पात्र एकलव्य, दूसरी तरफ एक ऐसा पात्र है- जिसमें उदारता, गुरुभक्ति, भद्रता आदि के शाश्वत भारतीय तत्त्व इस तरह समाहित हैं कि वह कहीं भी अनुशासन नहीं खोता और अपनी प्रतिभा का सर्वस्व उस गुरु को सौंप देता है जिसके छद्म का वह शिकार है। अगर एकलव्य ईसामसीह होता तो कहता कि 'इन्हें माफ कर देना क्योंकि इन्हें पता नहीं है ये क्या कर रहे हैं।' वह हमारी सनातनीअनुशासन पद्धति का ऐसा प्रतीक है, जो उदाहरण बन गया और चाहे भीष्म की राजनीति हो, या द्रोणाचार्य की, चमक वही रहा है। इतिहास उसके बिना नहीं होगा और वह विमर्श का भारी समाजशास्त्रीय ऐतिहासिक पात्र तो है ही। डॉ. वर्मा का 'एकलव्य' इसीलिए कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है और उस पर विभिन्न कोणों से

अन्वय और विनिर्मिति की गुंजाइश हमेशा बनी रहेगी।

कविता की दृष्टि से, शब्दों के चयन की दृष्टि से, श्रृंगार के मन में पाप उपजाने वाले प्रभाव की दृष्टि से या और कई दृष्टियों से 'एकलव्य' एक मील का पत्थर है और डॉ. वर्मा को श्रेय जाना चाहिए कि वे भी छायावाद के एक अद्भुत कवि हैं जिसे उसी धारा के सुमित्रानंदन पंत ने यूँ अपनी पुस्तक 'छायावाद पुनर्मूल्यांकन' में याद किया है: 'एकलव्य' को युग बोध की दृष्टि से छायावादी अभिव्यंजना का श्रेष्ठतम महाकाव्य मानता हूँ। वह कामायनी की तरह उर्ध्वमुखी ही नहीं है, उसमें छायावादी विद्रोह भावना को सशक्त अभिव्यक्ति मिलती है।'

डॉ. वर्मा ने इस पुस्तक में एक हाशिये के पात्र को नायक बनाकर अपनी गांधीवादी संस्कारों की सनातनी परंपराओं में विकसित करके ऐतिहासिक काम करके हिंदी-कविता को जो समृद्धि दी है, वह अपना उदाहरण अपने आप है। उसके समानांतर हिंदी कविता में बहुत कुछ है, लेकिन उससे भारी कुछ आना अभी बाकी है। एकलव्य हमारे समाजशास्त्रीय चिंतन का वह कोण भी है जिस पर भविष्य के विमर्शों की नींव रखी गई। वह दलित विमर्श की शुरुआती नींव की ईंट है और उस पर सकारात्मक सोच के साथ विचार होना चाहिए।

कुछ उदाहरणों के बिना बात अधूरी रह जाएगी:

एकलव्य की प्रतिभा की स्वीकृति कवि के शब्दों में देखें:

*'तुमने नहीं कहा कि ऐसी निष्ठ साधना  
एक शूद्र ने समस्त क्षत्रियों की आन ली।  
मानव-विमेद का हों लक्ष्यबेध यूँ किया कि  
विश्व ने तुम्हारी बात मौन हो मान ली।'*

यह प्रतिभा की आँच ही है जिसने सारे संसार को एकलव्य का लोहा मनवा दिया। दिनकर के जिस 'रश्मिरथी' की चर्चा मैंने ऊपर की है अब उसके पहले सर्ग की पहली पंक्ति देखिए:

*जय हो, जग में, जले जहां भी नमन पुनीत अनल को,  
जिस नर में भी बसे हमारा नमन तेज को बल को।।*

हालांकि, दिनकर जी की इस कृति का कर्ण स्थापित अर्थों में 'दलित' नहीं है, वह परिस्थितियों का बनाया हुआ

दलित है। मेरा मानना है कि कुछ लोगों को अपना छिछोरापन छोड़कर उदार-प्रजातांत्रिक मन से एकलव्य और दलित-विमर्श पर बात करनी चाहिए। डॉ. वर्मा किताब के आमुख में लिखते हैं, “राजनीति और समाज के अंतराल में आचार्य द्रोण और शिष्य एकलव्य के चरित्र की व्याख्या बड़ी मनोवैज्ञानिक होगी। इसी विचार से मैंने इसकी रचना की।”

ज्ञान, व्याकरण, तत्कालीन समाजशास्त्र आदि को समझने-समझाने वाली अद्भुत पंक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं:

धनुर्वेद, ब्राह्मणों को, क्षत्रियों को चाहिए  
ब्राह्मणों की दृष्टि की दिशा में देखते हुए  
क्षत्रियों के लक्ष्य बिंदु ऐसे मिट जाएँगे  
जैसे स्वर-संधि में आदेश पर रूप हो॥

द्रोणाचार्य एकलव्य की निष्ठा से अद्भुत ढंग से प्रभावित हैं:

यह शिष्य कैसा है  
हैं तो शूद्र। बालक निषाद का है  
किंतु तेजोमय है जैसे

मणिरत्न हो विशाल विषधर का॥...

उपमा, अलंकार आदि की शास्त्रीयता भी एकलव्य काव्य की सुंदरता का नमूना है। ये पंक्तियाँ देखें:

गतिशील जल सा धनुष गतिशील हो  
लहरों की भाँति चक्राकार शर-क्षेप हो  
भँवर पड़ें जो वे हीं लक्ष्यभेद चिह्न हों  
कोटियों की भाँति सर सर्वदा सधा रहे॥....

व्यंग्य का उदाहरण बनी ये पंक्तियाँ देखें:  
चाहिए संघर्ष हीं मैं सोचता सदैव हूँ  
कैसी यह बात है जो मन में कसकती  
मैंने सुना, विद्यादान शूद्र-हेतु है नहीं  
सत्य है क्या देव! यह सामाजिक मान्यता... ??

भारतीय जाति-व्यवस्था के इतिहास वाली पंक्तियाँ देखिए:

शूद्र धनुर्वेद अधिकारी यदि हो गए  
तो करेंगे क्षत्रियों को रण में पराजित  
क्योंकि क्षत्रियों का मात्र नवोदय है  
और शूद्र भारत के आदिम निवासी हैं!!

एकलव्य में शृंगार की कुछ ऐसी पंक्तियाँ हैं जिनसे मन में पाप उपजने की सारी आशंकाएँ बन जाती हैं; यह दरबार का दृश्य है। वहीं पर शृंगार का वर्णन दर्शनीय और

पठनीय दोनों हैं:

पीछे राजमंच के हैं मंजु-मुखी दासियां  
पुष्ट कटि-बंधों से सजाए कटि अपनी  
उफनाते दूध जैसा उभराया वक्ष है  
दिव्य छत्र नरेन्द्र पर वे ऊँचा किए हैं  
चँवर डुलाती हैं विलांबित सु-गति से॥

इसलिए ऊपर की बातों को इन उदाहरणों से आसानी से समझते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचना आसान है कि पचास से ज्यादा पुस्तकों के लेखक राजकुमार वर्मा, जिन्होंने अठारह काव्य संग्रह, तेरह नाटक और उतने ही एकांकी लिखे और आठ आलोचना ग्रंथों का प्रणयन किया, कोई ऐसे अदना साहित्यकार नहीं थे जिन्हें ‘एकांकी-सम्राट’ तो आसानी से मान लिया गया, लेकिन जिनकी कविताओं पर उस तरह विचार नहीं हुआ जैसा होना चाहिए। हिंदी में आलोचना आज अगर बहुत ही संदेह से देखी जाती है और उसमें छोटे दशक के बाद बहुत सारी ‘पॉलिटिक्स’ हावी हो रही है तो उसके शिकार डॉ. वर्मा भी रहे हैं। यह एक सच्चाई है कि हर व्यक्ति का लिखा हुआ सब कुछ बहुत महत्वपूर्ण नहीं होगा; लेकिन यह भी उतना ही सच है कि किसी भी रचनाकार की हर चीज छोड़ने लायक भी नहीं होती। १९०७ में जन्मे डॉ. वर्मा पर बारह पुस्तकें विभिन्न विद्वानों ने लिखी हैं और उन पर शोध करने वाले लोगों की तायदाद भी दहाई में है।

उनके लेखन की एक और विशेषता यह रही है कि इतिहास, मिथक, भारतीय-मनीषा और आनुवंशिक ज्ञान-विधाएँ उनके चिंतन-लेखन के केन्द्र में रही हैं और उन्होंने काफी सामग्री इन अनुशासनों से ली है और एकलव्य, वीर हम्मीर, चित्तौड़ की चित, ओ अहल्या, बालि वध, संत रैदास और कृतिका जैसे काव्यग्रंथों का उन्नयन किया है। लेकिन एकलव्य में जिस समस्या को उन्होंने उठाया है वह हमारे समाजशास्त्रीय विवेचन का बिल्कुल आधुनिक अध्याय है। बदलती परिस्थितियों में उसका नया पाठ इतिहास, राजनीति, समाजशास्त्र और विज्ञान से बनने वाले हमारे समय का ऐसा आईना है जिसमें कई चेहरे बिल्कुल साफ नहीं हैं; लेकिन कई ऐसे चेहरे हैं जो हमारे समय से, जो कई तरह के ‘समयों’ का एक समुच्चय भी है, एकदम ऐसे

आइडेंटिफाई हो रहे हैं कि उन्हें आसानी से पहचाना जा सकता है। इसी अर्थ में 'एकलव्य' को सामने रखकर यह तथ्य आसानी से व्याख्यायित हो सकता है कि महान् रचनाएँ अपने समय से आगे होती हैं और सौंदर्य की परिभाषा की तरह 'क्षण-क्षण नया' होने का आभास देती रहती हैं। भले डॉ. रामकुमार वर्मा के बारे में इलाहाबाद के ही आलोचक यह कहें कि उनकी कविताओं पर ज्यादा बात 'शायद' इसलिए नहीं हुई क्योंकि उन्होंने कविता में कोई 'नई जमीन नहीं तोड़ी', लेकिन मेरा मानना है कि एकलव्य में ही कविता, राजनीति, इतिहास आदि की जो व्याख्या है उस पर बार-बार सोचने-समझने की आवश्यकता है और एकलव्य कई अर्थों में कई जमीनें तोड़ने में सक्षम है, वरना जिन सान से ज्यादा लोगों ने अपने महाकाव्य संबंधी शोध-ग्रंथों में उसका हवाला दिया है, वे कोई घास-काटते-छिलते-बटोरते लोग तो नहीं हैं।

यह भी एक सच्चाई है कि डॉ. वर्मा किसी जमाने में बहुत लोकप्रिय थे; बच्चन और दिनकर की तरह और २००९ में साहित्य अकादमी के बच्चन संबंधी एक कार्यक्रम में अपने पंच में मैंने यह प्रश्न उठाया था कि क्या लोकप्रिय साहित्य और महान साहित्य में कोई फर्क है; या यह फर्क किया जाना चाहिए? कुछ लोग मानते हैं कि लोकप्रियता महानता की तरफ बढ़ने से रोकती है; लेकिन हमारे यहाँ

तुलसीदास की परंपरा है जो लोकप्रिय और महान् दोनों है। दूसरे छोर पर अंग्रेजी के मिल्टन हैं- जिनमें तुलसीदास की कई विशेषताएँ हैं जिस पर मैं आजकल विचार कर रहा हूँ- 'जो 'महान्' तो हैं लोकप्रिय नहीं हैं। रामकुमार जी का एकलव्य अद्भुत रूप से इस पेचीदा सवाल को भी हमारे सामने रखता है। एकलव्य इस दृष्टि से भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है कि उसमें शोधार्थियों के लिए भी बहुत कुछ है; वैसे हिंदी में शोध और शोधार्थियों की जो स्थिति है उस पर बहुत कुछ कहना वर्र के छत्ते में हाथ डालना ही होगा। यह किताब जीवन के उस पक्ष को सामने रखती है जिसे आज की शब्दावली में भी दलित पक्ष कहा जा सकता है और यह पक्ष जात-पात के पचड़े से ऊपर का, उससे एकदम अलग-थलग पड़ा वह पक्ष है जिसमें अरस्तू का 'जीवन' एकदम प्रश्नवाचक मुद्रा में द्रोणाचार्य जैसा 'याचक' (याद करें 'रश्मि रथी' में कर्ण से कवच-कुंडल मांगते 'नीच भिखारी' इंद्र पर दिनकर की टिप्पणी, 'भली-भांति दाता को कसकर बोला नीच-भिखारी') बना हुआ है, भले ही कटे हुए अंगूठे ने उसे थोड़ा तात्कालिक संतोष दिया हो, हो तो गया है वह इतिहास में सदा सर्वदा के लिए एक ऐसा भिखारी जिसे भीख में मिला अंगूठा उसे जीवन भर अंगूठा दिखाता रहा, है, और रहेगा। और यही तो एकलव्य पुस्तक की सफलता है!!

संपर्क : 09775938214

## स्वच्छंदतावाद : तात्त्विक स्वरूप

प्रो. अवधेश नारायण मिश्र

आचार्य, हिंदी विभाग

का.हि.वि.वि., वाराणसी

आविर्भाव के समय मनुष्य सामाजिक बंधनों के सापेक्ष स्वतंत्र होता है; इसलिए स्वच्छंदता उसे सर्वाधिक प्रिय होती है। समाज के बंधन (रीति, नीति और आदर्श) समाजीकरण की प्रक्रियाओं से व्यक्ति की मानसिक संरचना के उपादान हो जाते हैं। फलतः वह सामाजिक परिगठन के अनुरूप हो जाता है। जब कभी उसे सांघटनिक प्रतिबद्धता का आभास होता है तो वह अपने सैद्धांतिक, नैतिक, रीतिनिष्ठ उलझावों पर झुंझलाता है, विद्रोह करता है या नव रचना के लिए घोषणापत्र तैयार करता है- मौलिक (आदिम नहीं) व्यक्ति की प्रतिष्ठा के लिए, स्व के तात्त्विक अनुसंधान के लिए अर्थात् स्वतंत्रता के लिए।

मानव की स्वच्छंद-प्रवृत्ति बहुआयामी है। जिस किसी भी कोण से उसका व्यक्तित्व आहत होगा, उसी दिशा में उसकी प्रतिक्रिया प्रकट होगी। पलायन इसी प्रवृत्ति का परिणाम है और संघर्ष भी। व्यक्ति यदि बंधन में न होता तो विश्व के समस्त दर्शन 'मुक्ति' को जीवन का लक्ष्य क्यों मानते? साहित्यकार में भी स्वच्छंदता का प्रवृत्ति का यही रहस्य है। यह दूसरी बात है कि कोई समाज विमुख काव्य रचता है तो कोई प्रकृति प्रधान लोकवादी काव्य। सुधारमूलक काव्यों की रचना का संदर्भ भी इसी प्रवृत्ति से सम्बद्ध है। वैचारिक स्वतंत्रता राजनीतिक सत्ता के प्रति आक्रोशयुक्त-स्वर या धार्मिक विद्रोह की भावना, सब कुछ इसी प्रवृत्ति के आयाम हैं। यह प्रवृत्ति कभी सूक्ष्म के प्रति स्थूल का विद्रोह बनकर, तो कभी स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह बनकर साहित्य में अवतरित होती है। एकान्तमुखता और रहस्यात्मकता के पार्श्व में स्वच्छंदता ही मूल कारक-तत्त्व है। ऐसा प्रतीत होता है मानो युग संदर्भ में स्वच्छंदतामूलक-काव्य बहुलांश में प्रतिक्रियात्मक ही है और अपने संदर्भ में मानवता, भाव, सौंदर्य, कल्पना, प्रेम और अलौकिकत्व के प्रति सक्रिय।

कुछ ऐसी ही स्थिति साहित्य में वैदिक काल से स्वच्छंदतावादी रचनाकाल पूर्व तक के काव्यों में दृष्टिगोचर होती है। ऋक्मण्डलों में वर्णित श्यावाश्व तथा रथवीति कन्या की कथा, विमद-पुरुमित्रजा की प्रणय-लीला, उर्वशी और पुरुरवा के प्रेम की महागाथा और यम-यमी (यम की बहन) संवाद जैसे आख्यानों में उन्मुक्त प्रेम, विरह-व्यंजना एवं सामाजिक (पारंपरिक) मानदंडों के विरुद्ध संघर्ष की ध्वनि झंकृत हुई है। हर्बर्ट एच. गावन डी. डी. ने इस स्थलों की तुलना शेली, कॉलरिज और वर्ड्सवर्थ के काव्याख्यानकों से की है।<sup>1</sup> इसी प्रकार महाभारत में स्वच्छंदतामूलक का आप्लावन शांतनु-सत्यवती, भीम-हिडिम्बनी, अर्जुन-उलूपी, द्रौपदी-पाण्डव (पाँच पति) के संदर्भ में देखा जा सकता है। ये कथा नायक अपने वैयक्तिकता को खुलकर जीते हैं। यहाँ तक कि कृष्ण सुभद्रा के रूपगत सौंदर्य पर मुग्ध अर्जुन को उसका बलात् अपहरण करने की परामर्श देते हैं। ऐसे प्रसंगों का आकलन करके देखा जाय तो महाभारत भारतीय पुराण-ग्रंथों में स्वच्छंदतावाद के सर्वाधिक समीप दिखेगा। संस्कृत साहित्य में 'विक्रमोर्वशी' और 'अभिज्ञानशाकुंतलम्' भारतीय स्वच्छंदतावादी नाटकों का उत्कृष्ट उदाहरण हैं।<sup>2</sup> भवभूति की 'मालती' का सम्राट को छोड़कर 'माधव' से प्रेम करने का प्रसंग, 'कुमार संभव' के शिव और पार्वती का प्रणय रूप, 'चोर पंचाशिका' के कवि द्वारा प्रेम के लिए प्राणोत्सर्ग की घटना या श्रीमद्भागवत की गोपियों का कृष्ण के प्रति समर्पित स्वच्छंद प्रेम-प्रसंग से लेकर मध्ययुगीन महाकवि सूर<sup>3</sup>, रसखान<sup>4</sup>, नन्ददास<sup>5</sup>, विद्यापति<sup>6</sup>, मीरा<sup>7</sup> के पदों का यही दर्शन बिंबित हुआ है। तुलसी<sup>8</sup> के मानसेतर काव्यों में अनेक स्थलों पर स्वच्छंदता के भाव व्यंजित हैं। इन स्थलों पर परमशास्त्रवादी

कवि के आकंठ-मर्यादित मानस में अकुंठित स्वच्छंदवृत्तों के सहज उच्छलन प्रत्यक्षगोचर होते हैं, जो तनिक अवकाश मिलते ही प्रस्फुटित हो गए हैं। रीतिकालीनों में घनानंद<sup>9</sup>, बोधा, द्विजदेव, ठाकुर आदि को स्वच्छंद काव्य का पूर्व पुरुष प्रायः सभी ने मान ही लिया है।

आशय यह है कि वैदिक साहित्य से लेकर रीतिकाल के अन्त्य-बिंदु तक साहित्य में नैसर्गिक रूप से स्वच्छंद प्रवृत्ति वाले काव्य-धारा अजस्र रूप में प्रवहमान हैं। साहित्य में शास्त्रीय काव्यधारा के समानान्तर स्वच्छंद काव्य-धारा की सहज स्थिति को स्वीकारते हुए मि. मूर लिखते हैं<sup>10</sup> कि आज का विचार मेरा है, कल तुम्हारा होगा और परसों किसी और का। हर दशाब्दी के बाद नैतिकता, देश-प्रेम, कर्तव्य-कर्म और धार्मिक आस्था के अर्थ पहले प्रयुक्त अर्थों से भिन्न हो जाते हैं। यही कारण है कि नई पीढ़ी का व्यक्ति अपने पूर्ववर्ती साहित्य से असंतुष्ट दिखाई पड़ता है और यह भी नई भूमि पर स्थित अपनी साम्प्रदायिक नैतिकता, देश-प्रेम, कर्तव्य-कर्म और नूतन धर्म को काव्य का विषय बनाता है तथा वह समझता है कि उसका साहित्य पूर्ववर्ती साहित्य की अपेक्षा अधिक स्थायी है।

मि. मूर के कथन में सत्यता है क्योंकि कवि सदैव पुरातनता को छोड़कर नवीनता का अनुसंधान करता रहा है और अपने अनुसंधान को अपेक्षाकृत अधिक स्थायी और साधु मानता रहा है। पूर्ववर्ती प्रख्यातनामा नाटककारों भास, शौमिल्य, कविपुत्र आदि के मध्य स्वयं को स्थापित करते हुए कालिदास ने चुनौती के स्वर में कहा था-

*पुराणमित्येव न साधु सर्वं, न चेति काव्यम् नवमेत्यवद्यम्।  
सन्तः परीक्ष्यन्तद् भजन्ते, मूढः परः प्रत्ययनेह बुद्धिः।*<sup>11</sup>

अर्थात् पूर्व-रचित सब कुछ ग्राह्य और श्लाघ्य है और नया सब कुछ हेय और निन्द्य है- ऐसा मानना ठीक नहीं। सुधी अच्छे और बुरे का परीक्षण करके पुराने और नए में से ग्राह्य-तत्त्वों को अपनाते हैं, किंतु मूर्ख अन्यो के विश्वासश्रित होते हैं।

स्वकीय-स्थापना के संबंध में कवि की यह उक्ति उसकी स्वच्छंद प्रवृत्ति का एक उदाहरण है। ऐसी युक्तियाँ साहित्य में पदे-पदे मिलती हैं। कवि जहाँ स्वान्तः सुख को काव्य-रचना का उद्देश्य घोषित करता है, वहाँ भी इसी

प्रवृत्ति का आंशिक-उद्गार समझना चाहिए। सारांश यह है कि बहु आयामी होने के कारण स्वच्छंदता की प्रवृत्ति का उन्मेष अनेक रूपों में होता है। इसलिए स्वच्छंदता की रूपात्मकता का निश्चयन और एक शब्द में उसकी परिभाषा का निरूपण नहीं किया जा सकता है।

प्रायः देखा जा सकता है कि जब साहित्य में 'परंपरा' का आग्रहशील प्रति-चित्रण होने लगता है तब नया लेखक इसके विरोध में नूतन काव्य-विषयों की सृष्टि के लिए बाध्य हो जाता है और स्वच्छंद-साहित्य का प्रणयन करता है। जब साहित्य में किसी विशेष प्रवृत्ति के आग्रह की प्रतिष्ठा हो जाती है अर्थात् वह वादग्रस्त हो जाता है तो उसमें संकीर्णता आ जाती है। वस्तुतः वादग्रस्त काव्य अधिकतर काव्याभास ही होता है<sup>12</sup> क्योंकि काव्य और वाद दोनों के स्वरूपों और प्रक्रियाओं में अंतर है।<sup>13</sup> इसीलिए परंपरावाद के समानान्तर नए रचनाकार का बनना साहित्य के लिए हितावह है। इस संदर्भ में टी.एस.इलियट के कथन- "साहित्य के क्षेत्र में वाद का महत्त्व नहीं है, महत्त्व है सृजनात्मक शक्ति का। जब कोई कलाकार सृजन करने में प्रवृत्त होता है, तब वह यह नहीं सोच रहा होता कि उसकी रचना 'वाद' की किस श्रेणी में स्थान पा सकती है। सृजन के क्षणों में कलाकार आत्मानुभूति से प्रेरित होकर लिखता है, किसी वाद विशेष के पूर्वाग्रह से नहीं"<sup>14</sup> के आधार पर यह कह सकते हैं कि प्राच्य और पाश्चात्य दोनों ही वर्गों के समीक्षक आग्रहशील-वादग्रस्त रचना को उत्तम नहीं मानते।

पंडित वामन शिवराम आपटे ने 'दी प्रेक्टिकल संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी' में 'स्व' का अर्थ 'वन्स ओन' और 'छंद' का अर्थ 'विश', 'डिजायर', 'फैन्सी', 'लाइकिंग', 'विल', इत्यादि किया है जिसके अनुसार 'स्वच्छंदता', 'अपनी स्वतंत्र रुचि के अनुसार व्यवहार' करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। हमारा अपनी इच्छाओं की प्रेरणाओं के अनुसार काम करना या न करना- बस यही स्वच्छंदता है। अर्थात् हम निश्चेष्ट रहना चाहें तो विरत रहें, हम सचेष्ट होना चाहे तो क्रिया पर निर्भर करें।<sup>15</sup> डेविड ह्यूम का यह संकथन (statement) क्रिया के सापेक्ष है, ललित-कलाओं या साहित्य के सापेक्ष नहीं। इसीलिए उनकी दृष्टि



में “ऐसी स्वच्छंदता हर व्यक्ति को उपलब्ध है जो कारावास का बंदी नहीं है।”<sup>16</sup>

बहुमुखी-प्रवृत्ति होने के कारण ‘स्वच्छंदता’ और उसका ‘वाद’ ‘स्वच्छंदतावाद’ दोनों को परिभाषित करना संभव नहीं है।<sup>17</sup> डेविड ह्यूम ने स्वच्छंदतावाद की परिभाषा निर्धारित करने के लिए दो वस्तुओं की ओर इंगित किया है<sup>18</sup>— १. उसे परिस्फुट वास्तविकता के साथ अवरोधी होना होगा अर्थात् वह परिभाषा प्रत्यक्ष से बाधित नहीं होनी चाहिए, और २. वह स्वयं सुसंगत परिभाषा है। वे स्वच्छंदता का कोई ‘वाद’ नहीं स्वीकारते।<sup>19</sup>

‘स्वच्छंदतावाद’ अंग्रेजी शब्द ‘रोमांटिसिज्म’ के सम्पूर्ण अर्थ में स्वीकृत है।<sup>20</sup> ‘डिक्शनरी ऑफ वर्ल्ड लिटरेचर’ में इस शब्द की विवेचना इस प्रकार कही गई है— “स्वच्छंदतावाद की प्रकृति को ठीक-ठीक परिभाषित नहीं किया जा सकता। अठारहवीं सदी के अंत और उन्नीसवीं सदी के प्रारंभिक चरण में परिवर्तन की ओर उन्मुख अनेक प्रकार की प्रवृत्तियों के लिए प्रवृत्त यह एक व्यापक शब्द है। इसके अर्थ; काल, देश और लेखकों के संदर्भ में पुरानी परंपराओं के ढाँचे में नई दिशा खोजने से लेकर खुले विद्रोह तक बदलते रहे हैं।”<sup>21</sup>

चैम्बर्स इनसाइक्लोपीडिया में स्वच्छंदतावाद, “भावना एवं विचारों के तल पर हुआ वह आंदोलन है जिसने अनेक देशों के साहित्य को बदल दिया।”<sup>22</sup> रीडर्स इनसाइक्लोपीडिया के अनुसार, “स्वच्छंदतावाद की मुख्य विशेषताएँ हैं— व्यक्तिवाद, प्रकृति-पूजा... स्वतंत्र विचार और धार्मिक रहस्यवाद की और प्रतिक्रियात्मक मनोवृत्ति, राजनैतिक सत्ता और परंपराओं के प्रति विद्रोह, शारीरिक वासनाओं का उन्नयन, स्वान्तः सुखाय भावनाओं और उत्तेजनाओं को प्रोत्साहन तथा अलौकिक, दूषित, एकान्तिक और निर्दय के प्रति अविरल आकर्षण।”<sup>23</sup>

अंग्रेजी के अनेक शब्दकोशों में ‘स्वच्छंदतावाद’ की प्रवृत्तियों एवं विशेषताओं की विवेचना मिलती है। हिंदी साहित्य में भी आधुनिक समीक्षाचार्यों और कोशकारों ने इस पर विचार किया है। ‘हिंदी साहित्य कोश’ के अनुसार ‘साहित्यिक उदारवाद ही रोमांटिसिज्म है। अर्थात् प्राचीन शिष्ट तथा क्लैसिक परिपाटी के विरोध में उठ खड़ी होने

वाली विचारधारा को रोमांटिसिज्म कहा जाता है।”<sup>24</sup>

भारतीय साहित्य की सुदीर्घ परंपरा में ‘स्वच्छंदतावाद’ ‘वाद’ के रूप में गृहीत नहीं थी। स्वच्छंदतावादी साहित्य का शुभारंभ सर्वप्रथम अंग्रेजी में वर्ड्सवर्थ (१७७०–१८५० ई.) के ‘लिरिकल बैलेड्स’ के प्रकाशन के साथ हुआ। उसके समकालीन ब्लैक और बेन्स में भी स्वच्छंदतावादी मानदण्डों के प्रति प्रवणता प्रत्यक्षगोचर होती है। ये कवि प्रकृति में ब्रह्म की सत्ता के द्रष्टा रहे। वर्ड्सवर्थ ने प्रकृति को स्वतंत्र रूप में चित्रित किया और सरल ग्राम्यजीवन का सम्पूर्ण किया। उसकी प्रसिद्ध कृति ‘दि प्रिल्यूड’ (१८५० ई.) अंग्रेजी साहित्य की महान रचना मानी जाती है। प्रकृति एवं मानव की विवेचना ही उसकी काव्य-सामग्री थी। उसकी कुछ कृतियाँ इतिवृत्तात्मक हैं, तो कुछ गीतकाव्यात्मक।

अंग्रेजी में स्वच्छंदतावादी धारा का दूसरा महान् कवि कॉलरिज (१७७२–१८३४ ई.) था। वह कवि, समीक्षक और दार्शनिक तीनों रूपों में प्रतिष्ठित हुआ। उसकी कृति ‘बायोग्राफिया लिटरेरिया’ कला-दर्शन की अद्वितीय कृति मानी जाती है। वह विचित्रता का उपासक था। उसके काव्य अपार्थिव-बिम्बों के समाकलन हैं। वर्ड्सवर्थ और कॉलरिज के अतिरिक्त स्वच्छंदतावादी धारा के महानतम कवियों में वाल्टर स्कॉट, बायरन, शेली और कीट्स के नाम आते हैं। इनके अतिरिक्त हण्ट (१७८४–१८५६ ई.) राबर्ट ब्राउनिंग (१८१२–१८८९ ई.), टेनिसन (१८०९–१८६२ ई.), ग्रबियल रोसट्रि (१८२८–१८८२ ई.) आदि इस धारा के प्रमुख अंग्रेज कवि रहे हैं।

स्वच्छंदतावादी साहित्य का पल्लवन तो सर्वप्रथम इंग्लैण्ड और फ्रांस की भूमि पर हुआ, किन्तु उसकी सैद्धान्तिक रूपरेखा जर्मनी में ही तैयार हुई। वस्तुतः जर्मन स्वच्छंदतावाद और अंग्रेजी स्वच्छंदतावाद में तात्त्विक अंतर भी है। ऐसा प्रतीत होता है कि जर्मन स्वच्छंदतावाद, अंग्रेजी स्वच्छंदतावाद एवं शास्त्रीयता का समन्वय है। जर्मन स्वच्छंदतावाद पहले दर्शन के रूप में मुखर हुआ— फिस्ते, शेलिंग, श्लेगेल विलिहेम तथा फ्रीड्रिक्स उसके पुरस्कर्ता हुए। फ्रीड्रिक्स श्लायरमार, रीडर, लुडविक टीक और नोवालिंस इस धारा के प्राथमिक रचनाकार हैं।

होल्डरलीन इस धारा का महान कवि है। वह चालीस

वर्ष तक अज्ञात पागल की तरह रहा और सभ्यता के विरुद्ध जीवन जीता रहा, किंतु इसी बीच उसने ऐसे ओड और गीत रचे जो क्लापस्टाक और गेटे की सर्वोत्तम रचनाओं से भी सुंदर माने गये।

इस धारा के प्रमुख गीतकारों में अर्नेस्ट थियोडोर हाफमान का नाम भी आता है, जो प्रमुख रूप से कहानीकार था। जर्मन स्वच्छंदतावादी कवियों ने हाफमान का काफी अनुसरण किया है। हाइने का लारेली यक्षिणी वाला प्रसिद्ध गीत हाफमान के ही अनुकरण पर लिखित है। जर्मनी के लोकगीतों का संग्रह आर्निम और क्लेमेन्स ब्रटानो ने दिया है। इस धारा के गीतकारों में आइखनडोर्फ, ओलहांड के नाम प्रमुख हैं। इनमें से पहले ने प्राकृतिक और दूसरे ने ऐतिहासिक ग्राम्यगीतों की रचना की है। अर्नेस्ट मोरिट्स आर्ट तथा कोरनेर की कविताओं ने नेपोलियन विरोधी जर्मन संघर्ष को प्रचुर शक्ति दी। नेपोलियन के पतन के बाद गृह-संघर्ष से जब निष्क्रियता और पलायन का वातावरण विकसित हुआ तब नितान्त निराशावादी धारा साहित्य में प्रवहमान हुई। ऐसी स्वच्छंदतावादी धारा के प्रमुख कवि हैं- ग्राफ फान प्लातेन, निकोलस लेनो, आदाल्बर्ट फोन चामिसो आदि।

पाश्चात्य वर्ग के लेखकों में अर्थर काम्पटन-रिकेट, सी. एच. हरफोर्ड, वाल्टर-पेटर, ए.एफ. स्कॉट, एफ. एल. लुक्स, प्रो. केजामियाँ, प्रो. हर्बर्ट ग्रियर्सन, प्रो. एबरक्राम्बी, स्कॉट जेम्स, प्रो. सेण्टबरी, हीन, इरविंग, बैबिट, अर्नेस्ट बर्नबाम, जार्ज सेण्ड, फेअर चाइल्ड, हर्बर्ट रीड, स्टुआर्ड, ह्यूगो आदि ने 'स्वच्छंदतावाद' को परिभाषित किया है। दूसरी ओर प्राच्यवर्ग के लेखकों में आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ. प्रेम नारायण शुक्ल, श्री के.क्षीरसागर, डॉ. नरेन्द्र वर्मा, डॉ. गणपतिचंद्र गुप्त, डॉ. रामचंद्र मिश्र, डॉ. हरिश्चंद्र वर्मा, श्री कृष्णलाल इत्यादि ने विश्व-साहित्य को दृष्टिगत कर इसे परिभाषित किया है। इन परिभाषाओं के आधार पर स्वच्छंदतावाद के तत्त्वों और उनके समर्थक लेखकों का वर्ग-चित्र इस प्रकार बनाया जा सकता है-

#### काव्य के तत्त्व समीक्षक

१. व्यक्ति-स्वातंत्र्य (व्यक्तित्व प्रधान) ए. एफ.

स्कॉट, हर्बर्ट रीड, स्कॉट जेम्स, स्टूआर्ड ह्यूगो, हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. हरिश्चंद्र वर्मा।

२. सौंदर्य (+औत्सुक्य, आकांक्षा)। ए. सी.ए. रिकेट, वाल्टर पेटर, के. क्षीरसागर,

३. कल्पना (कल्पनानुभूति, कलात्मक-चैतन्यता, स्वप्निल-कल्पना, कल्पनाशीलता)। रिकेट, सी. एच. हरफोर्ड, एफ. एल. लुक्स, इरविंग बैबिट, अर्नेस्ट वर्गबाम, हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. रामचंद्र मिश्र, कजामियाँ।

४. भाव (आवेग, अनुभूति, आवेश, अतिशयता) सी. एच. हरफोर्ड, ए. एफ. स्कॉट, कजामियाँ, ग्रियर्सन, स्कॉड जेम्स, सेण्ड, डॉ. प्रेम नारायण शुक्ल, डॉ. गणपति चंद्र गुप्त।

५. अलौकिकता (पलायन, रहस्य, अध्यात्म) वाटर हाउस, हीन, फेअरचाइल्ड, स्पेण्डर, अर्नेस्ट, स्कॉट जेम्स।

६. नियंत्रणों से मुक्ति एफ. एल. लुक्स, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र।

७. आत्मानुभूति (आंतरिक अनुभव, अन्तर्जगत, अन्तर्मुखता) ऐबरक्राम्बी, डॉ. गणपतिचंद्र गुप्त, डॉ. हरिश्चंद्र वर्मा।

८. नवीन काव्य शैली (प्रतीक, संकेत आदि) प्रो. सेंट्सबरी, हर्बर्ट ग्रियर्सन।

इस प्रकार उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर व्यक्ति स्वातंत्र्य, सौंदर्य, कल्पना, भावुकता, अलौकिकता, नियंत्रणों से मुक्ति, आत्मानुभूति और प्रगीतात्मकता को स्वच्छंदतावाद के विशिष्ट तत्त्वों के रूप में प्रतिष्ठापित किया जा सकता है।

स्वच्छंदतावादी काव्यों में उपर्युक्त तत्त्वों के अनूठे विधान के अतिरिक्त प्रकृति की अभिनव अभिव्यंजना भी सामान्यतया सर्वत्र सुलभ होती है। इसलिए 'प्रकृति-चित्र' भी इस काव्य का विशिष्ट तत्त्व है जिसका उल्लेख आचार्य रामचंद्र शुक्ल, अर्नेस्ट, स्पेण्डर आदि की परिभाषाओं में स्पष्टतः हुआ है। रूसो ने प्रकृति की विचित्रता, विराट् रहस्यमयता, भयानकता एवं निभृतता के प्रति विशेष आकर्षण का अनुभव किया था। बाद के कवियों ने प्रकृति के कोमल और आनंदमय स्वरूप का भी अवलोकन किया।<sup>25</sup> वास्तव में "स्वच्छंदतावादी काव्य में बाह्य और आभ्यंतर प्रकृति का रूपात्मक वर्णन विशेष है।"<sup>26</sup> इस कविता के लिए

प्रकृति वस्तुतः आध्यात्मिक चेतना का सगुण प्रतीक है।<sup>27</sup>

कवि की स्वतंत्रता की लालसा जब राजनीति से अनुप्राणित होती है, तब वह व्यक्तिवादी स्वर में ही राष्ट्रोन्मुखी हो जाती है। किसी-किसी देश के स्वच्छंदतावादी साहित्य में राष्ट्रीयता को तात्त्विक रूप में ग्रहण किया गया है। राष्ट्र स्वतंत्र देश की संज्ञा है, अतः इसकी प्रकृति का विश्लेषण व्यक्ति स्वातंत्र्य की व्याख्या में ही समाहित किया जा सकता है क्योंकि देश-स्वातंत्र्य के मूल में व्यक्ति स्वातंत्र्य ही है।

‘प्रेम’ किसी न किसी रूप में साहित्य में सदा ही गृहीत हुआ है, किंतु स्वच्छंद कविता में इसे विशिष्ट तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। स्वच्छंद कवियों की दृष्टि में परिवर्तनशील संसार में प्रेम ही अपरिवर्तनीय तत्त्व है<sup>28</sup> जो वासनापूर्ण मानस में कभी प्रस्फुटित नहीं होता।

इन विशिष्ट तत्त्वों को आधार मानकर रचे गए अंग्रेजी और जर्मन साहित्य ने पूरे विश्व-साहित्य को प्रभावित किया। हिंदी की स्वच्छंदतावादी काव्यधारा का इतिहास एक सौ वर्ष से अधिक लंबा है। अनेक सामाजिक-राजनीतिक-दार्शनिक प्रवृत्तियों का उद्भव इस अवधि में राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय क्षितिज पर हुआ है जिनसे कवि-वर्ग का प्रभावित होना स्वाभाविक है। हिंदी की स्वच्छंदतावादी काव्यधारा का आरंभ सन् १८७५ ई. में श्रीधर पाठक की रचनाओं से हुआ। सन् १९१४ ई. में छायावाद के आगमन के साथ इस स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति में गुणात्मक परिवर्तन आया और वह अपने विकासावस्था की ओर बढ़ चली। सन् १९३६ ई. में बच्चन जी के आगमन के साथ छायावादी स्वच्छंदतावाद का रूप वैयक्तिकता की ओर उन्मुख हुआ और एकाधिक हासशील प्रवृत्तियों ने भी जन्म लिया। छायावादी युग में छायावाद से भिन्न राष्ट्रीय-सांस्कृतिक धारा भी प्रवहमान रही, जिसका नैकट्य स्वच्छंदतावाद के आदिरूप (शुद्ध स्वच्छंदतावाद) से है। यह काव्यधारा भी स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों से प्रभावित है। भारत में सन् १९३६ ई. में प्रगतिशील आंदोलन की शुरुआत हुई, जिसमें छायावाद के स्तंभ निराला और पंत भी सम्मिलित हो गए। परिणामस्वरूप वैयक्तिक काव्यधारा के समान्तर यथार्थमूलक (प्रगतिशील) काव्यधारा का प्रोद्भव हुआ। इन दोनों ही काव्यधाराओं पर स्वच्छंदतावाद का प्रभाव पड़ा है। सन्

१९४३ ई. में ‘अज्ञेय’ ने ‘तार सप्तक’ का प्रकाशन किया जिससे साहित्य में ‘नई कविता’ की शुरुआत हुई। नई कविता भी स्वच्छंदतावादी तत्त्वों से समावेशित रही है। इस प्रकार हिंदी स्वच्छंदतावादी काव्यधारा अपनी संपूर्ण प्रवृत्तियों के साथ अन्यान्य आकार-प्रकार सहित आज तक अस्तित्वमान है।

### हिंदी स्वच्छंदतावादी काव्य-धारा

१. शुद्ध (सन् १८७५-१९१३ ई.) २. छायावादी (सन् १९१४-१९३५ ई.) ३. राष्ट्रीय-सांस्कृतिक (सन् १९३६-१९४२ ई.) ४. वैयक्तिक ५. प्रगतिशील (सन् १९४३ ई. से सतत्) ६. नव स्वच्छंदता

इस विवेचन के उपरान्त हम यह कह सकते हैं कि हिंदी की स्वच्छंदतावादी काव्य-धारा की सुदीर्घ और अत्यंत समृद्ध परंपरा है और इसकी उपधारएँ हैं- (१.) शुद्ध स्वच्छंदतावाद; २. छायावादी स्वच्छंदतावाद; ३. राष्ट्रीय स्वच्छंदतावाद; ४. वैयक्तिक स्वच्छंदतावाद; ५. प्रगतिशील स्वच्छंदतावाद; और ६. नव स्वच्छंदतावाद। वस्तुतः हिंदी साहित्य में इन उपधाराओं का अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व है, किंतु सबमें स्वच्छंदता के तत्त्वों की नई विधि से स्वीकृत हुई है, इसलिए सभी स्वच्छंदतावाद के अंतर्गत हैं। कतिपय समीक्षकों ने स्वच्छंदतावाद संज्ञा को कई दृष्टियों से अनुपयुक्त माना है। डॉ. नामवर सिंह ने लिखा है- “जहाँ तक रहस्यवाद, छायावाद और स्वच्छंदतावाद शब्दों के शब्दार्थ और लोक प्रचलित भाव का संबंध है, इन तीनों में निस्संदेह थोड़ा-थोड़ा अंतर है। ...इसलिए उचित तो यही मालूम होता है कि जिस तरह अन्य साहित्यों में अनेक प्रवृत्तियों के कुंज रोमैण्टिक काव्य को एक संज्ञा ‘रोमैण्टिसिज्म’ दी गयी है, उसी तरह अनेक प्रवृत्तियों के कुंज छायावादी काव्य को भी एक ही नाम देना चाहिए। कहना न होगा कि यह नाम छायावाद ही हो सकता है।”<sup>29</sup> किंतु छायावाद पूर्व और उत्तर छायावादी काव्यधाराओं को जोड़कर यदि कहना हो तो समूची काव्य-धारा के लिए ‘स्वच्छंदतावाद’ संज्ञा की उपयुक्त होगी।

### संदर्भ :

१. डॉ. हरिश्चंद्र वर्मा, संस्कृत कविता में रोमांटिक प्रवृत्ति, पृ. ९६ पर उद्धृत।

२. A.A. Macdonel, A History of Sanskrit Literature, page. 352
३. सूर के कृष्ण सौंदर्य-सागर (सूरसागर, पृ. ४८३) हैं। गोपियाँ उनके रूप पर अतिशय मुग्ध हैं। वे लोकमर्यादा, कुल की आन, लज्जा इत्यादि का त्याग कर देती हैं- 'लोक सकुच कुल-कानि तजि।' मानति नहिं लोक-मरजादा, हरि के रंग मजी।' - सूरसागर, पृ. ८२५ वे कृष्ण के लिए अपने माता, पिता, पति आदि सभी रिश्ते का त्याग करने को प्रस्तुत हैं (सूरसागर, पृ. ६१३)
४. रसखान की गोपियाँ पतिव्रत त्यागने और कृष्ण को समर्पित होने के लिए कहती हैं- 'ताहि सरौ लखि लाज जरौ इहि पाख पतिव्रत ताख धरौजू।' रसखान ग्रंथावली, पृ. २७६
५. नन्ददास की गोपियाँ कृष्ण प्रेम के लिए लोक-वेद की सुदृढ़ शृंखला को तृण की तरह तोड़ देती हैं- 'लोक-वेद की सुदृढ़ शृंखला तून सम तोरी।' - नन्ददास ग्रंथावली, पृ. २५
६. कुल गुन गौरव, सति जस अपजस।  
तून करि न मानत राधे,  
मन मधि-मदन-महादोधि उछलल,  
बूड़ल कुल-मरजादे। - विद्यापति पदावली, पृ. १९५
७. लोक-लाज कुलकाण जगत की दइ बहाय जस पानी।'  
- मीरा बाई और उनकी पदावली, पृ. २३६
८. अहिरिन हाथ दहेंडि सगुन लेइ आवइ हो।  
उनरत जोबनु देखि नृपति मन भावइ हो।। - रामलला नहछू, ५  
यहाँ दशरथ के भावों को अमर्यादित रूप में प्रस्तुत करने के पीछे कवि की लोक-दृष्टि और उसकी स्वच्छंदता का समन्वित हाथ है। इसी प्रकार नाइन के ऊपर राम की तथाकथित अश्लील-दृष्टि-निक्षेप का वर्णन भी कवि की स्वच्छंद मनोवृत्ति का परिचायक है- 'तिरछी चितवन आनंद मुनि मुख जोइह हो।' - रामलला नहछू, १४
९. डॉ. कुमार विमल, छायावादी कविता का सौंदर्यशास्त्रीय अध्ययन, पृ. २४ (संबंधित टिप्पणी भी द्रष्टव्य)।
१०. हर्बर्ट रीड (द्वारा उद्धृत) Reason and Romanticism; pure poetry, p. 59-60.
11. कालिदास, मालविकाग्निमित्रम्, प्रस्तावना, छंद-२।
१२. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, काव्य में रहस्यवाद, चिंतामणि, दूसरा भाग, पृ. ७३।
१३. नंददुलारे वाजपेयी, नया साहित्य नये प्रश्न, पृ. २१।
१४. टी. एस. इलियट, ऑफ्टर स्ट्रेंज गॉड्स, पृ. २६।
१५. डेविड ह्यूम, मानव बुद्धि संबंधी विवेचन (हिंदी अनुवाद), पृ. ९८।, १६. उपर्युक्त।
१७. "The Feathers of romanticism are so numerous, varied and complex as the challenge to easy packaging in a precriptive formula." (Noyes; English Romanticism Poetry and Prose; Introductory Survey, P- 21)
18. डेविड ह्यूम, मानव बुद्धि संबंधी विवेचन, पृ. ९९।
१९. उपर्युक्त।, २०. बृहत् अंग्रेजी-हिंदी कोश, (सं.) डॉ. हरदेव बाहरी, पृ. १२२०।
२१. डिक्शनरी ऑफ वर्ल्ड लिटरेचर, सं. जे टी. शिप्ले, पृ. ३५२।, २२. डॉ. (कु.) कमल कुमारी जौहरी, हिंदी के स्वच्छंदतावादी उपन्यास, पृ. ३२।, २३. उपर्युक्त।
२४. हिंदी साहित्य कोश, प्रधान संपादक धीरेन्द्र वर्मा, पृ. ६७६।, २५. राबर्ट एम. वेर्नीयर, रोमाण्टिसिज्म एण्ड रोमैण्टिक स्कूल इन जर्मनी, पृ. १९२।
२६. आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, आधुनिक काव्य-रचना और विचार, पृ. ३५।
२७. सर्वपल्ली राधाकृष्णन, फिलॉसफी ऑफ रवीन्द्रनाथ टैगोर, पृ. २१८।
२८. Fate, time, occasion, chance and change? To there, all things are subject but eternal love. शेली: 'प्रोमेथेस अनबाउण्ड'।
२९. डॉ. नामवर सिंह, छायावाद, पृ. १८-१९। (ms office 10 format)

संपर्क : हिंदी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005, मो.-09415991344

## कविता की हुंकार : 'क्यों शाहिद-ए-गुलबारा ने बाजार में आये'

ऋचा

शोध छात्रा, हिंदी विभाग  
का.हि.वि.वि, वाराणसी

“ऐसी कविता प्यारे लिख,  
जो मन को झंकारे लिख।  
सिर पर बाजार चढ़ा,  
जो यह ज्वार उतारे लिख।।”

बाजार के इस ज्वार का उतरना जितना जरूरी है, उतना ही मुश्किल भी। आज के समय में जब पूँजी का प्रकोप चहुँओर व्याप्त है, कविता मानवता के पक्ष के खड़ी होकर बाजार के भयावह स्वरूप को हमारे समक्ष प्रस्तुत करने का निरंतर यत्न करती है और गाहे-बगाहे हमें इसके दूरगामी दुष्परिणामों से आगाह भी करती है।

इस बात से कोई गुरेज नहीं है कि कविता और बाजार एक-दूसरे के चिर विरोधी हैं। कविता जहाँ बाजार के शांतिर मंसूबों से अच्छी तरह वाकिफ व सजग-सावधान है, वहीं बाजार को भी कविता में कोई खास दिलचस्पी नहीं है। एक ही दुनिया में रहकर भी दोनों की राहें जुदा हैं, अंदाज अलग हैं।

दरअसल बाजार के लिए ऐसी किसी वस्तु की प्रासंगिकता नहीं है जिसका व्यवसाय न हो सके, जिसकी खरीद-बिक्री, मुनाफा न हो सके। इस लिहाज से कविता पूरे बाजार के लिए सबसे कम लाभप्रद है। कथा-साहित्य के मुकाबले तो बहुत कम। कविता का तो अनुवाद भी सरल नहीं है, बाजार के लिए वह और भी कम उपयोगी है। जन्म से ही कविता पूँजी विरोधी है, इस स्वायत्त के चलते सत्तायें इससे खौफ खाती रही हैं। कुछेक दरबारी कवियों को छोड़ दें तो कविता हमेशा सत्ता-साम्राज्य को चुनौती देती हुई, प्रतिपक्ष में खड़ी होती आयी है। हर काल में तमाम तरह की आवाजों के बीच, कविता का स्वर अलग से पहचान में आता रहा है। धन-लिप्सा और कविता से लगाव दोनों एक साथ संभव नहीं। भला कविता का पूँजी से क्या सरोकार। उसका तो फक्कड़ों से संग-साथ रहा है। कविता तो बड़े-बड़ों को फटकारती चलती है, आईना दिखाते चलती है। ‘संतन को कहा सीकरी सों काम।’

उपभोक्तावादी समय में जब बाजार पूरी तरह पाँव पसार चुका है ऐसे समय में कविता इसके प्रतिरोध में आवाज बुलंद कर रही है। बाजार और चकाचौध की चुनौतियों ने उसे और मजबूत ही बनाया है।

देखा जाए तो मनुष्य का पूरा इतिहास एक अर्थ में बाजारों के बनने का इतिहास है। मनुष्यों (दासों) के बाजारों से लेकर वस्तुओं के बाजारों तक। बाजार पहले भी था, परंतु धीरे-धीरे इसका स्वरूप बदलता गया इसका हमला पिछले कुछ वर्षों में अधिक बढ़ा है। पूँजी, तकनीक और बाजार को मनुष्य समाज ने कुछ बुनियादी जरूरतों को पूरा करने के लिए बनाया था। वह

साधन था, साध्य बन गया। पहले वह स्थान –मात्र था। अब उसका अपना समय है, जो किसी भी स्थान पर हो सकता है। पहले वह जरूरतें पूरी करने का माध्यम ही था, अब जरूरतें पैदा भी करता है। अब बाजार ने हमारे घर के भीतर कब्जा जमा लिया है। कभी लालच देते हुए, कभी लगभग धौंस जमाते हुए, कभी फुसलाते हुए वह मनुष्य पर हावी होता है। धौंस भी इस अर्थ में कि अगर आप उसके ग्राहक बने रहने की कूबत नहीं रखते तो आप कुछ भी नहीं। समाज में आपकी कोई हैसियत नहीं।

कविता इस बाजार का प्रतिपक्ष रखती है। कविता ऐसे बाजार के प्रति अस्वीकृति दर्ज करती है जहाँ कोई भी वस्तु अपना निश्चित स्वरूप खोकर, यहाँ तक मनुष्य भी मनुष्य न रहकर एक प्रोडक्ट बन जाता है। बाजार के अबाध प्रसार को चुनौती देती हुई कविता मनुष्यता के पक्ष में खड़ी होती है, बाजार के तर्कों से जिरह करती हुई।

उस समय जब भारत में बाजारों का बनना शुरू हुआ तो उस काल के सबसे बड़े कवि गालिब ने- ‘क्यों शाहिद-ए-गुलबाग से बाजार में आवें’ कहकर इसका विरोध किया था तथा कविता के सहज स्वरूप की तरफ इशारा भी किया था। कविता उस नकली, बनावटी किंतु आकर्षक गुलदस्ते के बरअक्स बागों की रखवाली करती है। वो बाग जिसके सच्चे फूलों की खुशबू से मन महक उठे, अंतस तक सुवासित हो जाये।

कविता प्रारंभ से ही बाजार का पुरजोर विरोध करती आयी है। हमारे लोक गीतों में भी इसके उदाहरण मिलते हैं, जहाँ पूरे देश में पैसे कमाने के लिए पति को न जाने देने की हठ लिए पत्नी बाजार का विरोध करती हुई कहती है-

“सेर भर सतुआ बरिस भर खड़बो  
सँय्या के जाये न देबो हो।”

यहाँ पूँजी के लिए घर-बार छोड़कर जाते पति को रोकना एक तरह से पूँजी का विरोध ही है। कविता की यह ठसक देखने लायक है।

लेकिन अब बाजार का प्रभाव वैश्विक हो गया है। आज स्थिति यह है कि कोई ४० लाख की कार चलाते हुए भी इतरा नहीं सकता क्योंकि सड़कों पर दौड़ती उससे महंगी कारें उसे मुँह चिढ़ा देती हैं। बाजार के इसी प्रभुत्व

के चलते मनुष्य एक हीनता ग्रंथ का शिकार हो जाता है। बाजार गरीब को पूरी तरह उखाड़ देता है। उसे उसके गरीब होने का अहसास कराता है। उसे उसकी खुद की नजरों से गिरा देता है।

कवि उदय प्रकाश के शब्दों में कहें तो-

“...नींद के लिए बाकी था कल तक किसी कोने में  
एक अंधेरा

उठा ले गया बाजार

थोड़ी-सी थी जो इज्जत ले गई गरीबी....।”<sup>2</sup>

यहाँ जो उपभोक्ता बन सकता है बाजार उसी को ‘मनुष्य’ समझता है, जो उपभोक्ता नहीं बन सकता, वह मरता है मरे, वरना उसके मरने का इंतजाम बाजार कर देता है। यहाँ हर चीज बिकाऊ है। स्त्री देह से लेकर बच्चे की नाभि नाल तक। बाजार ने जैसे हमारी सोच, समझ सब कुछ को अपने वश में कर लिया है।

बाजार के इस शातिर स्वरूप पर व्यंग्य करते हुए शमशेर बहादुर सिंह ने कहा था-

“इल्मो-हिकमत, दीनों-ईमां, मुल्को-दौलत, हुस्नो-इश्क  
आपको बाजार से जो कहिए दिला देता हूँ मैं।”<sup>3</sup>

प्रेम, वफा, सादगी, हुशन सब कुछ। कोई यहाँ सब कुछ मिल भी जाता है और बड़ी बेरहमी से बिक भी जाता है।

वफा और सादगी ही नहीं कोई बेचे तो मैल तक बिक सकती है।

कवि लीलाधर जगूड़ी की ये पंक्तियाँ इसी ओर इशारा करती हैं-

“मैल कितना उत्पादक हो सकता है यह साबुनों और  
डिटर्जेंट पाउडरों के बीच हो रहे युद्ध से जाना जा सकता है  
जिन्हें सौन्दर्य के मैनेजर अधिक सुंदर दामों पर बेचने की  
होड़ में....”<sup>4</sup>

साबुनों और डिटर्जेंट पाउडरों का बिकना जरूरी है। वे मैल हटाये, यह जरूरी नहीं। बाजार में मैल हटाने और मैल हटाते हुए दिखने में अंतर पैदा कर दिया है। दिखना ज्यादा जरूरी है। उत्पादन के बजाय पैकेजिंग और मार्केटिंग पर ज्यादा विशेष निवेश दिखावे का बढ़ता महत्व है। जीवन में उसकी जगह लगातार बढ़ रही है। बाजार ने हमारी सोच और समझ पर

जैसे ताले लगा दिये हैं।

लोकधर्मी कवि शिवकुमार परा की ये चंद पंक्तियाँ यही बयान करती हैं—

“नाक बेचिके नथुनी कीनल जात बा खुसी-खुसी  
इहे अब विकास कहलाता, मती मराइल बा।”<sup>5</sup>

अपनी इज्जत मर्यादा को ताक पर रखकर पूँजी के लिए कुछ भी कर जाना यह बाजार की नियति है। यहाँ कविता बाजार की इस नियति पर उँगली उठाती है।

वर्तमान समय में संबंध भी अब दिखावटी ज्यादा हो गये हैं। बाजार के प्रभाव के कारण लोग सामने वाले का ‘स्टेटस’ देख कर, उससे जुड़े वाजिब मुनाफे को पहचान कर यह तय करते हैं कि उससे बात कैसे करनी है। दोस्ती, प्यार। विश्वास इन सबसे हमें दूर करने की जुगत में बाजार लगा हुआ है।

फहमीदा रियाज की इन पंक्तियों के सहारे कहूँ तो—

“है रोशनी इतनी मगर कुछ भी नजर आता नहीं/झूला पड़ा था डाल पर/इक दोस्त रहता था यहाँ/क्यों मिट गए सारे निशाँ/अब तो फकत हर मोड़ पर, हर गाम पर/बाजार है, बाजार है, बाजार है...।”<sup>6</sup>

ये रोशनी का अंधेरा है, इस रोशनी के चकाचौंध में आँखें चौंधिया-सी जाती है। बाजार कदम-कदम पर है। जो बाजार के लिए जितना अधिक योग्य होता है, वह उतना ही अधिक व्यस्त होता जाता है। झूले और दोस्त सिर्फ उसकी यादों में रह जाते हैं।

प्रसिद्ध कवि अष्टभुजा शुक्ल ने बाजार की इस फितरत की ओर इशारा करते हुए लिखा है—

“जब भी बाजार से गुजरो  
महँगा बिको, खरीदो महँगा दो में एक करो  
महँगी में भी सस्ती की योजना देखते जाओ  
तीन खरीदो तो ऊपर से एक मुफ्त ले आओ  
.....

चीन्हेंगे न सगे-संबंधी, प्रिय न करेगा प्यार  
अष्टभुजा घर से मत निकलो, चढ़ा हुआ बाजार।।

बाजार ने मनुष्य को आज एक प्रोडक्ट बना दिया है। आज के समय में करोड़ों वंचित लोग आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से लगातार हाशिए पर धकेले जा रहे

हैं। नकली और प्रायोजित सूचना के महाविस्फोट के इस दौर में उनकी आवाज की कोई सुनवाई नहीं है क्योंकि बाजार उस आवाज में कोई व्यावसायिक संभावना, कोई लाभ नहीं देखता।

वरिष्ठ कवि केदारनाथ सिंह ने अपनी ‘बाजार’ शीर्षक कविता में बाजार की इस शातिराना फितरत को बड़े ही सरल अंदाज में व्यक्त करते हुए कहा है—

“आओ बाजार चलें”/ उसने कहा/“बाजार में क्या है”/मैंने पूछा/“बाजार में धूल है”/उसने हँसते हुए कहा/...../मैंने पूछा— ‘धूल!/धूल में क्या है’/“जनता”— उसने बेहद सादगी से कहा/फिर हम दोनों चल पड़े/धूल और जनता की तलाश में/वहाँ पहुँचकर/हमें आश्चर्य हुआ/ बाजार में न धूल थी/न जनता/दोनों को साफ कर दिया गया था।”<sup>7</sup>

साधारण जनता यहाँ धूल की तरह है। साफ करने लायक। बाजार को धूल से (साधारण जन से) क्या लेना-देना, उसे तो साफ-सुथरी आकर्षक चीजें चाहिए तो उसके काम आ सके।

बाजार के बढ़ते प्रभाव के कारण रिश्तों और संबंधों को तो ताक पर रख दिया गया है। वो दिन भी अब गए जब बच्चों को मनुष्यता का सांझा भविष्य माना जाता था और इस मान्यता के अनुकूल ही उनसे व्यवहार किया जाता था। अब बच्चे भी व्यापार और विकृतियों के शिकार हैं। इसलिए निठारी जैसे कांड होते हैं।

कवि शलभ श्री राम सिंह की ये पंक्तियाँ कुछ और संकेत करती हैं—

“बच्चों की खोपड़ियों का व्यापार  
हो रहा है यहाँ,  
व्यापार हो रहा है उनकी हड्डियों का,  
गुदों, आँखों और खून का व्यापार।”<sup>8</sup>

बाजार ने एक ऐसी जीवन-शैली निर्मित कर दी है कि जिसमें शर्म कम हो रही है, पीढ़ियों का विश्वास कम हो रहा है, प्यार कम हो रहा है। अब जिसे जिंदगी ने बनिया बना दिया उसे प्यार करना कैसे आयेगा। विश्वसनीयता, समानता, कला, संवेदना, सहानुभूति, संबंध, पारिवारिकता, नैतिकता, साधना, संवाद, भाषा सब कुछ जीवन में अपनी

जगह खोते जा रहे हैं। बाजार ने आँसुओं की सच्चाई भी छीन ली है, साथ ही आँसुओं को पोछने वाली उँगलिया भी।

समकालीन कवि मंगलेश डबराल लिखते हैं-

“बाद में आँखों को कष्ट न देने के लिए कुछ लोगों ने मोती खरीदे/ और उन्हें महँगे और स्थायी आँसुओं की तरह पेश करने लगे// इस तरह आँसुओं में विभाजन शुरू हुआ असली आँसू धीरे-धीरे पृष्ठभूमि में चले गये/ दूसरी तरफ मोतियों का करोबार खूब फैल चुका है।”<sup>9</sup>

कविता ने बाजार की इस पालिटिक्स, इस नीयत पर उँगली रखी है। वह इसके खिलाफ अस्वीकृति दर्ज करती है।

कवि इब्बार रब्बी ने इसका विरोध करते हुए लिखा है-

“मैं मुनाफे की दुनिया में/ खड़ा होना नहीं चाहता

मैं लार का अक्षय कोश/ सुखाना नहीं चाहता

मैं चूजों को चुभने वाले/ दाँत नहीं उगाना चाहता

मैं बाजार भाव की इबारत/ मुनाफे की शब्दावली होना नहीं चाहता।”<sup>10</sup>

ये है कविता की अस्वीकृति, बाजार के प्रति उसका प्रतिपक्ष। कविता पूँजी के हँसते दशानन को पहचानते हुए उसे बेनकाब करने की लगातार कोशिश भी करती है और मनुष्यता को बचाने का प्रयत्न भी करती है।

एकांत श्रीवास्तव के शब्दों में- “कविता उस घर और गाँव को बचाने का निरंतर प्रयत्न करती है, भूमण्डलीकरण और बाजारवाद के इस दौर में जिनके उजड़ जाने का खतरा लगातार हमारे सिर पर मंडरा रहा है। हमारे घर और गाँव जो थोड़ा-थोड़ा उजड़ते जाते हैं, कविता उनके फिर से बसने का स्वप्न देखती है।”<sup>11</sup>

पिछले कुछ दिनों से कविता की मृत्यु का कर्णभेदी कोलाहल चहुँओर व्याप्त है। यह भी शोर है कि बाजार के बुरे प्रभाव में अब कविता भी आने लगी है और धीरे-धीरे वह भी समाप्त हो जायेगी।

प्रसिद्ध विद्वान गोलडमान के अनुसार- “बाजार का अर्थशास्त्र मनुष्य को इंडीविजुअल एक स्वतंत्र इकाई बनाते हुए कविता को ऐसी एकल आवाज बना देगा जो आंतरिक रूप से थकान और बाहरी रूप से क्षरण की शिकार होगी और अन्ततः उसकी मृत्यु हो जायेगी।”

यह सच है कि कहीं न कहीं कविता और साहित्य पर बाजार का बुरा प्रभाव पड़ा है। यदा-कदा साहित्य और साहित्यकार इसके शिकंजे में फँसते नजर आते हैं परंतु कविता पर बाजारवाद हावी हो जाये यह संभव नहीं।

कविता का कार्य ही है- सजग होना और सजग करना। पहले तो कविता समाज को उचित रास्ता दिखाकर सही दिशा में उन्मुख भी करती है। किसी भी तरह के लोभ, पुरस्कार, आर्थिक लाभ का उस पर कोई असर नहीं पड़ता। इसलिए गोलड मान जी का यह कहना कि बाजार की शिकार हो कविता की मृत्यु हो जायेगी, इनसे सहमत होना जरा मुश्किल है।

कविता उन तमाम बातों का विरोध करेगी जिससे देश को, लोक को, मनुष्यता को, आत्मीयता को खतरा हो। इसलिए यह स्वाभाविक है कि कविता बाजार का विरोध करेगी।

वह बाजार के सुनहरे चश्मे को हमारी आँखों से उतारने का यत्न निरंतर कर रही है और करती रहेगी। यह संदेश देते हुए कि-

“अच्छी नहीं है शहर के /रस्तों की दोस्ती/आँगन में फैल जाँएँ न/ बाजार, देखना।”<sup>12</sup>

संदर्भ:

१. समय-संवाद (पत्रिका), अक्टूबर-दिसंबर, २००७
२. आलोचना (पत्रिका), संपा. नामवर सिंह, जनवरी-मार्च, २००१, पृ. ६३
३. सुकून की तलाश- शमशेर बहादुर सिंह, पृ. १६
४. ईश्वर की अध्यक्षता में- लीलाधर जगूड़ी, पृ. १६
५. काहे रउवाँ बानी मन बेधिल- शिव कुमार पराग, पृ. ८
६. वसुधा-५३, समकालीन उर्दू साहित्य पर केन्द्रित, अंक- जनवरी-मार्च, २००२, पृ. १४९
७. यहाँ से देखा- केदारनाथ सिंह, पृ. ३८-३९
८. उन हाथों से परिचित हूँ मैं- शलभ श्रीराम सिंह, पृ. २४
९. हम जो देखते हैं- मंगलेश डबराल, पृ. ३९
१०. वर्षा में भींगकर- इब्बार रब्बी, बच्चे की लार (कविता)
११. कविता का आत्मपक्ष- एकांत श्रीवास्तव, पृ. ९५-९६
१२. खोया हुआ-सा कुछ- निदा फाज़ली, पृ. ४४



## कबौटी-कविता : कवि-मन दृष्टि और भ्रष्टियाँ देवनाथ सिंह आनंद गौतम

कविता की परंपरा/त्वं समुद्रो असि विश्व वित् कने/त्वेमा पंच प्रदिशो विधर्गणि/त्वं द्या च पृथ्वी चरित  
अभिन्ने/तन ज्योतिषि पर्वमान सूर्यः ।-ऋग्वेद ९/८६/२९

(अखिल विश्व के ज्ञाता हे कवि! तुम समुद्र में पाँच विरोधी तत्त्व तुम्हारे काव्य-नियम हैं धरा गगन के पार यह पवनमान ज्योतिषाँ सूर्य, तुम्हारी ही विभूति है)

वैदिक विश्व-बोध, इस जगत को परमात्मा की रची हुई कविता के रूप में देखता है-

‘देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जार्यति।’ (अथर्ववेद १०/८/३२।)

अतः स्पष्ट है कि सम्पूर्ण जगत को परमात्मा का काव्य कहना काव्य की एक व्यापक अवधारणा है।

“ऋषि जन कहते हैं कि देवता काव्य से बढ़ते हैं (स वृधे काव्येन- ऋग्वेद ३/१/८) तो काव्य का एक और रूप उनकी दृष्टि में है। यह मनुष्य के द्वारा साक्षात्कृत है, इसमें भी देवतत्त्व समाहित है। शतपथ ब्राह्मण (७/२/२/१७) तथा वृहदारण्यक उपनिषद् (१/५/१४) में प्रजापति की सोलह कलाओं का विवरण है, जो काल या समयचक्र के रूप में जगत को धारण करती है। यदि यह जगत परमात्मा के द्वारा रची कविता है, तो इस कविता को कवि या कलाकार अपनी कृति में नए सिरे से रचता, कहता और प्रस्तुत करता है। ऐतरेय महीदास इस दृष्टि से समस्त कलाओं या शिल्प को दो प्रकार का मानते हैं- देवशिल्प और मानुष शिल्प। देवशिल्प की ही अनुकृति मानुष शिल्प है। इस संसार के नाना पदार्थ देवताओं के शिल्प हैं। उनकी आकृति में मनुष्य अपना शिल्प, कला या कविता रचता है। (ऐतरेय ३०/१, भाग-३, पृ. १३१) (भारतीय काव्यशास्त्र की आचार्य परंपरा- डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी प्र.सं. २००७ई पृ. ९-२)

कविवचन जायता च लोकयामा।/ सैव निःश्रेयस् मूलम् इति महर्षयः। (काव्यमीमांसा)

(लोकयामा कवि वचनों के आयत्त या अधीन है। वही निःश्रेयस् का मूल है, यह महर्षियों ने माना है।) काव्यशास्त्र के आचार्य के रूप में राजशेखर की यह जो मान्यता है कि संसार कवि-वचनों के अधीन है, अर्थात् कवि अपनी परिकल्पनाओं से लोकयामा को प्रभावित करता है। राजशेखर का स्पष्ट कथन है-

“स यत्स्वमान कविः तदुत्तुपं काव्यम्।”

(कवि जिस स्वभाव का होता है, तान्निर्पित काव्य भी उसके ही अनुरूप होता है।)

अतएव, मेरा यह विश्वास है कि कवि-मन से सृजित कविता की दृष्टि और सृष्टियाँ समझने के लिए कवि की कविता से अच्छा आत्मकथ्य और क्या हो सकता है, क्यों बाह्यान्तर और आभ्यन्तर में जो कुछ होता है, उसे ही तो कवि अभिव्यक्त करता है।

अतएव, मेरा सहृदयों से कहना है कि- कविता वही सार्थक है, जो दूसरों के हृदय में जाकर अपना प्रकाश कर सके, जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है-

मनि-मानिक, मुकता छवि जैसी/ अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी।

नृप किरति तरुनी तनु पाई/ नहिं सकल सोभा अधिकाई।

तैसेहि सुकवि व्यक्ति बुध कहहीं

उपजहिं अनत अनत छवि लहहीं।

(तुलसी ग्रंथावली प्रथम खंड, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, पृ. ०९)

साहित्यकार की क्या विशेषता है? जो अन्य नहीं सुन सकते, साहित्यकार उसे सुन सकता है। इसीलिए वैदिक ऋषि कवि ने कहा है- “काव्य सत्यश्रुतः। जो अन्य नहीं देख सकते, साहित्यकार उसे देख सकता है और अन्य जिसे व्यक्त नहीं कर सकते, साहित्यकार उसे व्यक्त कर सकता है। गोस्वामी तुलसीदास का अटूट विश्वास है- ‘कवि हिं अरथ आखर बल साँचा।’ इसी विश्वास के बल पर ही “माटी का प्रकर्ष” में मेरा कवि-मन लिख सका है- “मधुमिता कविता।”

“मधुमति कविता ढल गई, अनाम रिशतों के नाम साहनी-सरिता बह गई, रस-सागर के नाम/ ठहरे रह गए, तट-तरु बहु तमाशाई/ गोताखोर प्रतिभा आसरे कर गई, अपना काम।”

आचार्य वामन ने ‘प्रतिभा’ को काव्य-बीज कहा है। वामन रीति-सिद्धांत के प्रवर्तक आचार्य के रूप में जाने जाते हैं। वामन के दस शब्द गुणों तथा दस अर्थगुणों के लक्षण- काव्यालंकार सूत्र ३.१५.२५ में देखे जा सकते हैं। वामन कहते हैं कि जिस तरह सुंदर युवती की काया में यौवन रहता है, ऐसे ही काव्य में गुण। उसकी काया से यौवन को अलगाया नहीं जा सकता। आनंदवर्धन ने व्यक्ति के सौंदर्य को समझाने के लिए यही दृष्टांत लिया है। तुलसी के अनुसार- “सब चरित’ समास बखाने’ कवि हिं अरथ आखर बल साँचा। तथा ‘अरथ अमित अति आखर थोरे।’ तुलसी के अभिकथन सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक रहे हैं और ये सर्वथा प्रासंगिक बने रहेंगे। मेरे ‘कविता के बीज’ के प्रेरणास्रोत यही रहे हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कविता को हृदय की मुक्तावास्था कहा है, जो आत्मा की सांकल्पिक अनुभूति है। शुक्ल जी का अभिप्रेरक कथन “आत्मा की मुक्तावास्था ज्ञान-दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावास्था रस-दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं। इस साधना को हम भाव-योग कहते हैं तथा कर्मयोग एवं ज्ञानयोग के समकक्ष मानते हैं।

उत्तर योगी महर्षि अरविंद ने ‘भावी कविता’ को मंत्र की संज्ञा दी है। भारतीय मनीषा का प्रथम काव्य-प्रवर्तन मंत्रों में ही हुआ है- “महर्षियों को मंत्र द्रष्टा कहा गया है। घटित, घटमान और घटिष्य-मान को सत्कार-भाव से देखने वाला ही वास्तविक द्रष्टा कवि है। ऐसे कवि की कविता संयत समाज की रचनात्मक ऊर्जा होती है। निश्चय ही हर सृजन की सार्थकता है।

“यत्परः शब्दः स शब्दार्थः” (जो शब्द जिसके लिए होता है, वही शब्द का अर्थ होता है।) (नपत्य)।

महान दार्शनिक याज्ञवल्क्य ने कहा है- “एतस्यवा” हे गार्गी! इस अक्षर ब्रह्म के शासन में सूर्य और चंद्रमा विधृत होकर अवस्थित हैं। इसके पूर्व ऋग्वेद १-३-१०, १२ में कहा गया है-

पावका नः सरस्वती वाजे वाजिनवती/...../महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयति केतुना। (ऋग्वेद १०/१२५)

(हमारी वाणी पवित्र करने वाली और ऐश्वर्यमती है। यह सरस्वती ज्ञान के महासागर तक पहुँचाने में समर्थ है।)

वैदिक महर्षियों ने “पावका न सरस्वती” कहकर, भाषा को आलोक के लिए संचारिणी दीपशिखा कहकर गौरवान्वित किया है। महामति पाणिनि ने कहा है- “आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनोयुक्त विवक्षयाः’ आत्मा बुद्धि के द्वारा सब अर्थों का आकलन करके मन में बोलने की इच्छा उत्पन्न करती है। बंधुवर! प्रत्येक राष्ट्र की अपनी भाषा, अपनी धरती से प्रभाव ग्रहण करती है, ठीक वैसे ही जैसा कि मानव व्यक्तित्व अपने प्राकृतिक परिवेश से प्रभावित होता है।

सरस्वती वाणी की अधिष्ठात्री क्यों कही गई- प्रियवर सोंचे आप। ऋग्वेद का नाक् सूनत्त सर्व प्रसिद्ध है। वाग्देवी कहती है- “अहं राष्ट्रो सङ्गमती वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञि या नाम।” (१०.१२५.३)। प्रणियों की जीवन-भक्ति प्राण-दर्शन और चिंतन भक्ति मुझसे ही प्राप्त होती है। जिस पर मेरी कृपा होती है, वे ऋषि ही श्रेष्ठ और बुद्धिमान होते हैं। मैं सम्पूर्ण विश्व में परिव्याप्त हूँ और वायु के सदृश सभी स्थानों पर संचरणशील। मैंने ही दिव्य पावक प्रगट किया है, मैं ही पंचमूलात्मक सृष्टि का हेतु हूँ। बंधुओं! उपनिषदों के अनुसार- “तथा सरात्सं मनतीह

विश्वम्- (मुणन्द १.१.७) वाणी से ही सभी पदार्थों की स्थिति है। छान्दोग अ. (६.१.४) के अनुसार जिस प्रकार मिट्टी के ढेले से, मिट्टी के सभी पदार्थों का ज्ञान होता है, जिस प्रकार लोहमणि से सभी लोहे के पदार्थ जाने जाते हैं, उसी प्रकार वाणी का प्रसार अथवा आलम्बन- यह यह सृष्टि वाणी का ही विलास है। गीता इसे ही ‘अक्षर ब्रह्म परम’ कहती है। अक्षर अविनाशी है- “अक्षरति इति अक्षरम्।” “अनादि निधनं ब्रह्म शब्द तत्त्वं सद्क्षरम् (भर्तृहरि) ऐसी सरस्वती की आराधना में तन-मन से यदि हम जुट जाएँ, तो परम कल्याण के भागी बनेंगे। इस पर मेरे कवि मन का विश्वास है।

सरस्वती श्रुति महती न ही यताम्। -भरतमुनि

सरस्वती ऐसी महती श्रुति है, जिसका कभी नाश नहीं होता।

यहाँ ध्यातव्य है कि मुक्तांचल के अंक-८, अप्रिल-जून २०१६ के संपादकीय (संस्तुति) में डॉ. मीरा सिन्हा ने पते की बातें कही हैं- “...नई जमात क्या केवल डिग्रियाँ बटोरकर बैठ जाएगी? उनके लिए भाषा और साहित्य क्या सिर्फ रोजी-रोटी का जरिया बनकर रह जाएगा। क्या साहित्य-जगत चर्चा-परिचर्चा, पाठ, पुनर्पाठ, आलोचना-प्रत्यालोचना से दूर होता ही चला जायेगा?” ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जो साहित्य संसार में बढ़ती जा रही विपत्ति का संकेत देते हैं। शोध और समीक्षण में संकट है ही, सृजन का पक्ष भी बहुत कमजोर हो रहा है। कहानी हो या कविता बड़ी ही सपाट हो रही है। अतः अपनी निजस्वता एवं स्वाभाविकता दोनों ही खो बैठती है। कहानियाँ स्लोगन से ज्यादा कुछ नहीं कह पातीं और कविताएँ शब्दों को भावों के साथ संवलित नहीं कर पातीं, फिर भी कोई बात कविता तो नहीं हो जाती न! हो भी सकती है कोई बात कविता जब कवि शब्दों की सवारी ठीक तरह से गाँठ सके और ‘अर्थ संकोच’ और ‘अर्थ-विस्तार’ को सही आयाम दे सके। ‘मुक्तांचल’ के अगले अंक को कविता केन्द्रित करने की योजना है।” (पृ. ७)

हम स्वागत करते हैं कि ‘मुक्तांचल’ कविता पर केन्द्रित अंक प्रकाशित करने जा रहा है। इस संबंध में, संपादकीय विचारों पर मंथन की जरूरत है, जो इस छोटे से आलेख में पूर्णतः संभव नहीं।

निःसंदेह उपज सर्वाधिक आवश्यकता मानव को मानवीय बनाने की है, उसमें कविता की भूमिका सर्वाधिक है उस मनुष्य के निर्माण को जिसे सुकरात दिन में लालटेन लेकर ढूँढ़ता था, जिसे प्रेमचंद के अनुसार- “साहित्यकार समाज के आगे मशाल लेकर चलता है।” ऋग्वेद की ऋचा- “ऋजुनो वरुणो मित्रो न्यतु निद्रान।” अर्थात् मित्र वरुण हमें कुटिल रहित नीति का सुफल दें” में कहा गया है। आज भी अधिकार का संबंध व्यक्ति से है तो कर्तव्य का समाज से। इसके लिए आत्मानुशासन और आत्मत्याग होना चाहिए, यही कर्तव्य का मूल है इसीलिए गाँधी जी ने साध्य हेतु साधन की पवित्रता पर बल दिया है। अर्थात् कथनी और करनी में साम्य हो, विषमता न हो। आचार्य रामचंद्र शुक्ल दो टूक शब्दों में कहते हैं कि “साहित्य को राजनीति के ऊपर रखना चाहिए, सदा उसके इशारों पर ही न नाचना चाहिए।” (हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ. ५१२) आचार्य शुक्ल का यह कथन आज भी प्रासंगिक है। शुक्ल जी का यह कथन भी महत्वपूर्ण है- “काव्य के क्षेत्र में किसी “वाद का प्रचार धीरे-धीरे उसकी सारवत्ता को ही चर जाता है कुछ दिनों से लोग कविता न लिखकर ‘वाद’ लिखने लगते हैं। (चिंतामणि भाग-१, पृ. १६२) वादग्रस्त काव्य अधिकतर काव्याभास ही होता है।” (चिंतामणि भाग-२, सं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, चतुर्थ सं., पृ. ४९)

अतएव, कवि को सदैव ही अपनी निजी प्रामाणिक अनुभूतियों का ही अंकन अपनी कविताओं में करना चाहिए। इसमें हमें संदेह नहीं है। यहाँ यह ध्यान रहे कि भारतीय काव्य चिंतन में ध्यान को केन्द्रीय कारक माना गया है। ध्यान का अर्थ है, विषय के साथ विषयी का तादात्म्य। अनुभूति के स्पष्ट और स्वभाव पर विचार करते हुए डॉ. गोविंद चन्द्र पाण्डेय का यह कथन हमें भूलता नहीं- “अनुभूति मूलतः आत्मानुभूति होती है, क्योंकि अनुभव मात्र में एक दोहरी सांकेतिकता अन्तर्निहित है- आदर्श सत्ता की और आत्मचेतना की। आत्मप्रतीति ही उसका मूल है।” विशेष अध्ययन हेतु हम डॉ. गोविंद चंद्र पाण्डेय के सुप्रसिद्ध ग्रंथ ‘भारतीय परंपरा के मूल स्वर’ (पृ. ९४-११९) के चौथे अध्याय- ‘अनुभूति और अभिव्यक्ति’ को देख सकते हैं। और साथ ही श्री नरेश मेहता की कृति-

“काव्यात्मकता का दिक्-काल’ (राधाकृष्ण प्रकाशन, सन् १९९१। नई दिल्ली) को भी। श्री नरेश मेहता ने ‘काव्य’ और ‘व्यक्ति’ इन दो आधारभूत संज्ञाओं में पार्थक्य माना है। उनका कहना और मानना है कि “अंग्रेजी में ‘पोएम’ और ‘पोएट्री’ भिन्न अर्थ देते हैं और इनका वैसा ही व्यवहार भी किया जाता है जबकि हम इसका ध्यान प्रायः नहीं रखते या कम रखते हैं। कोई या किसी एक कविता के लिए ‘पोएम’ की भाँति ‘कविता’ शब्द का प्रयोग ही उचित और सही है, तथा समग्र या बड़ी कविता के लिए ‘काव्य’ शब्द प्रयुक्त की जानी चाहिए। मैंने इन संज्ञाओं को इन्हीं अर्थों में व्यवहृत किया है। अस्तु (काव्यात्मकता का दिक्-काल, पृ. ११)

मुक्तांचल के संपादक ने भी यह विशेष सावधानी बरती है कि उन्होंने अपने संपादकीय में कहीं भी ‘काव्य’ शब्द का प्रयोग न करके, केवल कविता पर केन्द्रित मुक्तांचल के आगामी अंक को घोषित कर अपनी संपादकीय बुद्धिमता का ही परिचय दिया है।

बंधुओं! युगानुसार नियति और युगानुसार दुःशंकाएँ होती हैं। जैसे आप देखें कि कालिदास का दुःस्वप्न, मेरे साथे था कि “कहीं अरसि को केवल निवेदन करना न पड़ जाएँ, केशव दास चिंतित थे कि ‘चंद्रवदनि मृगलोचनी बाला कहिं कहिं- न चली जायें। और मुक्तांचल के संपादक की चिंता है ‘नई जमात क्या केवल डिग्रियाँ बटोरकर बैठ जाएगी। उनके लिए भाषा और साहित्य क्या सिर्फ रोजी-रोटी का जरिया बनकर रह जाएगा। आदि आदि।

याद आ रहा है हिंदी के महान यशस्वी साहित्यकार ‘अज्ञेय’ का संकट था कि “मैं क्या जानता था कि यह गति होगी कि विश्व विद्यालयों में हिंदी प्राध्यापकों द्वारा पढ़ाया जाऊँगा।”

कविता प्रारंभ से ही मुझे अपनी ओर आकृष्ट करती रही है। कवि वस्तुतः प्रजापति के ही सदृश है। प्रजापति की सृष्टि तो पंचभूतात्मक होने से मूर्त है। पर कवियों की सृष्टि तो नितांत अमूर्त। शब्द और अर्थ की जितनी शक्ति है, विश्व में उतनी किसी अन्य वस्तु की नहीं- *वागेवेदं सर्वं न ह्यं शब्दामि वहस्त्रि।* इसी से भारतीय वाङ्मय में कवि को ‘मनीषी परिभू’ (सर्वम स्वयं सत्ता वाला) कहा गया है।

ऋग्वेद का वाक्-सूक्त विश्व-प्रसिद्ध है, जिसके अनेक

सूक्तों में वाक् की महिमा का गायन किया गया है। वाक् देवी कहती हैं- ‘मैं शब्दार्थ-सत्ता धारिणी वाक्/एकादश, अष्ट, द्वादश, तैत्तीस/ ग्याना में सब कुछ/ जिस देवता का जो अंक है, गतिशीला हूँ उन्हें संजोकर और अपनी सामर्थ्य से चाहे वह- मित्र, वरुण, इन्द्र, अग्नि, आश्विन, मेरे साथे में है- शरणागत है। दूसरे वाक्-सूत्र में कहा है- मेरी परिधि में है/ आनंद उल्लास का प्रवाह/ चिंतन-सृजन-ऐश्वर्य की आधार स्थली/ अनुष्ठान में व्यस्त आराधक/ उच्चारण करता है- सार्थक शब्दार्थ युगल/ सत्य निष्ठा से परिपूर्ण/ वह भर जाता है- तृप्तिबोध से/ यही चमत्कार है, मेरा वाक् प्रसार।”

महाकवि कालिदास ने तो रघुवंश महाकाव्य के प्रथम श्लोक में ही कहा है-

वागर्थानि सम्पृक्तों वागर्थ प्रतिपत्तये।

जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ॥

(शब्द और अर्थ के समान नित्य सम्बद्ध (जुड़े हुए) तथा संसार के माता-पिता, भगवती पार्वती और भगवान शंकर को मैं शब्दार्थ परिज्ञान के लिए प्रणाम करता हूँ।)

गोस्वामी तुलसीदास के रामचरित मानस बाल कथा-दोहा १८ के अनुसार-

गिरा अरथ जल बीच सम कहिअत भिन्न न भिन्न

वन्दऊँ सीताराम पद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न।

अर्थात् गिरा (वाणी) से निःसृत शब्द और अर्थ के बीच ठीक वैसा ही कहने सुनने के लिए दो अलग अलग संज्ञाएँ होते हुए भी, दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। शब्द बिना अर्थ के अपना मूल्य खो देता है तथा अर्थ की अभिव्यक्ति शब्द के बिना संभव नहीं। अतएव शब्द और अर्थ पारंपरिक रूप से अनुस्यूत हैं। अतः शब्द और अर्थ कवि और काव्य-विधान के लिए अनिवार्य तत्त्व हैं। मेरी दृष्टि में जैसा कि डॉ. मीरा सिन्हा जी अपने सारगर्भित संपादकीय में लिखती हैं- ‘जनकवि शब्दों की सवारी ठीक से गाँठ सकें’ उनके कथन का यही अभिप्राय है। कविता में ‘अर्थ-संकोच’ और ‘अर्थ-विस्तार’ जो प्रश्न उठाया है उन्होंने, उसके लिए एक स्तंभ आलेख की जरूरत है। जो यहाँ संभव ही नहीं। अतः इस प्रश्न पर हमारा मौन रह जाना ही फिलहाल उचित है क्योंकि आलेख की पृष्ठ

संख्या बढ़ती ही जा रही है, जो लेखक के लिए स्वयं चिंता का विषय है।

अतः मैं अपनी कविता आपके समक्ष प्रस्तुत कर, आपसे विदा लेना चाहूँगा।

जो संवेदनशील होते हैं/उनकी आँखें भी/पारदर्शी हो जाती हैं/ वे आँखें/ गाँव के खिलौने से/ नगर के बिछौने तक, धरती से नभ तक/ पर बाहर से, आँगन तक/ चुपचाप- / सबको देख लेती हैं/ कविता वस्तुतः/ हमारे बाहर- भीतर की/ उसी पारदर्शिता को/ अभिव्यक्ति देती है/ कविता/ धरती से नीली रेखा तक/ कोलाहल-सूनापन/ सुधुत्रि-जागरण/ जीवन-मरण/ समझा दस्तावेज बन जाती है/ कविता/ हमारी प्रार्थना को मुद्रा है/ मौन समर्पण/ आत्म-दर्शन/ कहीं-न-कहीं/ जिस पर पड़ा हुआ है/ प्रभु छाया का आवरण/ कविता/ नहीं, मात्र/ मानप्रदर्शन/ वह कवि का जीवन-दर्शन/ कविता आदमी को भय-मुक्त करती है/ “मा भैः” का संदेश देती है/ कविता/ आदमी को कद्दावर बनाती/ सलीन पर चढ़े/ सूरज के सच को/ सबसे पहले वही/ पहचानती है/ मनु-कामयानी के/ वच जाने की कल्पना करती है/ मरुधर में भी हरियाली स्वती/ जीवन-मूल के भीतर सांस लेती है/ विध्वंस के बीज निर्माण के बीज/ बोती है। कविता/ हाथ में लाठी लेकर नहीं/ शुद्ध भावना से/ नीली रेखा तक हमें दर्शन कराती है। वसंत पंचमी २७ जनवरी १९३३ ई. (‘रंगों का पुल’ पृ. १५ से)

कविता क्या है ?

“कविता वर्ग-मय चित्र है।” भीतर का बाहर से, जड़ का चेतन से कौन संबंध कराती है; कविता हीन। (प्रसाद: स्कंदगुप्त)।

“जब रेल-तार से दुनिया जुड़ चुकी हो, फिर मनुष्य के हृदय न जुड़ पाये हों, तब तुम किसी कवि को बुलाना, वही इस काम को पूरा करेगा।” (अमेरिकी महाकवि वाल्ट हिट्मैन)।

जैसा कि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने कहा है- “जो मनुष्य अपने को दलित द्राक्षा के समान निचोड़कर

समस्त, सुख-दुखों की तेल-बाती में जलाकर- मनुष्य अपने आपको ‘महाएक’ को समर्पण करता है, तो वह ‘मनुष्य’ बनता है। उसका संपूर्ण जीवन चरितार्थ होता है।” (विचार प्रवाह: मानव- सत्य, पृ. २११) आचार्य श्री ने जो यह बात कही है- “मनुष्य की जो सबसे सूक्ष्म और महनीय साधना है, उसी का प्रकाश साहित्य है।” (विचार-प्रचार, पृ. १७९) मेरे साहित्य-सृजन का उद्देश्य है जैसा कि मैंने ‘अपनी बात’ माटी का प्रकर्ष में मौने कहा है- “मनुष्य से मनुष्य की तरह बोलना, बोलने देना ही कविता है। कविता का लोकतंत्र है। यह ‘ठोंक-तंत्र’ के विरुद्ध है। वह मनुष्य और मनुष्यता के साथ है-

जूता कहाँ काटता है/ दर्दी ही जानता है।

नंगे पाँव के घाव/ आजाद कवि मानता है।

पदमता (वाद और व्यवस्था) यहीं तक और वह मानवीय है। जब तक और जहाँ तक वह पदभरी न हो। ऐसा होते ही, वह दानवीय हो जाती है, तब उसे फेंक कर नंगे पाँव, घाव साहित्य चलना ही आजाद मनुष्य और आजाद कवि के लिए श्रेयस्कर है।

और अंत में मैं आचार्य विद्यानिवास मिश्र के इन शब्दों के साथ- “रचना और आलोचना के बीच एक कड़ी है आस्वाद। रचना का उद्देश्य ही आस्वाद्य होना, आस्वाद होने के लिए संप्रेष्य होना। आलोचना आस्वाद के बिना नहीं होती है, तो वह निरंकुश हो जाती है। रत्न को पारखी की अपेक्षा होती है, गुण को गुणग्राहक की। उसी प्रकार रचना को अपेक्षा होती है, सहृदय पाठक या श्रोता का। ऐसे पाठक या श्रोता की जिसका हृदय रचनाकार के हृदय के साथ एक रूप नहीं, बल्कि एक हो चुका है।” (साहित्य-अमृत, संपादकीय, जनवरी। १९६६ वर्ष -१, अंक-६)

पुनश्च भवभूति को ही नहीं, हर रचनाकार के मन में ऐसे समान धर्मों की आकुल प्रतीक्षा रहती है और साथ ही उसके आने का अटूट विश्वास भी उसके मन में रहता है। ‘मुक्तांचल’ के सहृदय पाठकों से मेरा कवि-मन भी यही आकांक्षा पाले हुए है। आपकी प्रतिक्रिया से इस आलेख की सार्थकता का कुछ अहसास हमें हो सकेगा।

संपर्क : उदयाचल निलयम खालिसपुर, मिर्जामुराद, वाराणसी- 221307, मो. 09452075517

डॉ. रामदरश मिश्र

जख मैं यहाँ से जाऊँगा

जब मैं यहाँ से जाऊँगा  
तब पता नहीं कहाँ हूँगा  
यदि आत्मा अमर है  
तो यहाँ से जाने के बाद भी मैं यही रहूँगा  
अपने इस देश की छवियाँ  
प्रतिबिंबित होती रहेंगी मुझमें  
जिसकी हवाएँ मेरी साँस बनती रही है  
मुझमें झिलमिलाता रहेगा वह गाँव  
जहाँ मैंने आँखें खोलीं  
जहाँ की मिट्टी में, मेरे जीवन-रंग गढ़े  
महकती रहेंगी ऋतुएँ अपने गान के साथ  
खिलखिलाते रहेंगे खेत-खलिहान, बाग-बगीचे  
पुकारते रहेंगे आहों भरे स्वर  
चमकते रहेंगे वे शहर  
जिनमें मेरी शैक्षिक, साहित्यिक यात्राएँ चलती रही हैं  
जहाँ मेरे अनुभवों को विस्तार और गहनता प्राप्त हुई  
गूँजती रहेंगी परिवार और मित्रों की आवाजें  
जो पहले चले गए हैं  
उन्हें वहाँ खोजूँगा  
जो यहाँ बचे हुए हैं उन पर आशीष ढरकाऊँगा  
यदि सरस्वती जी मुझसे पहले चली गईं  
तो उन्हें कहीं न कहीं पा ही लूँगा  
ये भी तो मुझे कहीं से देख रही होंगी  
यदि पहले मैं गया  
तो वहीं से इन्हें देखता रहूँगा  
और आता-जाता रहूँगा इनके सपनों में

दीवार

दीवारें ईंट, सीमेंट और रंग-रोगन से बनी हैं  
ये अपने सिर पर छत को उठाये हुए  
हमें पनाह देती हैं घोर सर्दी, गर्मी और आँधी-पानी से  
इनसे बने कमरों में चलती रहती हैं  
जीवन की अनेक गतिविधियाँ  
ये साक्षी हैं  
लगातार चलने वाली साहित्यिक गोष्ठियों की  
गोष्ठियों में उठने वाली भाव-विचार-तरंगों की  
न जाने इनमें  
हमारे जीवन का कितना हंसी-उल्लास निहित है  
हमारे माथे के कितने धब्बे अंकित हैं  
हाँ हम इन पर माथा टिकाकर  
कितनी ही बार रोये हैं  
इन पर टँगी हुई है राम-कृष्ण की छवियाँ  
अनेक साहित्यकारों और समाज सपूतों की तस्वीरें  
जिनकी साँसे निकल-निकल कर  
इनमें व्याप्त हो रही होंगी  
अब ये दीवारें नहीं हैं  
हमारी परम आत्मीय हैं  
हमारी आँखें नित्य प्रति इन पर  
अपनी ज्योति की लिपियाँ अंकित करती रहती हैं  
सोचता हूँ यदि यह घर छोड़ कर  
कभी जाना पड़ा  
तो सब कुछ तो साथ चला जायेगा  
किंतु ये यहीं छूट जायेंगी  
हमें पुकारती हुई सी।

## कविता

### परदा

ऊँचे लोगों के कमरों में  
पारदर्शी शीशों के भीतर बहुमूल्य सुंदर परदे टँगे हैं  
ताकि उन्हें बाहर का कोई न देख सके  
और वे धीरे से परदा हटाकर  
बाहर का सब कुछ देख सकें  
परदे के भीतर वे जाल बुनते रहते हैं  
अपने स्वार्थ और समाज के अहित का  
उनके भीतर का असुर नंगा होकर घूमता रहता है  
जब वे परदा हटा कर बाहर निकलते हैं  
तब देव पुरुष बन जाते हैं चेहरे पर सौजन्य चिपकाये हुए  
मंच पर परदा टंगा होता है  
जिसके पीछे रूप-परिवर्तन की क्रियाएँ चलती रहती हैं  
कलाकार अपने को छोड़कर  
विविध व्यक्तियों के रूप धारण करते रहते हैं  
और दर्शक विविध भावों के बहावों में बहते रहते हैं  
वे घर जाते हैं तो  
रूपों और संवेदनाओं की अनेक छवियाँ  
उनमें दीप्त हो रही होती हैं  
तब लगता है कि कितना मूल्यवान है यह परदा  
जो अपने में विविध जीवन सत्त्यों को समेटे रहता है  
एक परदा सौन्दर्य का होता है  
कुछ सुंदरियाँ अपने को समूचा परदे से ढके होती हैं  
उनका अदृश्य सौंदर्य भीतर बूढ़ा हो जाता है  
सौन्दर्य अपने को दूना कर लेता है  
जब वह थोड़ा परदे में होता है थोड़ा परदे के बाहर  
दृश्य अदृश्य मिलकर अद्भुत सौंदर्य की रचना करते हैं  
टूटे फूटे मकान के टूटे दरवाजों पर  
एक फटा-पुराना परदा टँगा होता है  
उसके पीछे फटे-पुराने कपड़े पहने  
औरतों की जिंदगियाँ चलती रहती हैं आश्वस्त भाव से  
धन्य है यह परदा  
जो गरीबी की लाज का पहरेदार बना हुआ  
बाहर के आघात सहता है।

### राह

मैं राह हूँ  
तुम्हारे अंग्रेजों ने बीहड़ में चल चलकर  
मुझे बनाया  
उनकी कितनी ही पग-ध्वनियाँ  
मुझमें समाई हुई हैं  
तुम मुझ पर पांव रखते हुए  
गंतव्य की ओर जाते रहते हो आसानी से  
कभी तुम्हें अपने अग्रजों का ऋण अनुभव हो  
तो तुम भी किसी सुनसान में चलकर  
कोई राह बना देना  
जिस पर कल आने वाले चल सकें।

### कविता खोलने लगती है

जब मैं बोलता रहता हूँ  
तब कविता चुप रहती है  
जब मैं चुप हो जाता हूँ  
तब कविता बोलने लगती है

### सीढ़ी

वह बाँस की सीढ़ी से  
ऊपर चढ़ता गया  
और सीढ़ी ऊपर खींचता गया  
शायद उसे ज्ञात था कि  
ऊपर की हवाई दुनिया में  
बहुत दिन तक नहीं रहा जा सकता  
किसी दिन नीचे आना ही होगा  
धरती की ठोस सतह पर  
वह ऊपर से गिरकर टूट न जाए  
इसलिए सीढ़ी साथ रख रहा है।

### संपर्क :

आर 38, वाणी विहार, उत्तम नगर,  
नई दिल्ली- 110059, मो. 9211387210

विष्णु चंद्र शर्मा

अपने में मान बूढ़ा

देखिए  
रात.....है  
और कमरा बंद !  
अकेले बूढ़े पर  
आप हँसे मत...  
न उसके सन्नाटे में दखल दें...  
न बेवजह उसके सन्नाटे में खलल दें  
न उसके अकेलेपन का ताना-बाना बिगाड़े।  
आप सभी इत्मीनान से  
अपनी नई पुस्तक का कवर देखें  
या फिर धीरे-धीरे पुरस्कारों की राशि गिने...  
अकेला बूढ़ा उसी फ्रांस में  
मिश्र का घर खोज रहा है।  
या जर्मनी में  
रायता हफलैंड से गिटार सुन रहा है !  
देखिए अकेले बूढ़े को  
रहने दें अपने में मगन।

विज्ञापनदाता थे

एक बच्ची ने पहले  
खाली गली में पानी का बुल्ला उड़ाया।  
जब तक बुल्ला हवा में नाचता रहा  
तब तक उस बच्ची की आँखें चमकती रही  
फिर दूसरी बच्ची ने बुल्ला उड़ाया  
फिर तीसरी ने...  
मैंने मन में कामना की  
इन बच्चियों का बुल्ला जब तक हवा में उड़े  
तब तक वह आँखों आँखों में नाचती रहें....  
आप विज्ञापनदाता  
विज्ञापन अपने अंग्रेजी अखबार के  
पहले पेज पर जरूर छाप दें।  
वह बच्चियाँ वाकई हँसते हुए रो देंगी।  
बुल्ला-सी इनकी खुशी फिर  
मेरी आँखों में बरकरार रहेगी।  
संपर्क: ई-11, सादतपुर,  
दिल्ली-110090, मो.09810481433



## यश मालवीय

### पिता का माथा विंध्याचल का

फूल भरी अंजुरी मन होता गहरी रेखाओं के,  
 पल-छिन गंगाजल सा, अब भी उठते हैं, तो छँटते  
 आता याद पिता का कुहरे चिंताओं के।  
 चौड़ा माथा विंध्याचल सा॥ कैसे भूलें सूर्योदय का  
 आशीर्वाद सरीखा सिर पर छू देना कोमल-सा॥  
 सावन भादो बरसे, तस्वीरों की धूल झाड़ती  
 नई दिशाएँ खुल जाती हैं यादें हैं दर्पण सी,  
 जब भी निकलो घर से। राह देखती माँ देहरी पर  
 पूरा पूरा चेहरा उगता पीढ़े के बर्तन सी।  
 उड़ जाता बादल सा॥ हम तो खुले किवाड़े, हममें  
 रात उतरती है तो कोई बजता वह सांकल सा॥  
 आ जाता सिरहाने टूटे बदन टांकती खिड़की  
 अब भी लोरी लिखता कोई आँखें हैं सूनी-सी,  
 गाता मीठे गाने। हमें ऊष्मा देती है कुछ  
 हल्की नींद, अभी भी सपना तारीखें ऊनी-सी।  
 जगता है वत्सल सा॥ हम तो फूल शीत के, हमसे  
 स्वेद बिंदु पोंछना स्नेह से लिपटा वह कंबल-सा॥  
 फिर फिर स्नेह सँजोना, झोंका तेज हवा का आता  
 याद हमें है कड़ी धूप में नहला देता मन को,  
 उत्सव का संग होना। मुख्य मार्ग पर ला देता  
 सघन छाँव बनकर छा जाना पगदंडी से जीवन को।  
 बरगद-सा, पीपल-सा॥ दिन बीते, पर अब भी मन में  
 वह रूमाल हथेली वाले महके कुछ संदल-सा॥

### कितना भी मौसम झुलसाए

कितना भी मौसम झुलसाए  
 याद हरी लगती है  
 कब की खुली कलाई से  
 पर घड़ी बँधी लगती है  
 'यूज एण्ड थ्रो' के कठिन समय को  
 साँसो-साँसों सहते  
 रिश्ते कहीं फाउंटैन पेन से  
 तारीखों में रहते  
 हर निशान के पीछे कोई  
 चोट छुपी लगती है  
 मन अतीतजीवी होकर भी  
 वर्तमान को जाने  
 एक डायरी, समय रख दिया  
 करता है सिरहाने  
 खुलती नींद कहीं जंगल में  
 ट्रेन खड़ी लगती है  
 दुपहर की किताब से बिन बोले  
 सन्नाटा झाँके  
 चौंका जाती शाम, समय से  
 थोड़ा पहले आके  
 अपनी छाया, अपने कद से  
 बहुत बड़ी लगती है।

संपर्क : ए-111 मेंहदौरी कॉलोनी, इलाहाबाद

## तरसेम गुजराल

### किताब से सीखा

किताब से सीखा मैंने  
 सृजन का मतलब  
 सीखा कि  
 मृत्यु का मतलब भी  
 अंतिम अलविदा नहीं  
 या फिर जीवन का मतलब  
 किसी पराये को भी गले लगाना  
 उसके दुःख में अपनी आँख  
 को गीला पाना  
 किताब से सीखा  
 दिन बीतने से पहले  
 जितने कंकड़ बीन लिये रास्ते के  
 यही अनुभव है आदमी का  
 जनेतिहास का एक एक पन्ना  
 बना है आदमी के अनुभव से  
 किताब से सीखा  
 तुम्हारे बदतमीज सवाल पर  
 चुप रहना  
 चुप रह कर जलना  
 और भटके हुए के लिए  
 प्रकाश जुटाना।

### भूख के दिनों कवि

कवि भूख के दिनों  
 किताबें नहीं बेच देते  
 किताब से ही जी चुके जीवन  
 और जीवन अनुभव से  
 किताब में आई  
 पंक्तियों पर सोचते हुए  
 दूर निकल जाते हैं  
 कवि इस तरह नहीं आते  
 अपने फटे जूतों में भी  
 एक सुबह छोड़ जाते हैं  
 तुमने कवि को  
 कभी दुःखों के  
 कंकड़ बीनते हुए  
 देखा होगा  
 देखा है कभी  
 अपनी आँखों का  
 हिमरव ठेले से  
 इनकार करते हुए।

### हरापन खचाया है मैंने

तुमने मुझे अतीत में फेंका  
 वर्तमान में अपनी अग्नि से जलाया  
 भविष्य के आश्वासन का पर्चा  
 हाथ में थमाया  
 दर्द के समंदर में  
 पीड़ा .... गोलियो नहीं खाती  
 आपरेशन थियेटर के बाहर  
 रातों को लाल बत्ती सी जलती हूँ मैं  
 फिर भी बचा रखा है हरापन मैंने  
 आने वाले अनिश्चित दिनों के लिए।

### संपर्क :

444ए, रजा गार्डन, पो. बस्ती बावासेल  
 जालंधर- 144021, मो. 0943632855

## स्वप्निल श्रीवास्तव

### वायलिन

बहुत दिन बाद मुझे समुंदर के किनारे  
एक वायलिन मिली  
उसने कहा- एक खुदगर्ज संगीतकार ने  
मुझे बजाकर लहरों के बीच फेंक दिया था  
मैं समुंदर के किनारे अतृप्त लौट आयी  
वायलिन से मैंने कहा- चलो मिलकर कोई  
राग बनाते हैं  
हमने राग बुने- उन्हें मिलकर गाया  
मेघ बरसे और हम देर तक भींगते रहे  
अंत में बादलों को धन्यवाद कहा।

### हाट-खाजा

हाट में सभी चीजें मंहगी थी  
नमक सबसे सस्ता था  
वह हमारे स्वाद के लिये बेहद जरूरी था  
उसके बिना चौके में उठता नहीं था कौर  
जबसे नमक  
बहुराष्ट्रीय कंपनियों के कब्जे में आया  
वह मंहगा होने लगा  
वह रंग-बिरंगे पैकेटों में बेचा जाने लगा  
धीरे-धीरे जरूरी चीजों और नमक के दाम  
आसपास होने लगे  
बाजार ने हमारे स्वाद पर हमला किया  
नमक को बनाया हथियार  
हमारे जीवन के मामूली चीजों पर है  
उनकी नजर  
वे हमसे छीन रहे हैं हमारा नमक  
चुरा रहे हैं आग  
हमारे रसोईघर में सुनाई दे रही है  
उनके कदमों की आहट।

### ब्रभा

गूंगों ने एक सभा की जिसमें अभिव्यक्ति की  
आजादी पर विचार किया गया  
बहरों ने कहा... जो बोल नहीं पाते वे बोलने के  
बारे में क्या जाने  
हमारे समय में इशारे से कोई  
बात नहीं समझता  
गूंगों और बहरों के बीच जो विमर्श हुआ  
उसे ब्रेल- लिपि में दर्ज किया गया  
उसे पढ़ने के लिये अंधों की खोज की जा  
रही है

### कैसे पार कर पाऊंगा नदी

कैसे पार कर पाऊंगा नदी  
चारों ओर तूफान है  
लहरें जैसे पागल हो गयी हों  
मैं वासुदेव नहीं हूँ जो तुम्हें सूप में  
रखकर पार कर जाऊंगा भवसागर  
बाधाओं से भरा हुआ है जल-पथ  
मैं साधारण मनुष्य हूँ  
मुझे ठीक से आता नहीं तैरना  
कोई गोताखोर नहीं है मेरा दोस्त  
जो डूबते समय मुझे बचा ले  
शत्रु बांध से छोड़ रहे हैं पानी  
उन्हें पता चल गया है कि मैं  
नदी पार करने वाला हूँ  
नहीं कोई है मेरा खेवनहार  
कोई इंजीनियर मित्र नहीं है तो नदी पर  
बना सके पुल  
सब अपनी अपनी नाव बनाने  
जुटे हुये हैं।

## कविता

### महफिल

महफिल बरखास्त होने वाली है  
उठिये और चलिये- यहाँ दूसरे लोग  
आनेवाले हैं  
उनके साथ नये वाद्य-यंत्र और श्रोता होंगे  
जो लोग यहाँ दिखाई दे रहे हैं  
उन्हें यहाँ कभी पहले नहीं देखा गया था  
वे कहाँ से आये हैं उस पर विचार करने की  
जरूरत नहीं है  
हाँ उनके गायन-कला पर जरूर सोचा  
जा सकता है  
वे अच्छे दिखते हैं लेकिन बहुत बुरा  
गाते हैं  
वे राग पर नहीं अपनी आंगिक भाषा पर  
ज्यादा ध्यान देते हैं  
यह कुलीन लोगों की संगीत सभा है  
यहाँ बादशाह-सलामत को खुश रखने के लिये  
गाया जायेगा  
अतः यहाँ से चले जाना एक अच्छा  
खयाल है।

### मरने का दुःख

मुझे बहुत से लोगों के मरने का दुःख है  
लेकिन मेरे मरने के बाद किसे दुःख होगा  
मैं नहीं जान पाऊंगा  
मैं पढ़ नहीं पाऊंगा अपनी मृत्यु का  
समाचार  
शोकसभा में मेरे बारे में कितना सच  
कितना झूठ बोला गया यह मेरे लिये जानना  
मुश्किल होगा  
मैं बुरा हूँ लेकिन बुरा आदमी बनकर  
मरना नहीं चाहता  
कम से कम लोग इतना तो कहे कि  
बहुत बुरा हुआ इस आदमी का मरना  
भले ही लोगों को मेरे मरने का दुःख न हो  
लेकिन वह चिड़ियां जरूर रोयेगी जिसके लिये  
मैंने उम्र भर तिनके इकट्ठे किये।

### नामजद कवि

कुछ नामजद कवि हैं जो घूम-फिर कर  
हमारे उद्धरणों में आ जाते हैं  
वे जगह खाली नहीं करते  
दशकों से बलात जमे हुये हैं  
आलोचक उनकी रक्षा करते हैं  
प्रकाशकों के वे स्वर्ण-मुकुट हैं  
घाघ अनुयायी उनका गुणगान करते रहते हैं  
शहरों से बाहर छोटे शहरों और कस्बों में  
रहते हैं कुछ जरूरी कवि लेकिन वे आलोचकों  
के लिये अछूत बने हुये हैं  
पाठकों को तय करना है कि उन्हें लोहा  
पसंद है या सोना ?  
वे कुम्हार के पक्ष में हैं या वे ब्रह्मा की बंदगी करेंगे ?

### बटन

कमीज में बटन लगाने का काम आसान नहीं है  
इसे पुरुष कतई नहीं कर सकते  
स्त्रियाँ इसे आसानी से कर जाती हैं  
जब हम दफ्तर जाने के लिये कमीज पहनते हैं  
तो अक्सर बटन टूटे हुये मिलते हैं  
बटन और सुई धागे कहाँ रखे हुये हैं  
इसे स्त्रियाँ जानती हैं  
बटन लगाते समय वे थोड़ा करीब आ जाती हैं  
उनकी सांसें हमें छूने लगती हैं  
यह सोचकर अच्छा लगता है, चलो  
बटन टूटने का कुछ फायदा तो हुआ ?  
वैसे स्त्रियों का थोड़ा झुकना अच्छा लगता है  
वे उठा लेती हैं हमारा तनिक बोझ  
हमें उन्हें गौर से देखने का अवसर मिल  
जाता है...

### संपर्क :

510-अवधपुरी कॉलोनी, अमानीगंज,  
फैजाबाद- 224001, मो. 09415332326

### घूम रहे भिन्नभावे

टूट गए हैं  
 संयम के लो  
 सारे घाट किनारे।  
 प्रियतम की  
 पाती को हँस हँस  
 पढ़ते हैं हरकारे।  
 हर सिंगारी फूलों की  
 सुन मीठी मीठी बोली।  
 सोच रहीं दो आँखें  
 किसने मेरी बातें खोली।  
 महक रहे हैं  
 अनुबंधों के  
 दूर तलक गलियारे।  
 अम्बर के मस्तक पर  
 देखो लगे डिठौना बादल  
 ताक रहा धरती को  
 अपलक किए बिना ही हलचल  
 संदेशा  
 ममता का लेकर  
 घूम रहे भिन्नसारे।  
 इच्छाओं की डोली बैठा  
 मन कितना है फासा।  
 साथ नहीं क्यों मेरे रहता  
 है चंचल चौमासा।  
 असमंजस में  
 बैठा मौसम  
 पुरवाई के द्वारे।  
 मौन कुमुदिनी खिल जाती है  
 जब चंदा  
 आता है  
 लहरें झूला झूल रही है  
 सागर बल खाता है  
 प्रणय ऋचाएँ  
 अधरों पर ले  
 थिरक रहे हैं तारे।

### मधु प्रसाद

#### पथराए संवेदन

इच्छाओं का आदिम जंगल  
 उसमें फंसा अकेला मन।  
 कहो रामजी कहाँ बिताएँ  
 हम अपने बौराए क्षण।  
 धैर्य हाथ से छूटा जाता  
 जब पीने को जहर मिला।  
 जीवन अपना जला खेत-सा  
 रूठा-रूठा पहर मिला।  
 हाल बताकर भी क्या होगा  
 जब पथराए संवेदन।  
 झूठे संवादों से तन मन  
 हर पल आहत होता है।  
 तलछट में जो बचा रह गया  
 वह सपना अब रोता है।  
 रहे अधूरे जो लिखने थे  
 मौसम को नित प्रतिवेदन।  
 विषधर के घर दहन हो गई  
 चंदन-सी अभिलाषाएँ।  
 छाँह ढूँढ़ कर हवा थक गई  
 हुई पुरानी चर्चाएँ  
 पूनम की जुन्हाई बीती  
 आग उगलते प्रणय-निवेदन।  
 दलदल जैसी हुई जिंदगी  
 कोहरे से घिरी दिशाएँ  
 चंदा, सूरज और तारकगण  
 जैसे अव्यक्त व्यथाएँ।  
 जाने कौन रहन रख आया  
 प्रेम भरे वे संबोधन।

संपर्क : 29, गोकुलधाम सोसायटी, कलोल-महेसाणा,  
 राजपथ, चांदखेडा, अहमदाबाद- 382424

## ऋतेश पाण्डेय

### यूँ घर जाता हूँ

झोले में हाट से  
तराजू भर खेत भरा  
मोदी से लिया पूरे परिवार के सप्ताह भर की डकार  
एक-एक पैकेट पँचरंगी स्वाद के पत्नी के बताए अनुसार  
हलवाई से तौलवाया किलो भर पन पियाव  
पानवाड़ी, खैनवाड़ी और पुस्तकघर से लिया  
पिता के रूटिन वाले सारे मन बहलाव  
दवाखाने से खरीदी माँ के लिए और थोड़ी उम्र, कुछ और आराम  
लिया भाई के लिए कुछ कैल्शियम  
मेरी आहट से दौड़ेंगे दो नन्हे पाँव देहरी के बाहर  
खरीदी अबाढ़ चहक और चौकड़ी उसके लिए खिलौने वाले से  
छुपाऊंगा, चिढ़ाऊंगा, सारी शर्तें मनवाऊंगा, लूंगा एक चुम्मी  
फिर दूँगा बदमाश को  
यूँ गुदगुदाते हुए मन को मैं घर को चला।

### विस्तार शाहर का

और एक पेड़ सफेद हुआ  
और धरती का टुकड़ा स्लेट हुआ  
और कुछ लोग खेत हुए  
यूँ और शहर का विस्तार हुआ।

### वह मनचाहा चित्र नहीं बना पाता

जब भी हरा रंगना चाहता है वह  
गेहुँआ रंग रिसने लगता ब्रश से उसके  
गोल-गोल बैठ जाता है कैनवास पर मुँह बाए  
बनाना चाहता है पेड़  
उभर आती है एक इमारत  
जिसके किसी कोने में कैद होता है वह  
घर के पपड़ाए होंठों का मरहम ढूँढ़ता  
वह शहर की खाक छानता है  
धूल से भर जाता है कैनवास  
वह कभी मनचाहा चित्र नहीं बना पाता

### लापता पेड़ और कवि

धधकती धूप में झँवाया-सा आया  
एक आदमी उसके पास  
देखकर पेड़ मुस्कराया  
उसकी मुलायम छाँव में  
वह खूब सोया दूध-पिउआ-सी नींद  
पीया जी भर उसकी हरी-अमृत-आत्मीयता  
जाते हुए एक बार पलटकर देखा था  
आदमी ने उसे  
वह पेड़ अपनी जगह से लापता है अब।

संपर्क: 09874307700

हम किसी व्यक्ति या वस्तु को उसकी आकृति से ही पहचान पाते हैं। भैंसों का रंग-रूप प्रायः एक जैसा होता है, लेकिन उनमें भी सूक्ष्म भेद होता है। जिसे उनका पालनहार अच्छी तरह जानता है। छन्द भी कविता का बाहरी आकार या स्वरूप है, जिससे उसकी पहली पहचान बनती है। कविता के सौंदर्य को चिरायु रखने में छंद कवच की भूमिका निभाता है। ऐसा कठोर कवच, जो बाहर के तपन से नारियल के फल के भीतर के मीठे रस को बचाता है। इस प्रकार छंद कविता को विशिष्ट पहचान के साथ-साथ दीर्घायु भी देता है। यह धान की भूसी की तरह मूल्यहीन होकर भी चावल की जीवनी शक्ति (कवित्व) को संरक्षित करता है। उस मूल्यहीन भूसी के बिना धान अपनी अंकुरण-क्षमता खो देता है।

भारतीय वाङ्मय सदियों तक श्रुति और स्मृति की परम्परा में चिर-संचित रहा है, इसलिए भारतीय कविता वाचिक परंपरा में पली-बढ़ी है। इस वाचिक परंपरा को पुष्ट करने में छंद की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। यहाँ तक कि पूरे वैदिक वाङ्मय को 'छंद' कहा गया। भारतीय आचार्यों ने छंदःशास्त्र की रचना में भी विशेष रुचि ली है। उनमें महर्षि पिंगल का छंदःशास्त्र प्राचीनतम और सर्वाधिक प्रामाणिक है। उसमें एक करोड़ ६७ लाख ७७ हजार २१६ प्रकार के वर्णवृत्तों का उल्लेख है, जिनमें मात्र ५० छंदों को ही संस्कृत कवियों के कवित्व का अंग बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। अरबी भाषा में शब्द-बल (वजन) के आधार पर छंद की लय बैठायी जाती है। परवर्तीकाल में सांस्कृतिक विकास का मुँह देखने वाले यूरोपीय देशों में एक नये प्रकार का लयात्मक गद्य (ब्लैंक वर्स) पद्य की जगह प्रचलित हुआ, जिसमें छंद के लिए आवश्यक तुक-वर्ण-मात्रा आदि का विचार न रखकर लय का ध्यान रखा जाता है।

छंद की योजना रस और भाव के अनुसार होती है। शृंगार रस में कोमल शब्दों का और वीर रस में कठोर शब्दों का प्रयोग होता है। छंद में ध्वनि सौंदर्य और अर्थ-सौंदर्य दोनों का समान महत्व है। छंद या गीत का एक ललित मधुर वाक्य-खंड जब टेक के रूप में बार-बार दुहराया जाता है, तो उसका ध्वनि-सौंदर्य और भाव-सौंदर्य रसज्ञ श्रोता के मन पर मोहक इन्द्रजाल फैला देता है।

'मेघदूत' संसार का सर्वोत्कृष्ट प्रेमगीत काव्य है। वैसे ही जयदेव का 'गीतगोविन्द' भी, जिसके अनुसरण में पहली बार देसिल बयना मैथिली में विद्यापति ने पदों की रचना कर परवर्ती कवि कबीर-सूर-तुलसी-मीरा-रैदास जैसी महान प्रतिभाओं को जनभाषा में पद रचने का सम्बल दिया। छायावादी कवियों ने गीत की संरचना में क्रांतिकारी परिवर्तन किये और निराला ने इस कार्य में सबसे अधिक योगदान किया। वे संगीत के गहरे जानकार थे, इसलिए पारंपरिक छंदों को तोड़कर नये छंद गढ़ने या कविता को छंदमुक्त करने की उनमें विशेष क्षमता थी। उनके समकालीन या उनके बाद आधुनिक चेतना लेकर आये प्रायः सभी हिंदी कवियों ने अपने प्रारंभिक उद्गार छंदों में और खासकर नवाभिव्यक्ति वाले गीतों में व्यक्त किये। बाद में उनके उद्गार विचार प्रधान हो गये, जिन्हें छंदों में व्यक्त करना उनके लिए कठिन हो गया। इसलिए, क्षणजीवी होने और समाज द्वारा स्वीकृत न किए जाने की पूरी आशंका रहते हुए भी उन्होंने अपने को छंदमुक्त कविता में अभिव्यक्त किया, जिसे शंभुनाथ सिंह जैसे नवगीतकारों ने 'नाट्य-संवाद' मात्र माना है। यह सही है कि छंदमुक्त कविता लिखने वालों का समुदाय उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है, जिससे कविता की पहचान लगभग खत्म हो गयी है। पाठ्यक्रमों में इसी प्रकार की कविता को स्थान देने से छात्रों में हिंदी कविता के प्रति अरुचि ही नहीं आतंक भी बढ़ा है। उनके लिए कविता सुकोदु की पहेली हो गयी है जिसे लालबुझक्कड़ ही बुझा सकते हैं। दुर्भाग्यवश, पिछली आधी सदी में कविता के स्वर्ण अयस्क को ही स्वर्ण कहकर बाजार में खपाया गया है। कविता छंदहीन क्या हुई, पूरी तरह उच्छृंखल हो गयी है। लेकिन इस घटाटोप में भी हिंदी कवियों का एक बहुत बड़ा महत्वपूर्ण समुदाय है, जो गीत-नवगीत-गजलों के नये-पुराने छंदों में काव्य-रचना करते हुए कविता को कालजयी बनाये रखने के लिए कटिबद्ध हैं। समाज में उन्हीं की कविताएँ अपनी पहचान बना रही

हैं। नवगीत समकालीन हिंदी कविता की मुख्य धारा है, जो नये छंद और नये तेवर में आधुनिक जीवन के यथार्थ को सकारात्मक स्वर और सटीक शब्द देने का सामर्थ्य रखती है। यह हमारा दुर्भाग्य है कि भारतीय साहित्य में नवता और आधुनिकता के नाम पर गुलाम संस्कृति का आरोपण हुआ। हमारे अग्रज साहित्यकारों ने लारेंस, एजरा पाउंड जैसे फासिस्टों और इलियट जैसे राजभक्तों को अपना मॉडल बनाया। अंग्रेज और अमेरिकी कवि, चाहे वे कितने ही महान क्यों न हों, हमारा आदर्श नहीं बन सकते, क्योंकि उनके यहाँ कविता का कभी सामाजिक सरोकार नहीं रहा, जबकि हमारा समाज आदिकवि वाल्मीकि के समय से ही साहित्य की उंगली पकड़कर समृद्ध और सचेत हुआ है। उसने संत कवियों के शास्त्रीय राग-रागिनियों में निबद्ध पदों को गाया और उनके द्वारा निदर्शित चरित्रों का अनुगमन किया।

साहित्य के क्षेत्र में, वाचिक परंपरा से पृथक् हुई कविता संग्रहालय की वस्तु है, और दुर्योगवश वैसी ही डाल से बिछड़ी कविताओं का संग्रहालय हमारे विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम हो रहे हैं। विद्वत्समाज जिसे कविता मानता है और पाठ्यक्रम जिसे कविता कहकर परोसता है, दोनों में कोसों की दूरी है। विद्वत्समाज गीत को हिंदी कविता मानता है, जबकि पाठ्यक्रम उस बेतुके और तिलस्मी लँगड़-गद्य को कविता कहकर परोस रहा है, जिससे नई पीढ़ी आतंकित है। प्रायः रिक्तता की पर्याय बन चुकी 'नयी कविता' (न्यू पोयट्री का शाब्दिक अनुवाद) काव्यात्मकता से विहीन रहकर कब तक कविता का गौरव प्राप्त करती रहेगी, इसे देखना है।

### दो नवगीत

#### एक नदी गुजर गयी

एक नदी गुजर गयी  
ताल के बगल से  
कह न सका कुछ ठहरा जल  
बहते जल से।  
पिंजरे का पंछी क्या बोले  
बनपाखी से  
पाँवों का बिछुआ  
क्या बोले बैसाखी से  
बाँझ डाल क्या बोले  
बौरें कोंपल से!  
लोरियाँ सुनी घन की  
सावन के झूलों ने  
मेड़ों की डाँट सुनी  
सरसों के फूलों ने  
सुधि के निर्माल्य गिरे  
धानी आँचल से।  
हल्की-सी आहट पर  
बंद द्वार का खुलना  
तोड़कर चट्टानों को  
निकले जैसे झरना  
दोने भर नशा माँग  
लायी जंगल से।

#### देवदास

जंगल से आया है समाचार  
कट जायेंगे सारे देवदार।  
देवदार हो गये पुराने हैं  
पेड़ नहीं, भुतहे तहखाने हैं  
उन बूढ़ी आँखों को क्या पता  
पापलरों के नये जमाने हैं  
राह लें वे तली बन शिकारे की  
अश्वत्थामाओं में हों शुमार।  
घूम-घूम कह गये गड़ाँसे हैं  
ठीक नहीं ज्यादा हिलना-डुलना  
वाँसवनों ने तो दम साध लिया  
बंद हुआ बरगद का मुँह खुलना  
मरी हुई सीप थमाकर लहरें  
मोती ले गयीं सिंधु से बुहार।  
नाप रहा पेड़ों को आराधन  
कुर्सियाँ निकलती हैं इतराकर  
बिकने को जायेंगी पेरिस तक  
नाचेंगी विश्वसुंदरी बनकर  
कौन सुने, ओंसो के भार से  
हरी दूबों का सीत्कार।

संपर्क : देवधा हाउस, 5/2 वसंत विहार एन्क्लेव, देहरादून-248006



परमजीत पंडित

प्राक्तन छात्र, हिंदी विभाग  
कलकत्ता विश्वविद्यालय

प्रचंड-वृष्टि

नीरव नीलाभ शून्य में	मन का हर कोना
तिरती निर्मल स्मृति-सी	उब-डूब
कौंधती है क्षण भर	जाता है
में त्वरित आवेग के लिए	वर्तमान
तड़ित-ज्वाल-सी चमक	चारों तरफ
जगर जाता है	बाढ़-सा
जगत	हहराता है
पवन-प्रचण्ड-प्रकंपन बन	भविष्य
झकोरता-झंझोरता है	दूर खड़े
जल-थल	मचान-सा
सब बेगवान	बुलाता है चुपचाप
ओलों के झपटों	दूर-दूर क्षितिज
से पानी के	तक ऊँचे पेड़ों की
बड़े-बड़े ढोंके	फुनगियाँ
पसरते हैं	मकानों के छप्पर
हर तरफ	ऐसे ही
उमड़ती हैं नदियाँ	डूबते नजर आते हैं
छोरों को तोड़कर	अपने सीमान्त तक
यादों के सिलसिले	तिरने की कोशिश में
उमड़ते ही जाते हैं	मैं गति को समर्पित हूँ।

संपर्क: 9932232314

## छज्जू पाकेटमात्र की शादी कुशेश्वर

ओमप्रकाश कुर्सी पर बैठते ही बोला, 'यार देवनाथ, मैं तुम्हारे पास जब भी आता हूँ, यहाँ का माहौल देखकर कर हैरान रह जाता हूँ।' उसने अपनी घड़ी की ओर देखकर फिर से कहना शुरू किया, 'अभी दिन के ग्यारह बजे हों या फिर रात के बारह बजने वाले हों, इस इलाके में एक ही तरह की भीड़ बनी रहती है। अब इसे आबादी के मौसम का हरापन कहूँ या रहन-सहन में लखनऊ का प्रभाव; समझ में नहीं आता।'

'हाँ, हो सकता है लखनऊ का प्रभाव हो; क्योंकि वहाँ का रतजगा काफी मशहूर है। वो एक गाना था न... साकिया आज मुझे नींद नहीं आयेगी, सुना है तेरी महफिल में रतजगा है' वैसे भी, वहाँ का असर पड़ना तो लाजिमी है क्योंकि अवध के नवाब जब यहाँ आए थे १८५६ में तो उनके साथ उनके कारिन्दे भी साथ आए थे।

'कारिन्दे?' ओमप्रकाश ने प्रश्न किया, 'मैं कुछ समझा नहीं।'

'बी.काम का स्टूडेंट है लेकिन कारिन्दे का मतलब नहीं जानता? इसका मतलब हुआ काम करने वाले। यानी कि नवाब साहब की तीमारदारी में जो लोग लगे रहते थे उन्हें 'कारिन्दा' कहा जाता था। तो जब नवाब वाजिद अली शाह यहाँ आए तो उनके साथ उनके कारिन्दे भी आए। जैसे खानसामा, रसोईया, पनवाड़ी, धोबी, कुम्हार, दर्जी यहाँ तक कि मोची, मेहतर भी आए।

'तो क्या इसीलिए यहाँ कुछ मोहल्लों के नाम इनके नाम के साथ जुड़े हैं?' ओमप्रकाश की जिज्ञासा थोड़ी फैल गई।

'हाँ, खानसामा पाड़ा, कुम्हार पाड़ा, धोबी पाड़ा, मोची पाड़ा, मेहतर पाड़ा।' देवनाथ अपनी बात को विस्तार दिया, 'ये लोग एक-दो की संख्या में तो आए नहीं होंगे, दस, बीस, पचास की संख्या में आए होंगे। तो उन्हें जहाँ-जहाँ बसाया गया, उनके नाम के साथ मुहल्ला का नाम जुड़ गया। एक काम कर तू?'

ओमप्रकाश सहसा इस प्रश्न से चौंक उठा, 'मैं' ?

'हाँ, इस बार इकॉनामिक्स के पेपर में इसे लिख देता।

ओमप्रकाश ने मजाक को हल्के से लिया और उसने भी पलटवार किया, 'मैंने आर्ट्स तो लिया नहीं है कि हिस्ट्री का पेपर हो और लिख दूँ। हाँ तू जरूर लिखना क्योंकि आजकल इकॉनामिक्स में थियोरी और प्रैक्टिकल दोनों कर रहा है, यहाँ दुकान पर कैश संभाल के।'

‘अब क्या करें यार, देवनाथ अपनी मजबूरी जताते हुए बोला, ‘बीच-बीच में भाई को छोड़ना पड़ता है, वरन् नाराज हो गया तो फिर दुकान चलायेगा कौन? ले चाय पी, सिंघाड़ा (समोसा) खाएगा?’

‘नहीं यार, घर से आज लिट्टी खाकर निकला हूँ, काफी हेवी हो गया है, ‘सिर्फ चाय।’

‘भई, हमें भी दो चाय दीजिए, जरा कड़क; मलाई मारके।’

आवाज़ जानी-पहचानी सी लगी और चेहरा भी कुछ-कुछ पहचाना-सा लेकिन देवनाथ थोड़ा असमंजस में पड़ गया, हकीम मटिया बुर्जी इस वेष में? वह अपने दिमाग पर जोर डालते हुए बोला, ‘आप...हकीम...’

‘मियां धोका खा गये? बदलकर फ़कीरों का हम वेष ग़ालिब, तमाशाएँ अहले करम देखते हैं।’

‘ओऽऽ अब समझ में आया कि आप हकीम मटियाबुर्जी ही हैं; बैठिए- बैठिए।’ देवनाथ थोड़ा हड़बड़ा गया। सात-आठ साल पहले उसने जिस शायर हक़ीम मटियाबुर्जी को देखा था, उससे बिल्कुल भिन्न स्वरूप। पूरे बदन पर कांधे से लेकर पांव तक गाढ़े पीले रंग की चादर-लुंगी समेत, लंबे-लंबे बाल, बढ़ी हुई दाढ़ी, दाहिने हाथ में लोहे का कड़ा और बड़ा-सा चमकता स्टील का चिमटा, पैरों में खड़ाऊँ तथा दाहिने पांव के अंगूठे में लोहे की गोल रिंग नुमा अंगूठी। वह देखते-देखते ही हड़बड़ी में घूमकर चाय बनाने वाले से बोला, ‘दो और स्पेशल मलाई मारके।’ फिर घूमकर हक़ीम साहब से बोला, ‘(जिनकी उम्र चालीस के करीब रही होगी), ‘हकीम साहब, यह सब क्या है?’ उसके पूछने में थोड़ा भय शामिल था।

‘अरे मियां, अभी कहा था न, ‘बदल कर फ़कीरों का हम वेष ग़ालिब.... हसन को दुनियादारी क्या?’

‘मतलब आपने हक़ीमी और शायरी दोनों छोड़ दी?’

‘मियां, एक बार जो शाइर बन गया, वो मरने के बाद भी शाइर बना रहता है।’ हक़ीम साहब के चेहरे पर शरारत थी और होंठों पर मुस्कराहट। उनके इस दरवेशी स्वरूप से देवनाथ किंचित हतप्रभ था। उसने उनके साथ आए हुए व्यक्ति का परिचय जानना चाहा, ‘आप साहब का ताअरुफ़?’

‘ये मेरे शागिर्द हैं, अब्दुल बिस्मिल्लाह।’

‘अल्ला ऽ ऽ ऽ हो।’ लगभग तीस वर्ष की उम्र का वह व्यक्ति सफ़ेद लुंगी और सफ़ेद चादर में था। उसके बाल भी लंबे-लंबे थे।

चाय आ गयी थी। देवनाथ ने उनकी ओर चाय बढ़ाते हुए कहा, ‘इसका मतलब है कि आपने फकीरी धारण कर ली है।’

‘नहीं...नहीं’, अब्दुल बिस्मिल्लाह ने टोकते हुए कहा- रुक रुक शरीफ़ मज़ार के ये पीर बाबा हैं।’

‘मज़ार पर तो मुजाविर होते हैं।’ देवनाथ स्पष्ट करना चाहता था।

‘हाँ’ बिस्मिल्लाह ने हक़ीम साहब की ओर इशारा करते हुए कहा, ‘हुज़ूर उनसे भी बड़े हैं, पीर बाबा।’

‘अच्छा ये बताओ मियां, शायरी-वायरी कैसी चल रही है, कविता लिख रहे हो कि नहीं?’ हक़ीम साहब ने चाय की चुस्की लेते हुए पीर बाबा के अंदाज में ही कहा।

‘जी, अभी तो कविता वगैरह बंद है, बी.काम, के एकजाम की तैयारी कर रहा हूँ।’ देवनाथ ने संक्षिप्त उत्तर दिया और हल्का सा सिर झुका लिया, मानो कविता न लिखकर कोई अपराध किया हो।

‘इम्तहान? मियां तुम तो नौकरी करते हो, फिर इम्तहान काहे का?’ हक़ीम साहब ने भौंहे चढ़ाकर जानना चाहा।

‘वो, वो प्रमोशन के लिए ग्रेजुएट होना जरूरी है, इसीलिए।’

‘फिक्र मत करो, पास हो जाओगे।’ हाथ उठाकर हक़ीम साहब ने दुआ दी।

कोई दूसरा समय होता तो देवनाथ शायद यह पसंद नहीं करता लेकिन आदमी जब बार-बार हारता है या बार-बार जीतता है तो उसे पत्थर में भी भगवान नजर आने लगता है। अतः देवनाथ थोड़ा विनम्र होकर बोला, ‘बहुत-बहुत शुक्रिया।’ फिर अचानक कुछ सोचकर वह पूछ बैठा, ‘तो हुज़ूर आज इधर कैसे आना हुआ, अपने पुराने मकान में...’

देवनाथ की बात को काटते हुए हक़ीम साहब बोले, ‘नहीं, नहीं, एक शादी में शामिल होने आया हूँ।’

‘किसकी शादी में?’

‘ओ छ-ज्जू’ ...अरे सलाहुद्दीन... यही चिड़ीमार मोहल्ले

में रहता है न।’

‘छज्जू...?’ देवनाथ थोड़ा चौंका, ‘वो जो पाकेटमार है?’

‘अरे मियां, काम कुछ भी बुरा नहीं होता’ जीने के लिए आदमी क्या नहीं करता है?’ हकीम साहब की आवाज में बुलंदी थी।

‘तो, आप उसकी शादी में शामिल होने के लिए आए हैं?’ देवनाथ ने थोड़ा डरते हुए पूछा।

‘हाँ, हकीम साहब ने बड़े ही सहज ढंग से उत्तर दिया, ‘उसका बाप मेरा मुरीद है। उसके दादा शाहबाबा के मुरीद थे। ये इन लोगों का पुश्तैनी धंधा है। जैसे उन दोनों ने छोड़ दिया, ‘वैसे यह भी छोड़ देगा, बस, मजार पर दो-तीन बार जाने की देरी है। मेरा आना उसी की पहल है।’

‘लेकिन उसने अभी छोड़ा तो नहीं है?’ इस बार ओमप्रकाश बोल पड़ा, जो अब तक खामोश था।

‘इनकी तारीफ?’ ओमप्रकाश की ओर देखकर हकीम साहब ने देवनाथ से पूछा, तो देवनाथ ने हड़बड़ाकर उत्तर दिया, ‘ओमप्रकाश, मेरे साथ ही खिदिरपुर इविनिंग कालेज में पढ़ता है।’

‘बढ़िया है, हकीम ने सिर हिलाते हुए उत्तर दिया, ‘एक मुसलमान अगर दूसरे मुसलमान को दावत दे तो उस दावत को कुबूल करना हमारा फर्ज है, तुम्हें तो पता है ही कि हम लोग फर्ज से नहीं चूकते। यही तो हम मुसलमानों की ताकत है कि कोई भी मामला हो, हम सबसे पहले अपने भाई को देखते हैं।’

‘वाह, यह तो बहुत अच्छा है,’ ओमप्रकाश ने खुशी जताते हुए कहा, ‘हमारे यहाँ किसी को पता चल जाए कि खानदान में इस तरह का कोई है तो उसके यहाँ शादी नहीं करेंगे।’

‘यही तो मजे की बात है, हकीम साहब हँसकर बोले, ‘तुम हिंदू लोग जात में बंटे हुए हो लेकिन हमारे यहाँ देखो, नाई हो, धोबी हो, दर्जी हो, यहाँ तक कि आजकल कारपोरेशन में झाड़ू लगाता हो, वो भी मुसलमान है; उसे मस्जिद में जाने की मन ही नहीं है लेकिन तुम्हारे यहाँ भंगी कहते हैं।’

‘पीर बाबा, .... ओ पीर बाबा...’ एक बारह-तेरह साल का लड़का लगभग दौड़ता हुआ आया और हल्का सा हाँफता हुआ बोला, ‘दादा जान आपका इंतजार कर रहे

हैं, कब से खबर हो गयी है कि आप यहाँ बैठे हैं।’

‘चलो हम आते हैं। जरा पुरानी दुकान की चाय याद आ गयी, इसलिए रुक गये थे।’

हकीम साहब ने अपने मुरीद शागिर्द को इशारा किया। मुरीद ने फौरन अपने चादरनुमा कुर्ते से दस रुपये का एक नोट निकाल कर देवनाथ की ओर बढ़ाया तो वह हड़बड़ा गया, ‘हकीम साहब, आज पै...पैसे नहीं।’ उसके बोल कंठ में ही अटकने लगे थे।

मियां देव, पीर फकीर होता है लेकिन वो खिचड़ा खाये या खीर, अपने मुरीद के घर खाता है लेकिन किसी होटल वगैरह में बिना पैसे दिये हम कुछ नहीं खाते। वैसे, पैसे मैं नहीं दकता, रुक रुका शाह बाबा किसी न किसी मुरीद को भेज देता है।...

...अल्ला ५ ५ ५ ह... अब्दुलबिस्मिल्लाह की भारी आवाज गूँजी थी, यह कुछ वैसा था, जैसे गाने के बीच-बीच में कोई टेक लेता हो।

‘तुम अभी पैसे ले लो’ हकीम साहब ने मुस्कुराते हुए कहा, ‘जब तुम मेरे मुरीद बन जाओगे तो हम फ्री में तुम्हारी चाय पी लेंगे।’

बिस्मिल्लाह ने दस का नोट देवनाथ की ओर बढ़ा दिया और दोनों दुकान से उतर कर लड़के के साथ चल दिए।

देवनाथ और ओमप्रकाश दोनों कुछ हतप्रभ होकर उन्हें जाते देखते रहे। फिर दोनों ने एक-दूसरे को देखा और दोनों की आँखों में जैसे कोई प्रश्न कौंध गया।

देवनाथ तब अपने माथे पर बल देते हुए कहा, ‘अजीब बात है यार, मैं कुछ समझ नहीं रहा हूँ। लगभग पंद्रह साल पहले लंगड़ा उस्मान गुंडे की शादी के बारे में सुना था, जिसकी बारात दिन में गई थी, तब मैं छोटा था। उसमें भी काफी धूम-धाम थी। बाज़ा-गाज़ा था। लेकिन इस छज्जू पाकेटमार की बारात आज शाम को जायेगी। सुना है, नए-नए ढंग की आतिश बाज़ी होगी। सबसे बड़ा आश्चर्य तो मुझे कल हुआ, जब शकील अहमद को उसके साथ घूमते हुए देखा।’

‘शकील अहमद कौन, हमलोगों का क्लासमेट जो परिषद करता है?’

‘हाँ, वही।’

‘क्या?’ ओमप्रकाश ने जैसे ऊपर से गिर पड़ा हो धड़ाम। क्या कह रहा है तू?’

‘ठीक कह रहा हूँ। वह छज्जू की मेंहदी में आया था।’

‘इनके यहाँ भी मेंहदी होती है?’ ओमप्रकाश को जैसे ठीक से मालूम न था।’

‘हाँ, बेजोड़ संख्या के दिन तक... जैसे एक... तीन... पाँच हालांकि इस्लाम में यह नहीं है लेकिन परंपरा में यह रिवाज वर्षों से चालू है, खासकर के बिहारी मुसलमानों में। शकील जब उसके साथ था तो मैंने टोका नहीं लेकिन जब वह लौट रहा था तो मैंने उसे रोककर पूछा, ‘यार शकील, तू कॉलेज में बी-काम का स्टूडेंट है, मगर एक पाकिटमार के साथ...’

मैं अभी अपनी बात पूरी भी नहीं कर पाया कि वह जरा खिन्न होकर बोला, ‘तुम सब कुदमगज ही बने रहोगे। पता नहीं, पतानहीं तुम लोग कब प्रोग्रेस करोगे? अरे, आज तक किसी ने उसे पकड़ा है, जेल गया है वो? बस, लोगों ने उड़ा दिया। अरे वो, एक ऐसा काम करता है, जो सबको दिखाके नहीं करता। अच्छा कमाता है, इसलिए लोगों की आँखों में खटकता है, इसीलिए कुछ लोग उसे बदनाम करते हैं। वैसे बच्चू, इस मूलक में सैकड़ों नेता ऐसे हैं, जो रोज करोड़ों जनता की जेबें काटते हैं, उनको कोई पाकेटमार नहीं कहता न जेबकतरा। अब दिमाग के टुल्लु हजारों-हजार करोड़ रुपये लीडर लोग हजम कर गए। उन पर इल्जाम लगा, लेकिन वे मुजरिम तो साबित नहीं हुए। जब वे चोर-डाकू साबित नहीं हुए तो मेहनत करने वाले ऐसे आदमी को गलत नहीं कहना चाहिए। अगर वो मजहब के खिलाफ काम कर रहा होता तो कोई उसके साथ नहीं होता।’ वह रुका और फिर सोचते हुए बोला, ‘अच्छा एक काम कर, कल शाम को सात बजे सुपर मैरेज हॉल में आ जाना। मेरी तरफ से तुझको दावत है। वहाँ आकर देखना कि शादी में कैसे-कैसे लोग आए हुए हैं। चल स्पेशल चाय पिला। तेरी दुकान की स्पेशल चाय यहाँ बहुतों की कमजोरी है।’

फिर तो चाय पीते-पीते चटकारें लेकर मेंहदी में आई लड़कियों से छेड़खानी की बातें बताता रहा, फिर जैसे अचानक उसे कुछ ख्याल आया और जाते-जाते बोला,

‘कल आना जरूर बोल दे रहा हूँ।’

‘यार देवनाथ, सच कहें तो अब मेरा भी मन कह रहा है कि यह शादी देखें। अपने इस छोटे-से जीवन में इस तरह की अनोखी शादी देखने का मौका फिर मिले न मिले।’ ओमप्रकाश के कहने में ऐसा आग्रह था, मानो सचमुच कोई अनोखी घटना देखने वाला हो।

देवनाथ ने मुस्कराते हुए ओमप्रकाश को देखा और बोला, ‘ठीक है, मैं भाई को फोन कर देता हूँ कि वह आ जाए फिर दोनों घर चलेंगे। फिर वहाँ से फ्रेश होकर इधर आ जायेंगे, बगल में ही वो मैरेज हाल है, जहाँ छज्जू की निकाह सात बजे होनी है।

‘ठीक है, मैं माँ को फोन कर देता हूँ कि रात देर से लौटूँगा।’

दोनों ने ही अपने-अपने मोबाइल में नंबर मिलाने शुरू किए।

अभी सात नहीं बजे थे कि देवनाथ और ओमप्रकाश सुपर मैरेज हॉल के पास पहुँचे। गेट पर भव्य सजावट देखकर दोनों ने एक-दूसरे को देखा। उनके देखने में कुछ ऐसा था कि आसानी से समझा जा सकता था कि वे क्या सोच रहे हैं?’

गेट पर हर आगंतुक के ऊपर केवड़े-जल का छिड़काव किया जा रहा था फुहारे में। एक आदमी हर किसी को सजा हुआ गुलाब भेंट कर रहा था तो एक लड़का इत्र का फाहा। तीनों ही एक ड्रेस में थे सफेद शर्ट, ब्लैक पैंट और नीली टाई। शायद वे तीनों कैटरिंग व्यवस्था का हिस्सा थे। अंदर अच्छा खासा स्पेस था। जगह-जगह सजा हुआ गोल टेबुल। टेबुल के चारों ओर मखमली कुर्सियाँ, कहीं-कहीं मखमली सोफे भी थे, जिन पर बैठे हुए लोग एक-दूसरे से बातें कर रहे थे, चाय-काफह या कोल्ड-ड्रिंक्स ले रहे थे। एक ओर कोने में लड़कियाँ-औरतें फुचके (पानीपुरी) वाले को घेरे खट्टेपन का भरपूर आनंद ले रही थीं। एक ओर बूफे की व्यवस्था थी। वेज या नान वेज के स्टीकर भी लगे हुए थे।

अंदर पहुँच कर देवनाथ की निगाहें शकील को ढूँढ़ने लगीं। वह कहीं दिखाई नहीं पड़ा। वह सोचने लगा कि मेन वेन्यू में जाये या यहीं लॉन में खड़ा रहे।

ओमप्रकाश ने उससे पूछा, 'क्या सोच रहे हो?'

'यही कि शकील दिखाई नहीं दे रहा। उसने तो मुझे फोन पर कहा था कि पौने सात बजे तक वह आ जायेगा, लेकिन अभी तक आया क्यों नहीं?'

'हो सकता है, बारात में देरी हो रही हो।' ओमप्रकाश ने एक अनुभवी की तरह कहा।

'हाँ, हो सकता है।' इतना कहकर देवनाथ के चेहरे पर एक चिंता उभरी। अभी चिंता थी कि यह रेखा लंबी खिंचती कि शकील दौड़ता हुआ उनके पास पहुँचा और हाँफते हुए बोला, थोड़ी दूर पर उन्हें छोड़ के सिर्फ तुम्हारे लिए दौड़ता हुआ आया हूँ। देख लो, पसीने से भीग गया हूँ।'

'बैँड, बाजा हो तो बराती नाचेंगे हीं और नाचेंगे तो पसीना होगा ही।' ओमप्रकाश ने जब यह जुम्ला चस्पा किया तो शकील ने जैसे देखा हो, 'अरे, तू ओमप्रकाश?'

'हाँ, बिन बुलाया मेहमान।' ओमप्रकाश मुस्कराया।

'स्साले, ऐसी दूँगा कि तारे नजर आयेंगे समझा। बहुत अच्छा किया कि तू भी देव के साथ आ गया। अच्छा ये बताओं कि तुम दोनों ने कुछ लिया नहीं?' शकील का हाँफना अभी भी पूरी तरह से कम नहीं हुआ था।

'अरे यार, थोड़ा दम तो ले ले, देवनाथ ने शकील के चेहरे पर उमड़े हुए पसीने को उंगली की नोक पर लेते हुए बोला, तेरा पसीना थोड़ा सूख जाये, फिर चलते हैं।'

इतने में हूटर की आवाज सुनाई दी जो गेट पर आते-आते बंद हो गयी। बहुत सारी निगाहें एक साथ उधर उठीं। एम.एल.ए साहब तथा उनके साथ एम.एल.सी विपिन बाबू

भी थे। अभी ये दोनों चार कदम आगे की ओर बढ़े ही होंगे कि कार्पोरेशन के बोरो चेयरमैन भी लाल बत्ती गाड़ी में पधारे। इस बार भी गहमा-गहमी बढ़ गई। शकील ने व्यंग्यात्मक दृष्टि से देवनाथ को देखते हुए कहा, 'देख लिया तो, कैसी-कैसी हस्ती आई है? समझ में आया। तीन महीने बाद इलेक्शन होने वाला है। यह सब उसी की तैयारी है, तू तो बदरुद्दीन को जानता होगा?'

'बदरुद्दीन कौन?' देवनाथ ठीक समझ नहीं पाया।

'अरे वही, छज्जू का साला। रूलिंग पार्टी के एम.एल.ए. का दाहिना हाथ है। अच्छी मस्तानी चलती है उसकी। छज्जू उसका मौसेरा भाई है। घर वालों ने आव देखा न ताव, बस शादी तय कर दी। अब जब तय कर दी तो तय कर दी। देख लेना कि छज्जू की तकदीर कैसे बदलती है। मेरे बचपन का साथी है। शादी में शामिल होने का कहा तो मैं ना नहीं कर सका। यार की शादी है, एन्च्वाय करूँगा।'

...मेरे यार की शादी है...आज मेरे यार की शादी है।

बैँड में इस गाने की आवाज तेजी से उभरने लगी थी और ढेर सारे लड़के नाचते-कूदते गेट की ओर आ रहे थे।

शकील उछल पड़ा, वह नाचते हुए गाने लगा, 'आज मेरे यार की शादी है, गुलो, गुल्जार की शादी है... फिर उसने देवनाथ के गाल के समीप अपना मुँह ले जाकर फुसफुसाते हुए गाना शुरू किया... छज्जू पाकेटमार की शादी है... आज मेरे यार की शादी है... मैं एक मिनट में आया...' और वह कूदता हुआ भीड़ में शामिल हो गया।

संपर्क : पी-166/ए, मुदियाली फर्स्ट लेन, कोलकाता- 700 024, मो. 09831894193

## फन्टूझ

## सिद्धेश

वह दिखने गिरहकट अथवा मवाली लगता था। दुबला-पतला, लंबी मूँछें, मैले कपड़े और ठिगना। उसकी एक रूथरा टाइप स्कूटर थी। जब वह दूर से चढ़कर आता तो पूरे मुहल्ले के लोगों के कान खड़े हो जाते। वह एक मिस्त्री था जो पुराने पंखे, फ़ान, टेप-रिकार्डर के कल-कब्जों की मरम्मत करता और अपनी छोटी-सी दुकान के आगे उकड़ूँ बैठा गाने सुनते रहता था। पुरानी फिल्मों के रोमांटिक गाने। पास ही एक कपड़े की दुकान थी। लोग गाने सुनते और उसके हाथ के रुमान की मन ही मन तारीफ़ करते।

एक छोटे पार्क के निकट दुकान थी। आसपास अच्छे फ़्लैट थे। उसमें रहने वाले लोगों को नागवार तब लगता, जब गाने की आवाज तेज हो जाती। कभी-कभी गाने सुनने के नशे में वह वाल्यूम बढ़ा देता, इससे कई लोग उसकी इस बेहूदगी पर तंग हो जाते। इस पर तिवारी जी पढ़े-लिखे और अवकाश प्राप्त कर घर बैठकर पुराने गानों के भक्त होने के बावजूद परेशान हो जाते। एक दिन वे खुद जाकर उसके पास पहुँचे और वाल्यूम कम करने के लिए कहा।

‘गाना सुनना ही है तो आवाज कम करो।’

‘सभी तो सुनते हैं। कोई नहीं रोकता।’

‘यह क्या बाजार है? तुमको सुनना है तो आहिस्ते से भी सुना जा सकता है। घरों में बच्चे हैं, उनके पढ़ने-लिखने में दिक्कत होती है।’

वह चुप लगा जाता और टेप का वाल्यूम कम कर देता। जिस दिन उसकी दुकान नहीं खुलती। तिवारी जी आराम से घर बैठे दूरदर्शन पर प्रोग्राम देखते या किताबें पढ़ते रहते थे।

दूसरे-तीसरे दिन उसके खटारा स्कूटर की धड़धड़ाहट फिर से सुनाई देती और वे तैयार रहते कि वह आते ही दुकान खोलेगा और टेप पर गाने चढ़ा देगा। वही हुआ। गाने तेज बजने लगा। वे उठकर पास के क्लब में पहुँच गये। एक लड़के को जो क्लब का सदस्य था, कहा, ‘हमारे मोहल्ले में यह एक अजीब तरह का फन्टूस आ गया है। इसे तुम सब मिलकर रोको। नहीं तो बात थाने-पुलिस तक पहुँच जायेगी।’

‘क्या हुआ है अंकल, क्या करना है?’

‘उससे कई बार कहा है कि तुमको गाने सुनना है तो सुनो न, कौन रोकता है, दूसरों को सुनाने के लिए इतनी जोर से क्यों बजाते हो? मगर वह मानता ही नहीं। पता नहीं, जोर से बजाने की आदत लग गयी है।’

‘ठीक है, अंकल। हम समझा देंगे। मगर गाने वह पुराना और अच्छा बजाता है।’

‘हाँ, यह ठीक है कि आजकल के ऊटपटांग शोर वाला गाने नहीं बजाता। लेकिन सुनना तो उसको ही है। मोहल्ले में कोई मजलिस थोड़े ही है। कि सबको सुनाकर इकट्ठा करना है।’

लड़का समझदार था। हँसकर रह गया।

.....

पास वाले थाने सामने वाले फ्लैट में रहने वाली मालकिन जिसे कैंसर हो गया था। वह चल बसी। बहुत दिनों तक बिस्तर पर पड़े-पड़े अपने जाने के दिन गिन रही थी। आज उसके संस्कार की गाड़ी को सजाया जा रहा था। मोहल्ले भर के लोग आसपास जुटे थे। वह बुलिआ भी भीड़ में शामिल था। पर इस दिन उसने गाने नहीं बजाये। दुकान भी नहीं खोली। वह भीड़ में सबसे कहता फिर रहा था।

‘मालकिन मेरे बजाये गाने को पसंद करती थीं।’ लोग उसकी बातों पर विश्वास न करके मुस्करा रहे थे।

तिवारी जी को उस दिन पता चला कि उसका नाम बुलिआ है। बुलिआ झूठ बोलकर लोगों को अपने पक्ष में कर रहा था। भला, कैंसर से पीड़ित व्यक्ति पुराने गाने के मर्म को समझकर कैसे पीड़ा से मुक्ति पा सकता है! दूसरे दिन आकर दुकान खोली तो फिर से कैसेट चढ़ा दी। इस बार पुराने फिल्मी गाने नहीं थे। बल्कि कीर्तन था। वह कम आवाज में रहने की वजह से तिवारी जी को बुरा नहीं लगा। लेकिन दुकान में बुलिआ नहीं था। वह अपनी खटारे स्कूटर पर चढ़कर मोहल्ले को धड़धड़ाते हुए कहीं निकल गया था। वह जब लौटा तब भी कीर्तन भजन की आवाज आ रही थी।

तिवारी जी इस बीच वार्ड भूतपूर्व काउंसीलर से मिल आये थे। अपनी शिकायत दर्ज करा दी थी। अतः बेखटक

उसकी दुकान तक आ गये। बुलिआ की ओर ताककर कहा, ‘तुम अपनी हरकत से बाज नहीं आओगे।’

‘मैं फिल्मी गाने नहीं बजाये हूँ।’

तिवारी जी ने डपटकर कहा, ‘मैं गाने के बारे में नहीं पूछ रहा हूँ। तेज वाल्यूम में बजाने से मना किया है। तुम खुद सुनो, तो क्यों आपत्ति होगी।’

‘टेस्टिंग के लिए जोर से बजाना पड़ता है।’

‘तुम आधे घंटे से बाहर थे। कौन टेस्ट कर रहा था?’

बुलिआ चुपचाप रह गया।

उसके बाद कई दिनों तक दुकान उसने नहीं खोली। मोहल्ला शांत रहने लगा। एक दिन दूर से स्कूटर के धड़धड़ाने की आवाज से तिवारी चौंकने हो गये। उसने दुकान के सामने आकर स्कूटर रोकी, फिर दुकान का शटर खोला और चुपचाप मरम्मत करता रहा, लेकिन गाने की आवाज नहीं मिली। इसी तरह कई दिनों तक उसके बिगड़ी स्कूटर की आवाज कानों तक आती, वह आता फिर कब चला जाता, इसका अंदाजा स्कूटर की आवाज से ही लगता।

पता नहीं, क्या हुआ बुलिआ अब गाने नहीं बजाता था। वह आता, चुपचाप काम करता और चला जाता। कई दिन बीत जाने के बाद तिवारी से रहा नहीं गया तो वे निकलकर क्लब तक आये। क्लब में लड़के कैरमबोर्ड पर खेल रहे थे। उन्होंने एक लड़के से पूछा, ‘क्या हुआ, बुलिआ की दुकान से गाने नहीं बजते?’

‘नहीं अंकल, वह खुद नहीं सुन पाता है।’

‘क्यों?’

‘अगर वह तेज नहीं बजाये तो खुद भी सुन नहीं पाता है। वह कान से कम सुनता है।’

तिवारी ने अवाक् होकर सुना। सोच रहे थे, इसीलिए उसने अपनी पुरानी स्कूटर की आवाज भी ठीक नहीं करायी है।

#### संपर्क :

1/17, आदर्श पल्ली, पो.- रिजेन्ट एस्टेट  
कोलकाता- 700092, मो. 09830859660



## शेखाक मैं गुनहगाय था विवेक द्विवेदी

चौराहे पर विवेकानंद की आदम कद मूर्ति के पास बैठने का मौका तब मिला, जब मैं इस दुनिया में नहीं रहा। जिस मूर्तिकार ने इस मूर्ति को गढ़ा है, उससे मिलने की प्रबल इच्छा हो रही है। क्या मूर्ति बनाई है। चित्रकार की कला तो समझ में आती है, लेकिन मूर्तिकार की कला से मैं चमत्कृत हूँ। ऐसा लगता है, विवेकानंद बोलना चाहते हैं। मेरे कंधे पर हाथ रखकर कहना चाह रहे हों—

“सुनो भूत, देश की आजादी के पहले ही मैं बोल गया था। देश जब आजाद हो तो, तब आजादी के बाद लगभग पचास सालों तक तुम्हें मानव देवता की पूजा करनी होगी। उन्हीं के बीच राम, कृष्ण, सीता, गौतम, साईं, गीता, गायत्री, दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती, शंकर और हनुमान के साथ पीर और फकीर को ढूँढ़ना होगा, लेकिन सब भटक गये। लोग व्यक्ति पूजा में डूब गये।”

मैं नहीं समझ पा रहा हूँ कि इसका क्या अर्थ है। क्यों विवेकानंद आदमी गढ़ने की बात कर रहे हैं, इसीलिए जिस मूर्तिकार ने इस मूर्ति को गढ़ा है, उससे मिलना चाहता हूँ। वही बता पायेगा कि किन-किन खूबियों को मद्देनजर रखकर उसने इसे गढ़ा है। यदि वह एक मृत आदमी को गढ़ सकता है तो जिंदा आदमी को क्यों नहीं गढ़ सकता। जब मैं जीवित था तो उसने मुझे क्यों नहीं गढ़ा। वह पूरे समाज का अपराधी है। उसका यह कार्य अक्षम्य है। यदि वह मुझे जीवित अवस्था में गढ़ा होता तो शायद मैं इतनी कम उम्र में कभी दुनिया छोड़कर न जाता।

मेरे चाचू शायर हैं। हिंदी में शायरी करते हैं। लिखते उर्दू में हैं। प्रेम और प्रकृति के ऊपर बहुत लिखा है। गंगा और जमुनी संस्कृति के न केवल जानकार हैं, बल्कि घोर समर्थक भी हैं। कहते थे, अ से लेकर क, ख, ग.... से होते हुए क्ष, त्र... तक पहुँच जाओ। कहीं जाने की जरूरत नहीं है। पूरी दुनिया इसी के बीच समायी हुई है। र से राम होता है और र से रहीम होता है। यह तुम्हें सोचना है कि अक्षरों को मिलाकर किस तरह तुम्हें शब्दों की रचना करनी है। हथियार देश की सुरक्षा के लिए भी होते हैं और वहीं हथियार किसी देश को खत्म करने के लिए भी उपयोग में लाये जाते हैं।

सारा चमत्कार उसी वर्णमाला के हैं। तब समझ में नहीं आता था। क्योंकि चाचू सिर्फ शायरी किया करते थे। कभी अपने पास बैठाकर इस वर्णमाला के अर्थ को समझाया ही नहीं। जब देश में विस्फोट होता तो चाचू तड़प उठते। फिर शायरी करने लगते। उस वक्त मुझे लगता कि चाचू को अपने विचार से दुनिया को अवगत कराना चाहिए। शायरी से कुछ नहीं होता। सड़क पर उतरते तो शायद मैं भी उसका अर्थ समझ पाता।

छब्बीस साल की उम्र में आज मरने के बाद शहर घूमने निकला हूँ। सामने विवेकानंद की मूर्ति देखकर रुक गया हूँ। थोड़ी दूर पर ही एक खूबसूरत पार्क है। इस पार्क में कई बार आया हूँ। इसके पहले कभी इस पार्क में गुलमोहर के पेड़ नहीं देखा। जबकि कई लगे हैं। जूही, बेला और चमेली के साथ बैंगनबेलिया के फूल खिले हैं। माली ने सारे पेड़ों को काटकर अलग-अलग शेप दिया है। बहुत खूबसूरत दिखने लगे हैं। मेंहदी के पेड़ों को काटकर इस तरह खूबसूरत बना दिया है जैसे किसी नाई ने अफ्रीकी नौजवानों के सर के बालों को काटकर खूबसूरत बना देता है। काले, घुँघराले होने के बावजूद जैसे क्यारियाँ बनी हों। पूरे बाग में गुलाबों के विभिन्न प्रजातियों के फूल खिले हैं। लाल, गुलाबी सफेद। कई युवा जोड़ा घूम रहे हैं। बच्चे किलकारियाँ भर रहे हैं। मानो हिरण के बच्चे कुलांचे भर रहे हों। काश मैं भी इन बच्चों की तरह कुलांचे भरता। इन जोड़ों की

तरह हाथ में हाथ डाले पार्क में घूमता। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। होता भी कैसे? यदि पिता मेरे हाथ से उस दिन चाकू छीनकर मुझे दो चाँटा लगाकर कहते।

“मूर्ख, इस हाथ में कलम शोभा देती है। चाकू और तलवार तो आत्मसुरक्षा के लिए बनाये गये हैं।”

शायद पिता जी की सीख मुझे बदल देती। अब तो पिता से भी नहीं पूछ सकता। आपने क्यों हम चारों भाइयों को चाकू, तलवार और कट्टा चलाने की शाबाशी देते थे। क्यों पुलिस के सामने यही कहा करते थे कि मेरा बेटा निर्दोष है। क्यों कोर्ट कचहरी में उन गवाहों को रोककर कहा करते थे- “ठीक है, तुम गवाही दे दो, लेकिन याद रखना। जहाँ बीस अपराध दर्ज हैं वहाँ एक और सही।”

शायद पिता, अम्मी मुझे चाकू के संपर्क में रहने देते तो मैं चाचू की शायरी को जिंदा कर देता। यद्यपि चाचू से यही प्रश्न करना चाहता था। आपकी प्रिय कविता “मुझे तोड़ लेना वनमाली, उस पथ पर देना तुम फेंक। मातृभूमि पर शीश झुकाने, जिस पथ जायें वीर अनेक।” को सार्थक कर देता। आप भी तो अपने दोस्तों से यही बखान करते थे, मेरा भतीजा शहर का गुंडा है।

बहरहाल मैंने यही प्रश्न विवेकानंद से किया तो वह भी कुछ नहीं बोले। मेरे सामने बैठे गणेश चाचा से बतियाते रहे। पास ही बैठी कोई नचिकेता बहन को निर्देश देते रहे। सामने भगत सिंह दंड पेल रहे थे। फिर पसीना पोंछते हुए उनके पास पहुँचे। तो उन्होंने अपने से कहा- “भगत सिंह तुम और अशफाक उल्ला खाँ फिर से धरती पर लौटो। मैं गांधी जी से बात करता हूँ। अपनी समाधि तोड़ें। हर धर्म वालों से बात करें। अपनी-अपनी जाति और धर्म बदलकर धरती पर वापस आयें।”

अचानक गणेश चाचा भूतपूर्व मंत्री जी ने धीरे से मुझसे कहा- “स्वामी जी तुमसे बहुत नाराज हैं। तू इस्माइल के पास चला जा। उसी ने यह मूर्ति बनाई है। वह तुझे सब समझा देगा। पर सुन पाँचों वक्त का नमाजी है। और काम के वक्त वह किसी से बात नहीं करता। इस वक्त दुर्गा की मूर्ति बना रहा है। लेकिन उसके सहयोगी विट्ठल गर्ग से बात करना और मेरा नाम ले लेना। तेरी वह बात करा देगा।”

मैं वहाँ से चल देता हूँ। क्योंकि इस्माइल ही मुझे सारे

प्रश्नों का उत्तर देगा। ईमानदारी से कहूँ। इसी शहर में पैदा होने के बावजूद न तो इस शहर के बारे में जान पाया और न ही खुली आँखों से देख पाया। मैं चल देता हूँ। सामने ‘त्रिभुवन माल’ की आलीशान बिल्डिंग देखकर मेरा मन खिन्न हो जाता है। कभी यहाँ पर झुग्गी झोपड़ी हुआ करती थी। गरीब गेरुआ लोग रहा करते थे। पुलिस महीनों इस जगह को खाली कराने के लिए माथापच्ची करती रहीं। जगह खाली न हुई। फिर एक दिन एक पुलिस गाड़ी मेरे घर के सामने आकर रुकी। अब्बू ने समझा कि मैंने कोई बड़ा अपराध किया है इसलिए दरवाजा खोलने से पहले अम्मी से बोले- “उसे बोलो, छत पर चढ़कर उस पार हो जाये। जब तक फोन न करूँ आयेगा नहीं।”

मैं सतर्क हो गया था, लेकिन दरवाजा खुलते ही सी.सी.टी.वी. कैमरे ने मुझे माजरा कुछ दूसरा ही समझ में आया। दरवाजे के अंदर नगर सेठ जायसवाल के साथ सी.एस.पी राठौर साहब बड़ी शालीनता के साथ अंदर आ रहे थे। दोनों ने अब्बू को फर्शी सलाम किया तो मैं अपनी जगह से उचक गया। अब्बू ने उन्हें दो दिन पहले ही आये कीमती सोफे पर बैठाते हुए उन्हें झुककर सम्मान दिया। फिर पानी पिंगल के बाद अब्बू ने आने का कारण पूछा तो सी.एस.पी. ने कहा-

“जनाब, काम आपसे नहीं, आपके बेटे से है।”

“फरमाये हुजूर। बंदा सेवा के लिए हाजिर है।” अब्बू का सीना चौड़ा हो गया था।

“जनाब, तलैया की जमीन हमें सरकार ने माल बनाने के लिए आवंटित कर दी है। लेकिन उसमें बसे हरिजन आदिवासी खाली नहीं कर रहे हैं। जबकि उन्हें शहर के बाहर जमीन दे दी गई। पुलिस भी खाली कराने में सक्षम नहीं दिख रही। कोई न कोई पार्टी उनके पक्ष में धरना प्रदर्शन करने के लिए उतर आती है।” इस बार जायसवाल साहब ने विनीत भाव से कहा। अब्बू को जैसे इसी वक्त का इंतजार था। जिसके घर में कुत्ता भी नहीं आता था, आज उसके घर में जमनालाल जायसवाल आया था। अब्बू ने कहा-

“आपको चिंता नहीं करना है हुजूर। सी.एस.पी. साहब का यदि आशीर्वाद प्राप्त है तो...”

“इसकी फिकर मत कीजियेगा। आपको निराश नहीं होना पड़ेगा जमाल साहब।” सी.एस.पी. साहब ने मुस्कराते हुए कहा था। उसी वक्त पेशगी के तौर पर दो लाख का बंडल अब्बू के सामने रख दिया गया था। जब पेशगी दो लाख की रही होगी तो आगे क्या होगा। इस बात का अंदाज अब्बू को बखूबी हो गया था। खैर, उसी शाम झगड़े की नींव डली और रात होते-होते पूरी बस्ती आग के हवाले कर दी गई। जब तक दमकल आता तब तक बस्ती खाली हो चुकी थी। एक गरीब के पास होता ही क्या। टूटे-फूटे बर्तन और कथरी बिछौना। लेकिन दूसरे दिन यदि कोई गिरफ्तार हुआ तो मैं और मेरे साथी। लेकिन एक भी गवाही देने वाला सामने नहीं आया। इसलिए...

उसी ‘त्रिभुवन माल’ को देखकर सारी यादें ताजा हो गई हैं। कितना खूबसूरत बाजार है। कांच के बीच से आती जाती लिफ्ट, सामने कतारबद्ध खड़ी देशी-विदेशी कारें, हाथ में हाथ डाले जाती खूबसूरत अप्सराओं ने मन को बेकाबू कर दिया था। दिल में आया कि चोर चावी से किसी कार का गेट खोलकर किसी खूबसूरत कन्या को बैठाऊँ और ले उड़ूँ। लेकिन यह भी तो सपना ही हो गया था। इसलिए लगता है कि जीने का एक मौका मुझे देना चाहिए था। इसलिए आगे बढ़ जाता हूँ।

कॉलेज चौराहे पर लड़कियों का एक हुजूम इकट्ठा है। जैसे स्वर्ग से इंद्र ने सारी अप्सराएँ यही पर भेज दिया है। मुझे याद है। इन्हीं में से एक को उठाकर दिन-दहाड़े ले गया था। पूरे शहर में हंगामा मच गया था। जब वह बरामद हुई तो उसने मेरा नाम नहीं, रवि प्रकाश का नाम लिया था। प्रकाश का मैं भी शागिर्द था। इतना बड़ा नाम कि एस.पी. कलेक्टर से बात करने में अपनी तौहीन समझता था। फिर लड़की को पता नहीं था कि उसका नाम लेना उसे कितना महंगा पड़ेगा। आखिर वही हुआ। जिस चीज का डर उसे मुझसे था। लड़की फिर उठा ली गई। सब कुछ करना तो मुझे ही पड़ा। क्योंकि प्रकाश का इशारा जीवन और मृत्यु से जुड़ा होता। आखिर लड़की की लाश एक झाड़ी में लटकी मिली। मैंने प्रकाश से कहा- “दादा, आपको यह नहीं कराना चाहिए था।”

“क्या करता। लड़की के मामले में मुझे किसी को

उठवाने की जरूरत ही नहीं पड़ी। ससाले तुम लोग तो वैसे ही पूरी तरह से व्यवस्था करते हो। फिर उसने मेरा नाम ले लिया। पुलिस को भी यकीन हुआ।”

लेकिन अजीब है। जिस प्रकाश के नाम पर मंत्री जी भी खौफ खाते थे। उसी प्रकाश को इसी कॉलेज चौराहे में भीड़ ने पत्थरों से पीट-पीटकर मार डाला था। पुलिस चारों तरफ घेराबंदी करके प्रकाश को सरेन्डर करने के लिए माइक से पुकार रही थी और सादी वर्दी में पुलिस वाले पत्थर इकट्ठा करके जनता के हाथ में पकड़ा रहे थे। प्रकाश का ऐसा कोई अंग नहीं बचा था जिस पर चोट नहीं हुई थी। प्रकाश की मौत ने मुझे सदमा पहुँचाया था। लेकिन तब भी मैं समझ नहीं पाया था कि पुलिस के अगले निशान पर कौन है। प्रकाश की मौत से मुझे सीख लेना चाहिए था। क्योंकि प्रकाश अक्सर कहा करता था, कि एक सफल गुंडा नेता बन जाता है और असफल गोली का शिकार।

तब से मैंने पुलिस का टैक्स चुका शुरू कर दिया था। क्योंकि प्रकाश के शब्द में कहूँ तो पुलिस से शक्तिशाली तो न्यायालय भी नहीं होगा। यदि पुलिस आपको संरक्षण दे रही है तो आप समझिये आप लोकतंत्र के सबसे बड़े मजबूत धड़ हैं। बहुत से मामले प्रकाश के बाद मेरे पास आने लगे थे। कई विवाद तो मैं अपने कक्ष में बैठकर किसी राजा महाराजा की तरह सुलझा देता। कभी-कभी मुझे भ्रम हो जाता कि मैं कहीं नेता तो नहीं बन गया।

मेरे पिता बहुत ही प्रसन्न होते। साइकिल से निकलकर खुली जीप में चलने लगे थे। जिधर से गुजरते लोग उन्हें सलाम करे। कई सभाओं के सभापति भी होने लगे थे। अब उनके सर अक्सर फड़वाली टोपी होती। जो इस बात का प्रतीक होती कि जमाल साहब आज किसी सभा को संबोधित करने जा रहे हैं। चमचों की भीड़ उन्हें घेरे रहती। विधायक और मंत्री तक उन्हें सलाम ठोकते। पुलिस वाले उनके लिए सड़क खाली करा देते। साईं मंदिर के सामने लगी पंडित की दुकान से पिता का कम से कम दस-बीस पान रोज बँधकर आ जाता। पिता कहते कि पंडित की उधारी बहुत हो गयी है। कभी मांगता नहीं। उसे पटा देना।

शाम को जब मैं घूमने निकलता पान, चाय, भजिया, समोसा, भांग की लस्सी और मछली वाले को खुशियन

पैसे बाँटते जाता। कोई कभी अपनी उधारी न मांगता। पिता जब जिससे जो मांगते या मंगाते लोग भेजते जाते। क्योंकि चमचों की एक कतार थी। लेकिन पता नहीं क्यों गरीबों का एक पैसा दबाने में मेरी दिलचस्पी नहीं थी। पिता यह कहा करते—खुदा जकात करने से खुशी बरसाता है।

मकान दो मंजिला बन गया था। पांचों भाई और तीनों बहनों को मैंने व्यवस्थित कर दिया था। सभी के अपने धंधे खुल गये थे। कोई किसी पर निर्भर नहीं था, लेकिन पूरा परिवार मेरे लिए सर उठा लेता। लेकिन सारे दिन एक जैसे नहीं होते। उस दिन पिता ने बुलाकर कहा था—“बेटा, दोनों अपने रिश्तेदार ही हैं। जावेद ने असगरी को तलाक देकर उसका मेहर भी पटा दिया है। तब भी उसके मकान से असगरी अपने बच्चों के साथ घर से बाहर नहीं जा रही है।”

“असगरी भी तो अपने रिश्ते में है।” मैंने इतना ही पूछा था।

“है, लेकिन जावेद पेशगी के तौर पर मकान खाली कराने के लिए एक लाख रुपये दे गया है। मकान उसका है।”

मेरा दिमाग घूम गया था। राम मित्र लोन न पटा पाने की वजह से अपना घर बैंक को वापस कर दिया है। या बैंक ने उसका घर कुर्क कर लिया है। जावेद यदि तैयार हो तो अपना घर राम मित्र को बेच दे। उसके पास तो शहर में दो मकान हैं। पूरे दिन मेरे लिए काम करता रहता है। शकीर के घर में रह रहा है। जावेद को पैसा मैं दे दूँगा। तभी पिता बोल उठे थे। “एक लाख और देगा। असगरी का भाई कमाल जावेद को धमका रहा है।”

“लेकिन अब्बू, असगरी अपने बच्चों को लेकर कहाँ जायेगी। आखिर बच्चे तो जावेद के ही हैं।”

“पूरे समाज का हम ठेका थोड़े ही ले रखे हैं। मैं भी कभी चौबे विधायक का ड्राइवर था। मेरे काम से खुश होकर यह मकान मेरे नाम करा दिया था। चाहते तो अपने किसी रिश्तेदार के नाम से करा देते। लेकिन मेरे वफादारी का ईनाम मुझे दिया। फिर जावेद के पिता के एहसान भी तो मेरे ऊपर हैं।”

काश पिता की बात मैंने न सुनी होती। पितृभक्ति ने मुझे उलझा दिया था। इसलिए मैं इस्माइल से मिलना

चाहता हूँ। जो इतनी सुंदर प्रतिमा बना सकता है। उसे भावनाओं का अच्छा-खासा ज्ञान होगा। उसने समाज को खासकर बोलते हुए प्राणी को अच्छा इंसान बनाने के लिए कोई मूर्ति क्यों नहीं बनायी। जिस चाचा को मैं अपने बाप से ज्यादा सम्मान देता था। जिसके चार-चार गजलों की किताब छपवाकर विमोचन कराया था। वह चाहता तो मुझे इस कुकर्म से रोक सकता था। चौबे काका तो आज भी मेरे पिता को छोटा भाई मानते हैं। मेरे पिता ने उनकी जान बचाई थी। उनके प्रबल प्रतिद्वंद्वी नेता सैयद साहब को हराने में मेरे पिता ने खुली दुश्मनी मोल ले ली थी। हिंदुओं के प्रिय नेता थे। सैयद साहब। लेकिन हारे अपनी ही बिरादरी के बीच। चौबे काका भी मुझे इस काम से रोक सकते थे। कह सकते थे कि असगरी एक बेसहारा औरत है। उसका घर तुम खाली नहीं करा सकते। यह गलत काम है। एक औरत की इज्जत को सड़क पर नीलाम करना भगवान का अपमान है। मुझे दो-चार चाँटा लगा सकते थे। जबकि उन्हें इस बात की जानकारी थी। जब मैं असगरी को पीट रहा था। उसका सामान कमरे से निकाल कर फेंक रहा था। उसका दुपट्टा हवा में लहरा दिया था। तब भी मुझे रोक सकते थे। क्योंकि उनके सामने आज भी मेरे पिता सर नहीं उठाते।

लेकिन उन्हें भी क्या दोष दूँ। गलती तो मेरी हैं। उनसे पूछकर थोड़े ही ठेका लेता था। फिर ठेका लिया भी था तो थाने में ठेका का कमीशन पहुँचा देना चाहिए था। जबकि मुझे पता था कि दो दिन पहले ही नया नगर कोतवाल आया है। कुछ ज्यादा ही ईमानदार है। शुरू-शुरू में तो ईमानदारी तो दिखानी ही पड़ती है। मैंने सोचा कि वह खुद मुझसे मिलने क्यों नहीं आया। उसे भी उसकी औकात बताना था। उसे पता चलना चाहिए कि मेरे इलाके में जो नया आता है, उसे मेरे दरवाजे में एक बार तो आना ही पड़ता है। लेकिन यहीं पर भूल कर बैठा। हर व्यक्ति एक जैसा नहीं होता। यदि उसे इस काम में शामिल कर लेता तो शायद बच जाता। लेकिन मुझे लगा कि मेहनत करूँ मैं और फल में बंटवारा हो। यहीं पर गलती हो गयी।

आज सब कुछ छिन गया और रूह-दर-दर भटक रही है, तब एक-एक बात याद आ रही है। इसलिए मैं

इस्माइल को ढूँढ़ना चाह रहा हूँ। मैं उससे बार-बार पूछना चाह रहा हूँ कि जब तुम एक जीवित प्रतिमा बना सकते हो तो जीवित आदमी को बेहतर इंसान क्यों नहीं बना सकते। बाजार पार कर रहा था। तभी मेरी नजर पुरानी किताब की दुकान आजाद बुक डिपो के अंदर खड़ी असगरी पर गई। नयन, नक्श की धनी और दिखने में सुंदर असगरी के बगल से उसके दोनों मासूम बच्चे खलिद और रहीम खड़े हैं। उसके कुर्ते में कई जगह टोंके हैं। बगल से सीवन खुली है। सीने पर एक मटमैला दुपट्टा है। अभी भी उसके आँख के ऊपर घाव है। वही घाव जो मैंने चाकू से गोंदकर दिया था। मैं धीरे से आकर उसके पास खड़ा हो गया हूँ। वह दुकानदार से पूछ रही है। “भाई साहब क्या आपकी दुकान में पुरानी किताबें आधी कीमत में मिल जायेंगी?”

“बहन जी, यहाँ पुरानी किताब ही मिलती है। आपको किस क्लास की चाहिए?”

“छठवीं की गणित और कुंजी। साथ ही चौथी की विज्ञान की।”

असगरी की बात सुनकर मुझे अपने माँ बाप याद आ जाते हैं। अम्मी ने एक बार पिता से कहा था— “जमाल साहब, इन्हें चाकू और छूरा में अंतर समझाओ। मेरी मानों तो इन्हें सरकारी स्कूल में ही भर्ती करा दो। चार अक्षर सीख जायेंगे जो रोजी रोटी के साथ अपना जीवन भी संभाल लेंगे।”

पता नहीं कैसे दुकानदार ने असगरी को पहचान लिया है। उसने पूछ ही लिया है कि क्या आप जावेद की...। उसने तपाक से जवाब दिया है। थी कभी। अब मैं उसकी बेगम नहीं हूँ। उसने फिर पूछा है। क्या आप पढ़ी लिखी हैं। उसने दर्द भरी आवाज में कहा है। “यदि पढ़ी लिखी होती तो जावेद मियां का अत्याचार शायद न सहती। खुद तलाक दे देती।” असगरी की आँखें भर आई थीं। फिर भी उसने आगे कहा— मैं बच्चों को पढ़ाना चाहती हूँ। उन्हें अपने वालिद की तरह कभी नहीं बनने दूंगी। भले मुझे दो चार घरों में बर्तन मलना पड़े।”

वह मेरी ओर खूनी निगाहों से देखती है। जैसे मैं सचमुच दिखाई पड़ रहा हूँ। वह चीख पड़ती है।” खुदा के वास्ते यह चर्चा बंद कीजिये। वैसे उस जालिम को तो सजा मिल गई। उसने मुझे बेआबरू कर दिया था। कोई

बात नहीं। जावेद के हाथों तो रोज पिटती थी। लेकिन उसने यह सोचा कि एक महिला की तरह पुलिस वालों को भी उसी अंदाज से पीट लेगा। इसी हेकड़ी में उसने कोतवाल साहब का गिरेवान पकड़ कर पीटना शुरू कर दिया था। उनके सीने में कट्टा लगा दिया था। सब दिन के लिए चला गया। मालिक हर गुनहगार को सजा देता है, देरी भले हो जाए। अब बारी जावेद की है। उसे भी सजा मिलेगी।”

दुकानदार खामोश हो जाता है। वह विषय ही बदल दिया है। दोनों बच्चे अपनी किताबें पाकर बहुत खुश हैं। दुकानदार ने दोनों बच्चों को टॉफियाँ दी हैं। लेकिन रहीम बोल उठता है। “अंकल मैं टॉफी नहीं खाता। मुझे इसके बदले आप एक पेंसिल छीलने की मशीन दे दीजिये।” दुकानदार काफी समझदार है। उसे पता है कि किस बच्चे को टॉफी पसंद नहीं हो सकती। इसलिए उसने दो-दो कॉपी, पेंसिल और मशीन अपनी ओर से देते हुए बोला—

“टॉफी तो आप खाओ। लेकिन अच्छी पढ़ाई के लिए ये सामग्री मेरी ओर से।”

मेरी आँखें भर आई हैं। यदि सामने जावेद होता तो मैं प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन कर उसका गला दबा देता। लेकिन अब तो पछतावे के अलावा कोई चारा भी नहीं है। काश, पुलिस भले मुझे मार-मार कर मेरा कचूमर निकाल लेती। यदि जीवन बख्श देती तो आज मैं इन बच्चों को हर संभव मदद देता। ये तो बेकसूर हैं। दो के बीच इन्हें पीसना पड़ रहा है। लेकिन बच जाता तो शायद यह कर ही न पाता। तब बदले की आग में कितनी हत्याएँ करता। इन मासूमों को क्या पता। क्योंकि मेरे पिता तो कभी यह समझाते ही नहीं कि जो विचार असगरी के अपने बच्चों के प्रति है। मेरे शायर चाचा शायरी तो देशभक्ति की करते हैं। लेकिन आचरण ठीक उसके विपरीत है। चौबे अंकल की तरह। बात तो अहिंसा की करेंगे लेकिन दुश्मनी हो गई है तो फिर...। आज तो मुझे मकबूल बाबा की याद आती है। मास्टर होकर भी हजारों हिंदू और मुसलमान बच्चों को पढ़ाया। जो सीखा उसे अपने जीवन में उतारा। कभी हिंदू मुस्लिम रहे नहीं। सदैव आदमी की तरह पेश आये। बचपन से कहते आये हैं। बेटा पप्पू पढ़ो। इल्म बेकार नहीं जाता। यदि दुनिया को जीतना है तो शिक्षा से जीतो। लोग तुम्हारे गुलाम हो जायेंगे। शायद यही वजह थी कि कई

हिंदू बच्चे उनके पांव आज भी छूते हैं। लेकिन मेरे शायर चाचू से उनकी कभी नहीं पटी।

जिस शहर में मैं पैदा हुआ, उस शहर में आज तक कोई दंगा हुआ ही नहीं। पाकिस्तान के नारे लगे ही नहीं। ताजिये में पता ही नहीं चला कि कौन हिंदू है और कौन मुसलमान। होली और दीवाली में ऐसा कोई घर नहीं है, जहाँ यह बता पाना कि यह त्योहार अमुक धर्म का है। जब जैसा त्योहार तब तैसा शहर बन जाता। यदि शहर में सांप्रदायिकता होती तो शायद शेख दिखने वाले सैयद साहब इस शहर में दो-दो बार मेयर न चुने जाते। इस शहर से विधायक चुनकर राज्य मंत्री न बनते। यदि ऐसा होता तो मैं कब का मार दिया जाता। मेरे पक्ष में सारे हिंदू आज न खड़े होते। मेरी मौत पर पूरा शहर न उमड़ पड़ता। राज पाट भले ही छिन गयी हो। लेकिन अभी शहर के राजा भान सिंह ही माने जाते हैं। उन्हें हिंदू और मुसलमान अपना राजा ही मानते हैं। राजा साहब मेरे ड्राइवर पिता को कभी भी अपने बगल में बैठाकर गुफ्तगू न करते। पुलिस इंस्पेक्टर जिसने मेरी जान ली या कहें उसके माथे पर यह लिख गया है, वह भी आज रो रहा है। उसका भी शायद यह उद्देश्य नहीं रहा होगा। उसे निलंबित कराने वाले राजा साहब ही हैं।

अचानक मेरी नजर अपने हत्यारे पुलिस निरीक्षक के ऊपर पड़ी। हत्यारा कहना ही उचित होगा। वह सलीम चाचा की दुकान पर कच्छा बनयायन लेने के लिए बैठा चाय पी रहा था। सलीम चाचा के चेहरे में अपार खुशी है। लेकिन उसके चेहरे पर मातम छाया हुआ है। सलीम चाचा इसलिए नाराज हैं। क्योंकि मैंने ही उनकी इकलौती बेटी कम्मू को उठा ले गया था। उससे प्यार करता था। उससे शादी करना चाहता था। समाज के लोगों के विरोध के सामने मैं मजबूर हो गया था। यदि वह मेरी जिंदगी में आ गई होती तो शायद अपराधी प्रवृत्ति से मुक्त हो गया होता। कम्मू को दिल दे बैठा था। वह तब भी मुझे गुंडा ही समझती रही। मेरे अब्बू यदि मेरा विरोध न करते तो...। खैर निरीक्षक कह रहा है—

“आपका क्रोध जायज है भाई सलीम। लेकिन यह अपराध मुझसे अनजाने में हुआ। यदि वह कालर पकड़कर

मुझे लात न मारता तो मैं स्थिति को संभाल ले जाता। क्योंकि उसे अपराधी बनाने वाली तो पुलिस ही है। फिर भी बेहद अफसोस है।”

वह ठीक कह रहा है। यदि पुलिस मुझसे सख्ती से पेश आती तो शायद मैं अपराध-दर-अपराध न करता। पुलिस मुझे प्रकाश के विरुद्ध खड़ा करना चाहती थी। लेकिन मैं जानता था कि पुलिस से तो बच जाऊंगा, लेकिन प्रकाश से नहीं। तब भी प्रकाश मुझसे इतना नाराज है कि पीपल के पेड़ पर बैठा हर आने-जाने वाले को देखता रहता है। कड़ियों से बात भी करता है लेकिन मुझे देखते ही भड़क उठता है। चीखकर कहता है। “तू हट जा नीच। तूने सारे अत्याचार औरतों के खिलाफ किया है। तूने कमजोर को सताया है।”

लेकिन पुलिस निरीक्षक की बात ने मुझे अंदर तक दुखित कर दिया है। “सलीम भाई, मैं एक पिता भी हूँ। कल मैं बेदाग बरी हो जाऊंगा। लेकिन पूरे जीवन अफसोस रहेगा। मैंने एक आदमी की दुनिया उजाड़ दी है। मौत और जिंदगी दोनों उस मालिक के हाथ में हैं। मैंने उसके अधिकार में अतिक्रमण किया है। इसकी सजा मुझे या फिर मेरे औलादों को मिलेगी।”

मेरी माँ अक्सर यही बात कहा करती।— “जिंदगी देना और लेना अल्लाताला का काम है। तू ऐसा मत करना। प्रकाश बनने की कोशिश मत करना। उसे तो बचाने के लिए पूरा शहर टूट पड़ेगा। लेकिन तुझे बचाने वाला कोई नहीं होगा।” हालांकि माँ का यह कहना गलत निकला। मुझे बचाने के लिए पूरा शहर उमड़ा था। लेकिन प्रकाश को तो इसी शहर के लोगों ने पत्थर मार-मार कर मार डाला था। मैं और मेरे पिता जी भी जानते हैं कि कोतवाल को कुछ नहीं होगा। मेरे पिता को भी यह बात समझ में आ गई कि मैं वापस उस घर में नहीं आऊंगा। इसलिए उन्होंने विरोध करना छोड़ दिया है। मेरे जनाजे के जुलूस में जितने नाते रिश्तेदार शामिल थे। सभी ने यह मान लिया कि एक गुंडे के लिए एक पुलिस से पंगा लेना उचित नहीं है। मेरा परिवार मेरी कमाई का लुत्फ उठाने में मस्त हो गया है। मेरे भाइयों के बीच संपत्ति का विवाद शुरू हो गया है। मेरी पत्नी एक साल पहले ही ब्याह कर घर आई थी। उसी दिन

ससुराल छोड़कर अपने मायके चली गई है। उसके पिता दूसरी शादी के लिए लड़का तलाश करने में जुट गये हैं। पुलिस में बयान दर्ज कराने भी नहीं गये। लेकिन मेरे पिता ने मेरे भाइयों को कई बार उकसाया कि मेरे पत्नी के खाते में जो रकम जमा है उसे वापस लो। लेकिन किसी ने कदम नहीं बढ़ाया है। क्योंकि सभी को पता है कि उसके भाई उनके ऊपर भारी हैं। एक माँ को छोड़कर मेरे लिए न तो कोई रो रहा है और न कोई चर्चा ही करना चाहता है। सभी संपत्ति के बंटवारे के लिए वकील से सलाह ले रहे हैं।

मुझे आज समझ में आ रहा है कि एक गुंडे का कोई सगा नहीं होता। वह भले सारी जिंदगी दूसरों और अपनों के लिए लूटता मारता रहे। जिस इस्माइल को दूँदने के लिए पूरा शहर घूम डाला वह लौटकर विवेकानंद की प्रतिमा के पास ही मिला। विवेकानंद की मूर्ति को देखकर इस्माइल से परिचय करना ही भूल गया। स्वामी जी के चेहरे पर अपार शांति और तेज देखकर परेशान हो गया। यह तेज क्या किसी केमिकल्स का है। या फिर उसके अंदर से निकल रहा है। इस्माइल स्वयं उनके चेहरे को देखकर परेशान है कि प्रतिमा, प्रतिमा ही है या फिर विवेकानंद की जी स्वयं प्रगट हो गये हैं। खामोशी से संसार को देख रहे हैं।

फिर भी मैं इस्माइल से पूछ ही लिया है- ‘जनाब, आप इस्माइल हैं। यह मूर्ति आपने ही बनायी है।’

“मैं... एक मृतात्मा हूँ। आपसे मिलने के लिए भटक रहा था।”

“आप जिंदा होकर भी अपने आपको मरा हुआ घोषित क्यों कर रहे हैं। इतनी सुंदर दुनिया भूतों को नसीब नहीं होती। यदि होती भी है तो विवेकानंद जैसे लोगों को। जो जीते भी दूसरों के लिए और मरते भी दूसरों के लिए ही हैं। खैर... बताइये आप मुझसे क्यों मिलना चाहते हैं।”

“क्या मृत आदमी जिंदा हो सकता है।” मैं पूछता हूँ।

“क्यों नहीं। लेकिन एक बात गौर करने की है। बहुत लोग जीवित होकर भी मरे हुए ही हैं। उनसे बेहतर तो ये प्रतिमाएँ हैं। जो अपने व्यक्तित्व से संदेश देती रहती है।

आप हिंदू हैं या मुसलमान हैं।” मैंने पूछा तो इस्माइल

चौंक जाते हैं। फिर मुझे एक अपराधी की भाँति देखते हैं। उनके आँठ अचानक फड़फड़ा उठते हैं।

“यह तो मैंने कभी सोचा ही नहीं। सोचने की फुर्सत ही नहीं मिली। नेता तो कभी रहा नहीं। एक कलाकार की तरह अपने काम में लगा रहा। लेकिन आप कौन हैं? और प्रश्न के पीछे आपका क्या मकसद क्या है?”

मुझे हंसी आ जाती है। पूछना कुछ चाह रहा था। पूछने कुछ लगता हूँ। फिर मेरी हंसी रूदन में बदल जाती है। मैं कहता हूँ।

“भाई साहब, बेशक मैं एक अच्छा आदमी नहीं था। लेकिन क्या पूरी दुनिया का गुस्सा एक आदमी पर उतार देना उचित था। उसे संभलने व समझने का एक मौका नहीं देना चाहिए था। आप निर्जीव वस्तु में जान डाल देते हैं। ऐसी मूर्ति गढ़ देते हैं जो बोलने लगती है। एक बोलते हुए आदमी को गढ़ा नहीं जा सकता।”

इस्माइल को कुछ भी समझ में नहीं आता। लेकिन विवेकानंद की आँखों से अविरल आँसू बहने लगते हैं। यह आँसू मुझे दिखाई दे रहे हैं। इस्माइल तो मुझे दूँद रहे हैं। उन्हें नहीं पता कि मैं उसके सामने ही खड़ा हूँ। गुस्से से कहते हैं। इस दुनिया में इतने फालतू लोग हैं जो अपना समय भी बर्बाद करते हैं और दूसरों का भी। हिंदू हैं या मुसलमान। अरे मूर्ख, यदि तेरे घर में रोटी है तो कुछ भी बन जा। वरना कुछ भी बना रह। दुनिया को बात करने की फुर्सत नहीं है। जब वक्त निकल जाता है, तब सभी को ज्ञान आ जाता है। चला गया, वरना मैं उससे पूछता। नदी के द्वीप की तरह तो हर कोई चिकना होना चाहता है। लेकिन थपेड़े सहने का साहस होना चाहिए। गढ़ने की बात करते हैं। स्कूल का मास्टर एक छड़ी मार देता है तो बाप लाठी लेकर मास्टर को मारने स्कूल पहुँच जाता है। इस्माइल की भट्टी में तपने चले हैं।

जो सुनना था, सुन लिया। जो जानना था, जान लिया। लेकिन आप से कहना चाहता हूँ। आप लोग इस्माइल के संपर्क में जरूर रहियेगा। वह न तो हिंदू है न मुसलमान। वह एक बेहतर इंसान हैं। एक अच्छा आदमी ही एक अच्छा कलाकार हो सकता है। जो मैं नहीं बन सका।

संपर्क : राजीव मार्ग, निराला नगर, रीवा, म.प्र. पिन- 486002, मो. 09424770266

### बांग्ला कविता

**शंख घोष** बांग्ला के प्रतिष्ठित कवि एवं समीक्षक रहे हैं। इनका जन्म अर्तमान बांग्लादेश के चाँदपुर में सन् १९३२ की ६ फरवरी को हुआ था। कलकत्ते के बंगबासी एवं सिटी कॉलेज में बांग्ला के प्राध्यापक रहने के बाद ये जादवपुर विश्वविद्यालय के बांग्ला विभाग से जुड़े रहे और वहीं से सेवा निवृत्त हुए। रवीन्द्र साहित्य पर इन्होंने काफी काम किया है। ये विश्व भारती के शोध संस्थान से भी जुड़े रहे। शंख घोष आधुनिक बांग्ला कविता के प्रमुख हस्ताक्षर हैं। प्रस्तुत कविताएँ सारदा बैनर्जी द्वारा अनूदित हैं।

#### मीमांसा

कुछ भी मीमांसा नहीं, कहीं नहीं कोई अंत  
हाथ में उठाया तुमने जो फल  
तुरंत झड़ जाता वह हवाविहीन अंधेरे घर में  
जो लेती है वह लौटा देती है मिट्टी  
मेरे भाग्य में केवल रख जाती है पराभव  
देह को जगाकर बारबार  
हाथ रखकर अगाध शरीर में  
कह उठता हूँ, दो  
लौटा दो सामंजस्य परिणति सजीव समाधान  
व्यर्थ हाथ लौट आता नस नस में निस्सहाय  
कोई मीमांसा नहीं, वही आदि, जिसे सोचते हो अंत।

#### व्यर्थ

उसकी कोई ख्याति नहीं उसका जन्म परिचय नहीं  
उसकी कोई मुक्ति नहीं लोग जिसे मुक्ति कहते आए हैं  
जहाँ तक दिखाई देता है कतारों में कम्बल, समूर  
और कोई लहर नहीं लहरों के संघर्षों में दीप्ति नहीं।  
जीवन जो इतना अच्छा है, उस जीवन में अधिकार नहीं  
शर्महीन सौंदर्य के चेहरे पर कोई म्लान आभा नहीं  
कतारों में डॉट और डॉट की आँखों के नीचे जल  
दो हाथ फैलाकर देखता है और कोई जलचिह्न नहीं  
फिर भी वह ऐसे कोई स्पर्धा से कह जाता है  
'मेरे दुख के सामने तुम लोगों को झुकना पड़ेगा।'



**शब्द का वास्तविक बोध**

शब्द का वास्तविक बोध लुप्त हो गया बहुत दिनों से  
तभी, तुम बुलाओ, मैं सुनकर भी नहीं सुनता, यानि नहीं है—  
कौन किसे क्या कहता है, कौन सुनता है कौन नहीं सुनता, फिर भी  
भयावह शब्दाडंबर से भर आई है पूस की हवा  
और इस अवसर पर कुछ स्वाधीन पिशाच  
ठंड के स्वर से चूस लेते पृथ्वी की सांस  
राजमार्ग से ट्रक में उठा ले जाते हैं स्त्री  
धावमान चक्कासें से छिन्न पड़े रहते हैं घुटने  
आजकल कवि अनायास ही जिसे कहते हैं जंघा—  
शब्द का वास्तविक बोध कोहरे में अकेले पड़ा रहता है।

**कवच**

‘वह जब हर रात चेहरे पर लिए एक लाख जख्म  
मेरे घर का दरवाजा खुला पाकर लौट आता घर में  
खड़ा होता द्वारप्रांत में समस्त विश्व की स्तब्धता में  
टेढ़ा कर देह को उभारता क्षितिज से शीर्षकाश  
और चेहरे पर जलता है लाख लाख तारों का दहन  
अवलंबहीन उस गरिमा से झुक जाता है  
जैसे यही है वह धर्माधर्मज्ञानहीन देह  
क्षण में मूर्छित हुआ मेरे पैरों के तीर्थतले—  
शून्य से शून्यता में निराकार अस्फूट सांस  
मध्यरात्रि के स्पंदन में निःशब्द हुआ, तब भी वह  
दूर देश में दूर समय में दूर पृथ्वी को बुलाकर कहता:  
यदि इतना व्यूह चक्र तीर तीरंदाज, तब क्यों  
केवल शरीर दिया कवच देना गए भूल!’

**कुल्हाड़ी**

सिर झुकाकर चल रहा वह व्यक्ति  
आँखों की पलकें ठीक से नहीं दिखाई देती  
शायद मन में कोई भावना हो  
शायद बहुत शून्य हो गया हो  
उसके कपड़े के नीचे पुरानी कुल्हाड़ी  
निमर्म वीभत्स दस्युत्व की  
शायद कई चिह्न रख छोड़ा है  
उसे और मिथ्या सात्वना मत दो  
नत सिर सख्त पैर के पंजे में  
निःशब्द झरता है अस्तालोक।

**इंटरव्यू**

इस मांस का स्वाद बहुत परिचित है  
ठोड़ी से होकर बह उतरता है लार  
प्रतीक्षा के बाद प्रतीक्षा  
प्रतीक्षा के बाद प्रतीक्षा  
उसके बाद समझ में आता है ऐसा ही होता है  
मेरी बहनें जब इंटरव्यू देने जाती हैं  
वहां मैं ही  
अलग पोशाक में  
गर्म भाप लेते-लेते  
उन्हें खाने के लिए चुप बैठा रहता हूँ  
वातानुकूलित घर में।

संपर्क : 9038794738

प्रेमचंद जयंती पर विशेष

## कमल किशोर गोयनका से रवि शर्मा की बातचीत

**डॉ. रवि शर्मा :** गोयनका जी, आपको प्रेमचंद-साहित्य का मर्मज्ञ माना जाता है, इसलिए यह स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि पहले-पहल प्रेमचंद साहित्य में आपकी रुचि कब और कैसे हुई?

**गोयनका :** शर्मा जी, मैं प्रेमचंद साहित्य का मर्मज्ञ नहीं, उसका अध्येता हूँ। यदि सुधि पाठक और विद्वान मेरी आधी शताब्दी की प्रेमचंद-साहित्य की साधना और अनुसंधानात्मक आलोचना एवं लुप्त साहित्य की खोज में मर्मज्ञता देखते हैं तो मैं उनका कृतज्ञ हूँ। यह सच है कि साहित्य में यश सरलता से प्राप्त नहीं होता, लेकिन मर्मज्ञ अथवा विशेषज्ञ के पद को स्वीकार करने में मुझे अहंकार का भाव दिखायी देता है। साहित्य में बड़े-से-बड़ा विद्वान भी छात्र ही होता है और उसे निरंतर अध्येता बना रहना होता है। जहाँ तक प्रेमचंद में रुचि का सवाल है तो मेरी प्राथमिकता जयशंकर प्रसाद थे। यौवन-काल में प्रेमचंद के स्थान पर प्रसाद ही अधिक आकर्षक और रोमांटिक लगते हैं। अतः सन् १९६१ में एम.ए. (हिंदी) करने के बाद मैं प्रसाद पर शोध करना चाहता था, किंतु डॉ. नगेन्द्र में मुझे प्रेमचंद पर शोध-कार्य करने का आदेश दिया और इस प्रकार मैं प्रेमचंद-साहित्य का अध्येता बना और शोध-कर्म के बाद तो मैं प्रेमचंद के प्रति समर्पित हो गया।

**रवि शर्मा :** प्रेमचंद को हिंदी-कथा साहित्य का 'शिखर पुरुष' कहा जाता है। उनकी कौन सी विशेषताएँ उन्हें इतना बड़ा कथाकार बनाती हैं?

**गोयनका :** आप सच कहते हैं कि प्रेमचंद कथा-सम्राट हैं, जैसे आचार्य रामचंद्र शुक्ल आलोचना-सम्राट तथा काव्य-नाटक सम्राट जयशंकर प्रसाद। हिंदी के इन साहित्य-सम्राटों को आज तक कोई चुनौती नहीं दे सका है। प्रेमचंद के कथा के शिखर पुरुष बनने में कई विशेषताओं का योगदान है। प्रेमचंद का वैशिष्ट्य है कि वे उर्दू से हिंदी में आने वाले ऐसे कथाकार थे जिन्होंने हिंदी की आधुनिक कहानी एवं आधुनिक उपन्यास की रचना की और नये युग का शुभारंभ किया। उन्होंने कथा साहित्य को नयी कथावस्तु दी, हजारों पात्रों की सृष्टि की और उसे अपने युग और समसामयिक जीवन के साथ जोड़ा। उन्होंने साहित्य में पहली बार देश के स्वराज्य और भारतीय आत्मा की रक्षा का संकल्प दिया और जीवन पर्यन्त इस संकल्प का निर्वाह किया। वे भारतीयता के कथाकार थे और उनकी भारतीयता बहुलतावादी और समावेशी थी उसमें भारतीय समाज का बृहद रूप समाया था। उन्होंने समाज की विषमता, भेदभाव, विसंगति और अमानवीयता पर गहरी चोट की और जीवन के आदर्श रूप की स्थापना की। उन्होंने गांधीवाद को साहित्य में समुचित स्थान दिया और स्वाधीनता संग्राम के महागाथाकार बने। वे कृषि संस्कृति के उपासक और रक्षक थे और पश्चिमी सभ्यता एवं औद्योगिकीकरण को भारतीयता का शत्रु मानते थे। वे मनुष्य में देवत्व के अन्वेषी रचनाकार थे और भारतीय आत्मा के सर्जक कथाकार। उन्होंने कथा-शिल्प में भी अपने प्रयोगों से मौलिकता का परिचय दिया और कथा-साहित्य का आधुनिक शास्त्र निर्मित किया। उनकी रचनाओं में कथावस्तु का विस्तार और व्यापकता, हजारों पात्रों की सृष्टि तथा मानक हिंदी की उद्भावना ने भी उन्हें शिखर-कथाकार बनने में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

**रवि शर्मा :** गोयनका जी, प्रत्येक बड़ा साहित्यकार अपने युग के सबसे कमजोर आदमी की पीड़ा को अभिव्यक्ति प्रदान करता है। अपने युग की उपलब्धियों और समस्याओं को व्यंजित करता है। क्या आप मेरे इस विचार से सहमत हैं? यदि हैं तो प्रेमचंद के संदर्भ में यह कथन किस सीमा तक सच है?

**गोयनका :** शर्मा जी, मैं आपकी बात से सहमत हूँ, लेकिन मैं इसे इस प्रकार कहना चाहूँगा कि साहित्यकार मनुष्यता का रक्षक है और उसका प्रवक्ता भी तथा उसका संस्थापक भी। साहित्यकार में एक महाकरुणा का भाव होता है और वह कमजोर एवं सबल सबके प्रति संवेदनशील होता है। इस मनुष्य-समाज में मनुष्य ही मनुष्य को पीड़ा देता है, उसका शोषण एवं दमन करता है, अतः साहित्यकार इस पीड़ित तथा शोषित मनुष्य के साथ होता है। प्रेमचंद ने तो कहा था कि लेखक दुर्बल, शोषित एवं दमित व्यक्ति का वकील होता है और उसकी पीड़ा को समाज के सामने रखता है। प्रेमचंद का साहित्य ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है जहाँ वे समाज के सबसे कमजोर आदमी के पक्ष में खड़े हैं। प्रेमचंद-साहित्य में युग की समस्याओं को बड़ी व्यापकता के साथ स्थान मिला है, जिसमें व्यक्ति, परिवार, समाज, देश आदि सभी की समस्याएँ विद्यमान हैं। वे समस्याओं का चित्रण करते हैं और यथासंभव उनके समाधान का रास्ता भी खोलते हैं। जहाँ तक उपलब्धियों का सवाल है, उस समय ब्रिटिश पराधीनता की कोई ऐसी उपलब्धि नहीं थी जिसका गुणगान प्रेमचंद करते, लेकिन युग के जागरण आंदोलन ने देश के राष्ट्रभाव तथा सांस्कृतिक चेतना एवं उत्कर्ष का जो राष्ट्र-व्यापी वातावरण निर्मित किया, प्रेमचंद ने उसका अपने साहित्य में व्यापकता के साथ चित्रण किया। उनके साहित्य में जो भारतीयता है, राष्ट्र-बोध तथा आत्मबोध है और भारतीय आत्मा की रक्षा का तो महासंकल्प है, वह महाकाव्यीय ऊर्जा एवं उत्कर्ष का प्रतीक है और जो एक बड़ी उपलब्धि है।

**रवि शर्मा :** प्रेमचंद की लगभग ३०० कहानियाँ और १४ उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। इतनी विपुल मात्रा में साहित्य रचना करने पर भी उनकी रचनाओं में विषय का दोहराव बहुत कम मिलता है जबकि सामान्यतः किसी भी लेखक में कुछ ही रचनाएँ लिखने पर दोहराव शुरू हो जाता है। वे कौन से स्रोत हैं जो प्रेमचंद को इतने विविध चित्रण-कथानक, चरित्र, भाव एवं विचार बिंदु उपलब्ध करवाते हैं?

**गोयनका :** यह सत्य है कि प्रेमचंद ने विपुल साहित्य लिखा है और इस पर भी उनमें बहुत कम दोहराव की प्रवृत्ति है। इसका मूल कारण यह है कि उनका समाज तीव्र गतिशीलता और परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजर रहा था।

देश में स्वाधीनता-संग्राम कई रूपों में चल रहा था, गांधी जी की राजनीतिक गतिविधियाँ समाज को मथ रही थीं, समाज-सुधार तथा परिवर्तन की घटनाएँ सर्वत्र हो रही थीं, किसान मजदूर बन रहे थे और कारखानों की स्थापना हो रही थी, हिंदू-मुसलमानों की सांप्रदायिक हलचलें और दंगे बढ़ रहे थे, अंग्रेजी सभ्यता एवं जीवन-शैली भारतीयों के जीवन को अपने आकर्षण में बाँध कर उन्हें भारतीय अंग्रेज बना रही थी तथा शहर और गाँव सभी स्थानों पर राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक जागृति आ रही थी, अतः प्रेमचंद के पास विषयों का अभाव न था और असंख्य पात्र, भाव व विचार उनकी दुनिया के आस-पास विचरते रहते थे। वे अध्ययनशील थे, नवीनतम पुस्तकों को पढ़ते थे और समाचार-पत्रों के तो नियमित पाठक थे। इनसे भी उन्हें अपनी रचनाओं के लिए सामग्री मिलती थी। वे युग-चेता साहित्यकार थे, क्योंकि पूरा युग उनकी चेतना में अवस्थित था। ऐसे विराट संवेदनशील कथाकार के लिए ही जीवन की विराटता को वाणी देना संभव था।

**रवि शर्मा :** प्रेमचंद की रचनाओं में मानवीय स्वभाव की सरलता और जटिलता की अद्भुत समझ के दर्शन होते हैं। इसी कारण उनके पात्र अत्यधिक सहज, जीवंत, हमारे आस-पास से जुड़े प्रतीत होते हैं और पाठक का सरलता से उनके साथ तादात्म्य स्थापित हो जाता है। प्रेमचंद की इस विशेषता के लिए आप प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास में से किसे अधिक श्रेय देते हैं?

**गोयनका :** शर्मा जी, मैं आपसे सहमत हूँ कि प्रेमचंद के पाठकों का उनके पात्रों के साथ सहज तादात्म्य हो जाता है। इसे ही काव्यशास्त्र में साधारणीकरण कहा गया है। साधारणीकरण की चर्चा काव्य-रचना के संबंध में ही होती थी, किंतु प्रेमचंद ने अपने गद्य रचनाओं से इसे संभव बनाया। प्रेमचंद ने लिखा भी है कि लेखक में यह शक्ति होती है कि वह अपनी संवेदना को सबकी संवेदना बना देता है। प्रेमचंद में यह शक्ति समाज के बारीक निरीक्षण और मानवीय मनोविज्ञान से आती है तो पात्रों के व्यवहार तथा अर्न्तमन के रहस्यों की वास्तविकता को खोल कर रख देता है। प्रेमचंद ने अपने कथा-साहित्य में मनोविज्ञान के उपयोग की बराबर चर्चा की है। अतः वे अपने पात्रों का सृजन इस रूप में करते हैं कि वे हमारे आस-पास के जीवित मनुष्यों की तरह हों, फिर भी इसमें उनकी प्रतिभा,

व्युत्पत्ति और अभ्यास का भी न्यूनाधिक योगदान है।

**रवि शर्मा :** प्रेमचंद की लोकप्रियता को भुनाने के लिए प्रगतिशील उन्हें अपने खेमे में रखते हैं, दलित-विमर्श वाले उन्हें अपना मसीहा मानते हैं और कभी कुछ तथाकथित धर्मनिरपेक्षतावादी प्रेमचंद को हिंदुत्व का मुखौटा कहकर संबोधित करते हैं। आपके विचार में प्रेमचंद की मूल दृष्टि क्या है? प्रेमचंद का आदर्श क्या है?

**गोयनका :** शर्मा जी, प्रेमचंद को लेकर लेखक साहित्य के राजनीतिक गुटों ने बड़ा खिलवाड़ किया है। इसकी शुरुआत प्रगतिशीलों ने की थी। इन्होंने आठ-दस रचनाओं के आधार पर प्रेमचंद को मार्क्सवादी तथा खूनी क्रांति का समर्थक बना दिया, जबकि वे मानते हैं कि प्रेमचंद को मार्क्सवाद की संगत जानकारी नहीं थी। प्रगतिशीलों की यह धारणा भी गलत है। प्रेमचंद की वोल्शेविक क्रांति और साम्यवाद के संबंध में जानकारी के प्रमाण सन् १९१९ से मिलते हैं और इसके बाद वे निरंतर मार्क्सवाद के दोषों-दुर्बलताओं की चर्चा करते रहे और गांधी-दर्शन के प्रभाव में आते गये। वे सन् १९२८ के एक लेख में साम्यवाद को पूँजीवाद से भी भयानक मानते थे। असल में, प्रेमचंद के विचारों-विवादों के कटघरे में बंद करना संभव नहीं है। उनके साहित्य का मानवीय जीवन इतना व्यापक और विराट है कि वह किसी एक विचार-दर्शन में नहीं समा सकता। जीवन जैसे एक लकीर पर नहीं चलता, विभिन्न परिस्थितियाँ विभिन्न विचार जैसे जीवन में आते हैं, वैसे ही उनके पात्रों के जीवन में आते हैं और इसलिए उन्हें विराट भारतीय जीवन का अथवा भारतीयता का लेखक कहना और मानना ज्यादा सार्थक एवं उपयुक्त है। वे दलित समाज के उद्धारक और मसीहा कथाकार थे, परंतु प्रेमचंद यहीं तक सीमित नहीं थे। वे मुख्यतः हिंदू समाज के कथाकार हैं, किंतु वे हिंदू कथाकार न होकर भारतीय कथाकार हैं। असल में, हम जब टुकड़ों में प्रेमचंद को बाँटेंगे तो उनके कथाकार का अंग-भंग होगा, किंतु जब हम उन्हें समग्रता में देखेंगे तो उनकी भातीयता वाली विराट मूर्ति ही सामने आयेगी।

**रवि शर्मा :** प्रेमचंद ने 'हंस' नाम से पत्रिका निकाली थी। उसका हिंदी साहित्य में क्या स्थान था? उसी 'हंस' को उसके लोकप्रिय नाम के कारण राजेन्द्र यादव ने हथिया लिया। आप प्रेमचंद और राजेन्द्र यादव के संपादन

में निकली 'हंस' पत्रिका में क्या साम्य-वैषम्य पाते हैं? क्या इस प्रकार के लोकप्रिय नामों को हथियाने पर प्रतिबंध नहीं होना चाहिए?

**गोयनका :** यह ठीक है कि प्रेमचंद ने 'हंस' मासिक पत्रिका निकाली थी और इसका पहला अंक मार्च, १९३० में निकला था। प्रेमचंद ने अपने पहले संपादकीय में लिखा था कि स्वाधीनता के शांतिमय महासमर में 'हंस-गिलहरी के समान अपना योगदान करने आया है तथा यह भी लिखा कि हमें पहले हिंदुस्तानी के रूप में सोचना चाहिए। प्रेमचंद ने इस प्रकार 'हंस' को स्वराज्य आंदोलन तथा भारतीयता की पत्रिका बनायी और महात्मा गांधी को सौंपने पर इसे अखिल भारतीयता की पत्रिका का स्वरूप दिया गया, पर राजेन्द्र यादव ने इसे 'जन चेतना का प्रगतिशील मासिक' बना दिया और इसे प्रेमचंद की नहीं यादवी पत्रिका का रूप दे दिया। राजेन्द्र यादव ने 'जनचेतना' और 'प्रगतिशील' शब्दों को पत्रिका पर आरोपित किया तथा बताया कि ये दो शब्द एकार्थी नहीं हैं। ये शब्द वामपंथियों के प्रिय शब्द हैं और इनसे बाहर की जो दुनिया है वे उसे नष्ट करना चाहते हैं। यह उनका राजनीतिक एजेंडा है जो उन्होंने रूस-चीन से आयात किया है, परंतु प्रेमचंद को इन शब्दों की आवश्यकता न थी, क्योंकि उनका लक्ष्य राजनीतिक नहीं साहित्यिक था। उन्होंने 'प्रगतिशील लेखक संघ' (१० अप्रैल १९३६) के व्याख्यान में कहा था कि 'प्रगतिशील' शब्द निरर्थक है, क्योंकि लेखक स्वभाव से ही प्रगतिशील होता है। मार्क्सवादी आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'प्रेमचंद' (१९४१) में इसका समर्थन किया था, लेकिन यादव हिंदी समाज को प्रगतिशील और अप्रगतिशील खेमों में बाँट देते हैं और लेखकीय समाज की एकता को तोड़ देते हैं। प्रेमचंद लोकधर्मी कथाकार थे, लोक-चेतना और लोक-मंगल के वे पथिक थे। उनका लोक विराट है, उसमें कई दशकों का भारतीय समाज समाया है, लेकिन यादव-जी लोक-चेतना के स्थान पर जन-चेतना शब्द का इस्तेमाल करते हैं, क्योंकि उन्हें 'लोक' नहीं 'जन' प्रिय है जो जन-क्रांति की ओर ले जाता है। इसके साथ, यादव जी ने 'हंस' को प्रेमचंद के लक्ष्यों को नष्ट करके उसमें अपना वामपंथी एजेंडा लागू करके रखा है, वह अश्लीलता और मुक्त-भोग की पत्रिका बन गयी है, स्त्री-विमर्श एवं दलित-विमर्श के नाम पर विभेदकारी

बहसें चला रही है, हिंदू समाज को समय-समय पर धिक्कारती रही है और सच यह है कि वह प्रेमचंद के नाम का दुरुपयोग कर रहे हैं। हिंदी के वामपंथियों की यह विशेषता है कि वे दूसरे के कंधे पर बैठकर तथा उसे सीढ़ी बनाकर अपना उल्लू सीधा करते रहे हैं। यादव जी ने भी प्रेमचंद के 'हंस' को सीढ़ी बनाया, उनके नाम का उपयोग किया और साहित्यिक पत्रिका के सबसे बड़े संपादक बन गये। हम ऐसे दुरुपयोग की भर्त्सना ही कर सकते हैं, उसे रोकना कठिन है। निश्चय ही वे प्रेमचंद के 'हंस' के संपादक के रूप में नहीं, एक दूसरे 'हंस' के संपादक के रूप में ही जाने जायेंगे, जिन्होंने प्रेमचंदीय गरिमा और मर्यादा को नष्ट करके यादवी 'हंस' का संपादन किया।

रवि शर्मा : प्रत्येक महान साहित्यकार त्रिकालदर्शी होता है। आज स्त्री-विमर्श और दलित-विमर्श का फैशन है। इन विमर्शों पर प्रेमचंद की दृष्टि पड़ी थी या नहीं? उन्होंने इन विमर्शों को किस रूप में देखा-दिखाया था?

गोयनका : प्रेमचंद भी त्रिकालदर्शी साहित्यकार थे। अतीत का जो श्रेष्ठ था, मानवीय गरिमा और मूल्यों के अनुकूल था तथा जिससे भारतीय आत्मा का बोध होता था, प्रेमचंद ने उसे ग्रहण किया; वर्तमान को आधुनिक विवेक से देखा-परखा और भारतीय आत्मा एवं भारतीयता के जो कुछ भी प्रतिकूल था तथा मानवीयता को छिन्न-भिन्न करता था, उन्होंने उसकी तीव्र आलोचना की तथा देश के भविष्य का एक रूप भी प्रस्तुत किया जिसमें धर्म, न्याय, समानता, बंधुत्व, अहिंसा, सत्य आदि के आधार पर समाज के निर्माण का स्वप्न था। प्रेमचंद-साहित्य में भी आपको स्त्री एवं दलित-विमर्श मिलेगा, बल्कि वे पहले कथाकार हैं जिन्होंने इन विमर्शों को आरंभ किया, पर वहाँ फैशन नहीं समाज के कायाकल्प का संकल्प है। उनके कथा-साहित्य में स्त्री का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। उनकी लगभग ३०० कहानियों में स्त्री-विमर्श पर सर्वाधिक कहानियाँ हैं। इनमें भारतीय स्त्री के विभिन्न रूप हैं, विभिन्न प्रकार हैं, शहरी और ग्रामीण स्त्रियाँ हैं, परंपरागत एवं आधुनिक स्त्रियाँ हैं तथा कुछ ऐसी भी हैं जो पुरुष-सत्ता को चुनौती देती हैं, पति को परमेश्वर नहीं सहचर-साथी मानती हैं और समान अधिकार चाहती हैं, लेकिन वे पूर्णतः आधुनिक नहीं बन पातीं। 'मिस पद्मा' कहानी में स्त्री लिव-इन-रिलेशनशिप में पुरुष के साथ रहती हैं और माँ बनकर दंड

भोगती है। प्रेमचंद अपने स्त्री पात्रों को मर्यादा और संयम में बाँधे रखते हैं तथा उसकी यौन पवित्रता की रक्षा करना चाहते हैं। प्रेमचंद का स्त्री-विमर्श स्त्री की नयी जागृति का प्रमाण है और वे पश्चिम के प्रभाव से उसे बचाये रखना चाहते हैं। दलित विमर्श के तो वे जनक कहे जा सकते हैं। उन्होंने दलित हुए बिना दलित जीवन पर जो कहानियाँ लिखी हैं, वे इतिहास में सदैव याद रखी जायेंगी। उन्हें स्वामी विवेकानंद तथा महात्मा गांधी के दलित-दर्शन से प्रेरणा और शक्ति मिली और उन्होंने अपने साहित्य से दलितोत्थान का मार्ग प्रशस्त किया।

रवि शर्मा : गोयनकाजी, प्रेमचंद के मास्टर पीस उपन्यास, 'गोदान' को भारतीय ग्रामीण जीवन का महाकाव्य कहा जाता है। 'गोदान' को आप प्रेमचंद के अन्य उपन्यासों तथा हिंदी के अन्य आंचलिक/श्रेष्ठ उपन्यासों की तुलना में कहाँ पाते हैं?

गोयनका जी : गोदान के संदर्भ में यह अवधारणा काफी प्रचलित है कि वह भारतीय ग्रामीण जीवन का महाकाव्य है। गोदान में गाँव और किसान अपनी सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि परिस्थितियों के साथ जीवित है। 'गोदान' में होरी अपने अस्तित्व की रक्षा में मर-मिटता है और मजदूर के रूप में मर जाता है। उसकी मृत्यु कृषि-संस्कृति के ध्वंस का आख्यान है और यह त्रासदी उसे महान उपन्यास बनाती है, परंतु 'रंगभूमि' में अपंग सूरदास ब्रिटिश साम्राज्य, शहरी अंग्रेजों तथा अपने ग्रामीण भाइयों से सत्य, धर्म और न्याय के लिए लोहा लेता है और शहीद होकर अमर हो जाता है। प्रेमचंद के ये दोनों नायक अमर हैं एक जीवन-रक्षा के संघर्ष में मरता है, दूसरा देश-समाज के लिए मरता है; एक में कृषि संस्कृति का नाश है और दूसरे में पश्चिम के औद्योगिकीकरण से भारतीय जीवन के परंपरागत स्वरूप का नाश है। होरी की मौत त्रासद है और सूरदास की मौत हिरोइक है। अतः दोनों का अपना महत्व और वैशिष्ट्य है। दोनों ही महाकाव्यात्मक उपन्यास हैं, इसलिए दोनों ही श्रेष्ठ उपन्यास हैं। फिर भी 'रंगभूमि' का सूरदास महानतम नायक है जो विशालतम समाज से संघर्ष करता है और मरकर जीवन जीने तथा अस्मिता की रक्षा करने का अमर संदेश दे जाता है। प्रेमचंद के बाद अज्ञेय, यशपाल, अशक, नरेश मेहता, हजारी प्रसाद द्विवेदी, रेणु और अब चित्रा मुद्गल का

‘आँवा’ उपन्यास आया है, लेकिन प्रेमचंद के ‘गोदान’ और ‘रंगभूमि’ जैसे उपन्यासों की तुलना में वे न तो लोकप्रिय हुए और न उन्होंने समाज में कोई उद्वेलन किया। इन अनेक लेखकों की कृतियों की श्रेष्ठता में कोई संदेह नहीं है, किंतु प्रेमचंद की जगह लेने वाला कोई कथाकार अब तक पैदा नहीं हुआ है।

**रवि शर्मा :** प्रेमचंद ने कथा-साहित्य के अतिरिक्त भी बहुत कुछ लिखा जिसका अनुसंधान, प्रकाशन आपने करवाया। प्रेमचंद के साहित्य के किन-किन पक्षों पर अभी शोध एवं मूल्यांकन की आवश्यकता बनी हुई है ?

**गोयनका :** शर्मा जी, मेरी आरंभ से यही चेष्टा थी कि प्रेमचंद का जो भी साहित्य-कथा तथा कथेतर, अनुपलब्ध एवं लुप्त है, उसे खोजकर प्रकाशित कराया जाये। इस प्रयास का परिणाम यह हुआ कि सन् १९८८ में भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली ने मेरी खोजी सामग्री को ‘प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य’ (दो खंड) में प्रकाशित किया। अमृतराय के सन् १९६२ में प्रेमचंद की गुमशुदा साहित्य की नौ पुस्तकें प्रकाशित करवायी हैं। प्रेमचंद के समय प्रिंट मीडिया आदि शब्दों का प्रयोग नहीं होता था। उस समय पत्रकारिता और फिल्मी दुनिया के रूप में चर्चा होती थी और सन् १९३६ में प्रेमचंद दिल्ली रेडियो स्टेशन पर दो कहानियों का पाठ भी करने के लिए आये थे। प्रिंट मीडिया के संबंध में प्रेमचंद आरंभ से ही सचेत और सावधान थे। वे अखबारों और पत्रिकाओं के महत्त्व को जानते थे, इस कारण वे अपनी रचनाओं को उन्हें प्रकाशनार्थ भेजते रहे। मेरी दृष्टि में प्रेमचंद और गांधी ऐसे दो व्यक्ति हैं जिन्होंने प्रिंट मीडिया के मर्म को पहचाना और वे उसके माध्यम से बहुत बड़े मानवीय समाज तक पहुँचे। इन दोनों महापुरुषों ने अपनी पत्र-पत्रिकाएँ निकालीं और प्रिंट मीडिया का एक भारतीय दर्शन दिया। प्रेमचंद फिल्म कंपनी में काम करने के लिए मुंबई गये, किंतु वहाँ की अश्लीलता और व्यावसायिकता

के कारण बड़े निराश हुए और वापिस लौट आये। आज इलेक्ट्रॉनिक मीडिया तो और पतित हो गया है और नग्नता एवं व्यावसायिकता में बहुत आगे बढ़ चुका है। जहाँ तक मीडिया में साहित्य का सवाल है, वह तो निरंतर खत्म हो रहा है। हिंदी अखबारों में साहित्य गायब हो गया है, और यही स्थिति फिल्मों एवं टेलीविजन में आने वाले धारावाहिकों की है। अब सर्वत्र नग्नता परोसी जा रही है और इस कारण भी साहित्य निरर्थक हो गया है। जो वस्तु मनुष्य को ऊँचा उठाता है, मनुष्य की गरिमा की रक्षा करता है, मनुष्य को बाँटता नहीं जोड़ता है, उससे मीडिया ने अपना नाता तोड़ लिया है। अभी रेडियो बचा हुआ है तथा उसमें स्तरीय कार्यक्रम आते हैं। इसका कारण यह है कि वहाँ अब भी नियमों-कायदों से काम होता है, क्योंकि वह सरकारी नियंत्रण में है।

**रवि शर्मा :** गोयनका जी, अंतिम प्रश्न है कि प्रेमचंद पर शोध करने वाले भावी शोधार्थियों को आप क्या संदेश देना चाहेंगे ?

**गोयनका :** मैं अपने अनुभवों को ही भावी पीढ़ी के सामने रख सकता हूँ। शोध में प्रवृत्त हो तो पूरे मन, पूरी निष्ठा से करो। शोध को साधना मानो, नये तथ्य ढूँढ़ो और उनकी अपनी व्याख्या करो, पुराने सिद्धांतों को चुनौती दो, उन पर प्रश्न उठाओ और उनके सत्यासत्य की परीक्षा करो। अनुसंधान से आलोचना को जोड़कर उसे समृद्ध करो, पिष्टपेषण से बचो। इसके बड़े खतरे हैं, खतरों से डरो नहीं, उनसे लड़ना सीखो। अपनी मान्यताओं पर दृढ़ रहो किंतु नये तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में उनमें संशोधन के लिए तत्पर रहो। शोध को गरिमा दो, वह आपको गरिमा देगी, पर धन-पद-यश की कामना से नहीं नये ज्ञान की खोज के भाव से अपना जीवन अर्पित कर दो। इस सिद्धि का आनंद आपको अवश्य मिलेगा। यही आपके जीवन की सार्थकता होनी चाहिए।

संपर्क :

**कमल किशोर गोयनका**  
ए/98, अशोक विहार, फेज प्रथम,  
दिल्ली- 110052, मो. 9811052469

**डॉ. रवि शर्मा**  
अध्यक्ष, हिंदी विभाग, श्रीराम कॉलेज ऑफ कॉमर्स,  
मैरिस नगर, दिल्ली- 110007

## नवगीत कविता की केन्द्रीय विधा के रूप में स्थापित हैं (वरिष्ठ नवगीतकार अनूप अशेष से राजा अवस्थी की बातचीत)

**राजा अवस्थी :** आप लेखन, फिर गीत और फिर नवगीत रचनाकर्म की ओर कैसे प्रवृत्त हुए और फिर नवगीत ही क्यों ?

**अनूप अशेष :** एक अबोध अवस्था में लेखन से संबंध जुड़ा। मन के भीतर कहीं सृजन की संवेदना का कोई कोना जरूर रहा होगा जो बाहर आने की प्रतीक्षा में रहा होगा किसी माध्यम से, किसी घटित से। मेरे अभिन्न बालसखा प्रभाकर सिंह (जो बाद में रामपुर बघेलान से विधायक बनें) को हमारी व्यंकट हायर सेकेन्दरी स्कूल में कक्षा सात में स्वरचित कविता पर प्रथम पुरस्कार में निराला जी का कविता संग्रह मिला था। पूरी स्कूल में कक्षा सात के छात्रों को कविता पुरस्कार मिलना बहुत बड़ी बात थी। प्रभाकर और मैं बचपन से बड़े होने तक घर के सदस्य की तरह साथ ही रहे। प्रभाकर के पुरस्कृत होने पर लगता रहा कि क्या मैं भी लिख सकता हूँ? प्रभाकर कैसे लिख लेते हैं? ऐसी कई बातें आती रहीं मन में। सात की परीक्षा के बाद गर्मियों की छुट्टियों में मैंने भी गीतनुमा एक कविता लिखी और उसके नशे में कई दिनों तक रहा। “मेरे आँसुओं में न खुद को बहाना/ कली के चमन में भ्रमर तुम न जाना।” यही पहली रचना थी मेरी। तो लेखन कर्म में यहीं से प्रवृत्त हुआ। जहाँ तक गीत और नवगीत का लेखन का प्रश्न है तो स्पष्ट कर दूँ कि मेरा झुकाव प्रारंभ से ही नवता की ओर रहा है। मैंने गीत कभी नहीं लिखा। नवगीत ही लिखा। शुरुआत से ही। यह जरूर था कि उस समय नहीं जानता था कि मैं नवगीत लिख रहा हूँ। यह तो बाद में पता चला लेकिन उस समय तो छप रहा था, मंच पर था, उससे कुछ हटकर ही सोमठाकुर जैसे कुछ कवियों के करीब ही मैं लिख रहा था। अब यह कह सकता हूँ कि मैं नवगीत ही लिख रहा था। बचपन से ही साहित्य की रुचि जागृत हो गयी थी। देशी-विदेशी लेखकों को मूल और अनुवाद के रूप में खूब पढ़ा। कविता को गद्य को करीब से देखता रहा आज तक। निराला के बाद वाले गीत, जिन्हें नवगीत का उत्स कहा गया, ठाकुर प्रसाद सिंह के आदिम पक्ष के नवगीत उस समय के गीत के छाया लोंक को तोड़ रहे थे। छंद का एक नया विकसित यथार्थ लोक बन रहा था। माहेश्वर तिवारी तक नवगीत का समृद्ध परिवार- शलभ श्रीराम सिंह, देवेन्द्र कुमार, नईम, ओम प्रभाकर, उमाकांत मालवीय से होकर पहुँच चुका था। कविता की नवता, जो प्रारंभ से ही मेरे भीतर आकार ले रही थी, वह गीत के शिल्प में बँध नहीं पा रही थी। उसका चेहरा पुराने शीशे में समा नहीं पा रहा था। गीत गोदाम की चीज हो रहा था उस समय आधुनिक समकालीन समय में। कह सकता हूँ कि नवगीत मेरी उम्र के साथ खुलता गया। बच्चन के बाद नीरज की पीढ़ी से आज मंच-पीढ़ी तक कुछ नाम छोड़कर गीत की जो अभिव्यक्ति प्रकट हुई उसमें निजी शोकालाप, दैहिक स्खलन का रुदन ही प्रमुख हरा। कविता की समाजोन्मुखता में गीत कहीं ठहर नहीं रहा था, उसकी एक निजी सपाट रेखा खिंच चुकी थी। इसीलिए उसका साहित्य में नगण्य स्थान रह गया था। ऐसे में अगर जनसामान्य से जुड़ा, नए कथ्य, नए शिल्प और अपने बिंबों के साथ नवगीत न आया होता, तो छांदसिक कविता की अकाल मृत्यु हो गई होती

और गद्य कविता के छद्म में कविता ही मर गई होती। इसलिए नवगीत ही मेरी विधा रही। जीवन, समाज, संस्कृति के हर पक्ष का प्रतिबिम्ब नवगीत में कविता में प्रतिनिधित्व कर रहा है। गीतकार तो वृद्धावस्था में भी नाती पोतों के सामने कल्पित प्रेमिकाओं के लिए रो रहे हैं। मंचों पर उनके प्रतिनिधि छाती पीट रहे हैं। जो लोग नवगीत के साथ गीत को जोड़ते हैं, भीतर से वे उस परंपरा के अवशेष हैं।

**राजा अवस्थी :** आपके गीत आमजन और लोकजीवन से अटूट सम्पृक्तता रखते हैं। ऐसा इतनी सहजता से कैसे होता गया ?

**अनूप अशेष :** कोई भी रचनाकार समय की स्थितियों के साथ अपने रचनाकर्म के प्रति मनुष्यता को लेकर ईमानदार है, तो जिस सदी में वह जी रहा है, लिख रहा है तो उसकी सर्वसमाज के प्रति जिम्मेदारी भी बनती है, वह यह कि आमजन और लोकजीवन से अपने चिंतन और सोच में उससे सम्पृक्तता भी रखे। उसका सर्वहारा और लोक से अटूट आंतरिक रिश्ता कायम हो।

मेरे लेखन में, लेखन के मूल में सामाजिक जिम्मेदारियाँ भी रही हैं। मेरी सोच बचपन से ही समाजवादी रही है, मेरा परिवेश भी लोकपरिवेश रहा है, जहाँ सभी सांस्कृतिक परम्पराओं के साथ अभावों का उल्लास, दैनिक कष्टों की अंतहीन जन-बस्तियाँ भी रही हैं। ये बस्तियाँ जीने की विवशता के मनो की रही हैं, जिनका अनुभव मुझे मेरे गाँव के जैसे अन्य गाँवों से मिला। आमजनों के बीच से पलपल की अनुभूतियों से मिला। मेरे लिए लोक एक अंतहीन महाकाव्य है, जिसे पूरा लिख पाना संभव नहीं हो सकता। आमजन और लोकजीवन मेरे जीवन के हिस्से रहे हैं और वही अभिव्यक्त हुए मेरे नवगीतों में। इस देश में हमारा लोक अस्सी प्रतिशत से अधिक का है। मेरे नवगीतों में मैं नाममात्र का ही हूँ अधिकांश लोक ही है, लोक का ही है। लोक की संवेदना ही मेरी कविता है।

**राजा अवस्थी :** आपके नवगीतों में बघेलखण्डी (रीवा, सतना, सीधी, शहडोल, उमरिया) जीवन के चित्र भरे पड़े हैं। किसी स्थानीय भाषा का इतना अधिक प्रयोग संप्रेषण में बाधक भी हो सकता था, लेकिन वह कौन सी कला थी जिसके कारण ऐसा नहीं हुआ ?

**अनूप अशेष :** कविता अपनी अभिव्यक्ति की भाषा-

बोली स्वयं चुन लेती है। मेरा मानना है कि अभिव्यक्ति का माध्यम सोचकर संभव नहीं होता। अगर संभव भी किया गया तो वह कविता की भाषा में नहीं होगा। बोझिल रहेगा। नवगीत अपनी भाषा लेकर ही शब्दों में आता है। मेरा परिक्षेत्र, परिवेश बघेली का है। बोली बघेली है। मेरे नवगीतों का स्वभाव भी बघेली है। इसी स्वभाव का स्वरूप मेरे नवगीतों में हिंदी कविता की शाब्दिक-समृद्धि का प्रतीक बना। जहाँ बघेली शब्दों से मेरे नवगीत समृद्ध हुए हैं, वहीं हिंदी के समकालीन कविता स्वरूप ने मेरे बघेली बोली के नवगीतों को व्यापक परिवेश दिया है। भारत की किसी बोली में नवगीत नहीं लिखे गए। मैंने बघेली में यह पहल की। किसी भी बोली का पहला नवगीत-कवि और बघेली बोली में नवगीत का जनक भी मैं ही माना गया। हिंदी में बघेली की मिठास संवेदना के स्तर पर मैंने प्राप्त की और हिंदी बघेली नवगीत में जीवन-अनुभूतियों से एकरूप हुई मेरे नवगीतों में। साधना के साध्य में यह कला संभव हुई।

**राजा अवस्थी :** नवगीत में लोकतत्त्व के सगुम्फन की आज क्या स्थिति है और नवगीत के लिए यह कितना आवश्यक तत्त्व है ?

**अनूप अशेष :** यह कहना गलत होगा कि नवगीत में लोकतत्त्व ही प्रमुख है। कुछ नवगीत कवियों और आलोचकों के सुविधानुसार अपना यह मत निर्मित किया है। यह भी सच है कि नवगीत में लोकतत्त्व के सगुम्फन से अद्भुत नवगीत लिखे गए। मैंने भी लिखा। किंतु लोकतत्त्व के परिवेश में संपूर्ण को बाँधा गया है, केवल अंचल विशेष को नहीं। इस तत्त्व को व्यापक दृष्टि से देखना होगा। मेरे नवगीतों में लोकतत्त्व, लोकपरिवेश इस व्यापक दृष्टि के कारक बने हैं, देह और आत्मा की तरह। लेकिन यह भी सच है कि लोकतत्त्वों के सगुम्फन से नवगीत हो या नयी कविता दोनों में पठनीयता बढ़ी है। आधुनिक समकालीन नवगीत, नयी कविता (छंद मुक्त) में समकालीनता, आधुनिक बोध, शासित शोषित, जातीयता, स्त्री, दलित इत्यादि विषय प्रमुखता के साथ अभिव्यक्ति के विषय बन गए हैं, ये विषय संदर्भ व्यापक हैं। नागर अथवा ग्राम्यबोध की फाँक यहाँ नहीं है। नवगीत में लोकतत्त्व का सगुम्फन विषयगत जरूरी है किंतु प्रत्येक स्थितियों में नहीं। आधुनिक भावबोध



का नकार संभव नहीं। नवगीत के चरित के अनुसार दोनों ही जरूरी हैं, अकेले लोकतत्त्व का सगुम्फन जरूरी नहीं।

**राजा अवस्थी :** यदि आप अनुमति दें तो आप से प्रश्नों पर बात करना चाहता हूँ जो देखने में तो बहुत हल्के लगते हैं, किंतु आमजन और नए लिखने वालों के बीच ये ही भ्रम भी बहुत पैदा करते हैं। गीत और नवगीत के संदर्भ में एक-दूसरे के सापेक्ष रख कर बात करें, तो इनके शिल्प, संरचना, भाव, विषय और चुनौतियों के संदर्भ में क्या अंतर है ?

**अनूप अशेष :** आज के साहित्य संदर्भ में आलोचक, पाठक की राय अगर सामने रखें तो गीत पुराने जमाने की चीज हो चुका है। अब पुराने गीत-कवियों की वंश परंपरा भी टूट चुकी है। जो हैं अपनी स्मृतियों को जी रहे हैं। नए गीतकारों (साहित्यिक संदर्भ में) का संपर्क और संबंध साहित्य से टूट चुका है। मंच के नाटक के पात्र बन गए हैं। आज लिखे जा रहे साहित्य से अपरिचित हैं। इन्हें पत्रिकाओं के नाम तक याद नहीं। पढ़ते ही नहीं। ये केवल नीरज-भजन गा रहे हैं, जबकि नीरज के किताबों के नाम भी ये नहीं जानते। इस स्थिति में गीत के सामने चुनौतियों का प्रश्न ही नहीं उठता। चुनौतियाँ तो उस विधा के सामने होती हैं, जो साहित्य के केन्द्र में हों। गीत साहित्य के केन्द्र में अब नहीं रहा। इसलिए गीत और नवगीत का सापेक्ष केन्द्र के बाहर है।

वर्तमान में कुछ लोग निजी पत्रिकाएँ निकालकर अपने जीवित रहने की घोषणा कर रहे हैं। वे गीत के नाम पर कोई मंतव्य छाप लें और लोगों को भेजते रहें। छपासे लोगों के आदरणीय संपादक बने रहें, परंतु ये अपनी पीठ ठोक कर खुद को ही छल रहे हैं। इससे गीत का महत्व नहीं सिद्ध हो जाता। इनके गीत अच्छी पत्रिकाएँ छापती भी नहीं। यह बात पूर्व की नहीं वर्तमान की कह रहा हूँ।

शिल्प, संरचना, भाव, विषय की दृष्टि से नवगीत आज जहां तक पहुँच गया है वहाँ से गीत के रास्ते दिखाई ही नहीं देंगे। कुछ प्राचीन स्तंभ ही गीत के दिखाई देंगे, जैसे- बच्चन, नेपाली, रंग रामावतार त्यागी, नीरज, रमानाथ अवस्थी इत्यादि। वीरेन्द्र मिश्र, शंभुनाथ सिंह, शिवबहादुर सिंह भदौरिया-गीत से नवगीत मोड़ के कवि हैं। नवगीत अपने भाव, शिल्प और संरचना में स्वयं ही निर्मित है।

गीत की तुलना इससे संभव ही नहीं है। नवगीत ने अपने आयाम, अपना शास्त्र, अपना छंद स्वयं विकसित किया है। नवगीत अपनी भारतीय जातीय परंपरा के साथ आज के समकालीन समय को व्यक्त कर रहा है। आज के भूमण्डलीकरण, उत्तर आधुनिकता के ज्वलंत आयामों का सृजनात्मक रूप में नवगीत सामना कर रहा है। यहाँ गीत कहाँ है। गीत अगर होता तो पढ़ने में आता, पत्रिकाओं में छपता। जबकि नवगीत सभी पत्रिकाओं में निरंतर छप रहा है। स्वयं मेरे नवगीत धर्मयुग, साप्ताहिक हिंदुस्तान, कादम्बिनी (पुरानी) नया प्रतीक, दिनमान में छपते रहे हैं। आज की पत्रिकाओं में नया ज्ञानोदय, वागर्थ, समकालीन भारतीय साहित्य से लेकर दस्तावेज, वर्तमान साहित्य, प्रगतिशील वसुधा, अक्षर पर्व, अकार जैसी पत्रिकाओं में छप रहे हैं। अन्य नवगीत कवियों के नवगीत छप रहे हैं। फिर गीत अब कहाँ हैं ? इसलिए उक्त तुलना उपयुक्त नहीं है भाव, शिल्प, संरचना में।

**राजा अवस्थी :** नवगीत का शिल्प की विशिष्टता से क्या और कितना संबंध है ?

**अनूप अशेष :** कविता की हर विधा का शिल्प अलग है। नवगीत का अपना अलग शिल्प है। कम पंक्तियों में भी जो पूरे कथ्य की सघनता को अप्रतिम अछूते बिम्बों के माध्यम से प्रतीकों के जरिए व्यक्त होता है। यह वैचाकिक कविता है। कम पंक्तियों में भी बड़ी बात कहने की इसमें पूर्ण समक्षमता है। इसमें छंद, लय के साथ कथ्य के अनुरूप चार पंक्तियों के बंद का बंधन नहीं है। नवगीत का शिल्प कोई बंधन स्वीकार नहीं करता। शिल्प की विशिष्टता ही नवगीत का स्वरूप है।

**राजा अवस्थी :** क्या नवगीत, गीत की एक शैली, शिल्प या टेक्नीक भर है ?

**अनूप अशेष :** गीत की शैली, शिल्प और टेक्नीक से नवगीत का कोई संबंध नहीं है। नवगीत क्या है। इसका उत्तर ऊपर आ चुका है 'नवगीत वर्तमान में हिंदी कविता की मुख्य विधा है।

**राजा अवस्थी :** नवगीत का 'नव' क्या मात्र या नये का बोधक है या इसका संबंध किन्हीं दूसरी बातों से है ?

**अनूप अशेष :** गीत के चुक जाने पर इसकी लाश को कंधे पर नहीं ढोया जा सकता था। नवगीत छांदसिक कविता

है, इसकी गेयता के कारण ही तथा गीत से अलग होने के कारण तथा इसकी नवता के कारण इसमें 'नव' जोड़ने की जरूरत महसूस की गई थी।

**राजा अवस्थी :** नवगीत दशक १, २, ३ और नवगीत अर्धशती से लेकर अब तक सात गीतकारों से लेकर दो सौ और इससे अधिक गीतकारों वाले समवेत संकलन आए हैं। नवगीत की विकास यात्रा की दृष्टि से नवगीत की महत्ता को प्रतिष्ठित करने में आपको इनकी कितनी और क्या भूमिका लगती है ?

**अनूप अशेष :** जिस तरह बदली पृष्ठभूमि के नये गीतों का संकलन 'पाँच जोड़ बाँसुरी' आया था, जिसमें नवगीत की स्पष्ट गूँज थी, उसी दिशा में नवगीत के पचास वर्ष की उपलब्धि में नवगीत दशक १, २, ३ तथा 'नवगीत अर्धशती' संकलन छपे। इन ऐतिहासिक संकलनों के संपादक हिंदी के वरिष्ठ साहित्यकार, नवगीत को हिंदी साहित्य में व्यवस्थित रूप से स्थापित करने वाले पुरोधा नवगीत कवि स्व. डॉ. शंभुनाथ सिंह थे। डॉ. शंभुनाथ सिंह बच्चन से भी बड़े कवि थे, यह बात डॉ. विद्यानिवास मिश्र मानते थे। हिंदी के बड़े आलोचक स्व. डॉ. नंददुलारे वाजपेयी के सर्वप्रिय गीतकवि डॉ. शंभुनाथ सिंह थे। सागर विश्वविद्यालय में इनके नये गीत पाठ्यक्रम में वाजपेयी जी ने रखा था। तो इतने बड़े कवि व्यक्तित्व के संपादन में छपे संकलन की महत्ता को विशिष्ट और ऐतिहासिक होनी ही थी। इन्हीं संकलनों ने नवगीत को व्यवस्थित पहचान भी दी। धर्मयुग, साप्ताहिक, हिंदुस्तान जैसी पत्रिकाओं ने इसी के बाद नवगीत, नवगीत पर, नवगीत कवियों की परिचर्चा और समीक्षा प्रकाशित की। आज के नवगीत के लिए इन नवगीत दशकों का नवगीत को प्रतिष्ठित करने में बहुत बड़ा योगदान है। इन नवगीत दशकों के बाद जो संकलन छपे वे व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा की पूर्ति के संकलन ही रहे। उनका नवगीत के लिए कोई योगदान मैं स्वीकार नहीं करता और न ही हिंदी साहित्य में वे स्वीकृत हुए। मैंने कई में भगीदारी से इंकार किया था।

**राजा अवस्थी :** बीसवीं सदी के पाँचवें दशक से लेकर बाजार को समर्पित इस सदी के इस दशक तक पिछली पीढ़ी के नवगीतकारों और वर्तमान पीढ़ी के नवगीतकारों के शिल्प, कथ्य, व प्रयोगधर्मिता में आपको क्या बदलाव

दिखलाई पड़ता है ?

**अनूप अशेष :** बीती सदी के पाँचवें दशक में नवगीत अपने स्वरूप, अपनी विशिष्ट कथन में नहीं आया था। बदलाव की स्थिति जरूर आ गई थी। उसमें नयापन फूट रहा था। लोक अभिव्यक्ति माध्यम बनी रही थी। लोकलय की नई सृष्टि गीत-कविता में बनने लगी थी, जो साठ-सत्तर के दशक में अपना परिचय पूरे आकार के साथ प्रस्तुत कर सकी। पचास के समय के सृजन के साक्षी हस्ताक्षरों में— धर्मवीर भारती, अज्ञेय, नरेश मेहता, गिरिजा कुमार माथुर, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, ठाकुर प्रसाद सिंह, शंभुनाथ सिंह, वीरेन्द्र मिश्र, शिवबहादुर सिंह भदौरिया, रवीन्द्र भ्रमर, विद्यानंदन राजीव इत्यादि प्रमुख कवि थे। यह आरंभिक काल था। गीत से हटकर कथ्य और शिल्प के परिवर्तन का काल था। पुराने पारंपरिक और नए शिल्प का संधि-काल था। सन् उन्नीस सौ साठ के समय से और आगे भी नवगीत अपना पूर्ण परिचय देने में सक्षम होकर सामने आया। छठे दशक में या इसके अंत में जो नवगीत लिखे गए, उनके कवियों की शैली और बिंबों का अलग-अलग स्वरूप था। इनमें प्रमुख कवि थे— केदारनाथ सिंह, शलभ श्रीराम सिंह, बालस्वरूप राही, देवेन्द्र कुमार, नईम, माहेश्वर तिवारी, रमेश रंजतक, ओम प्रभाकर, भगवान स्वरूप सरस, उमाकांत मालवीय, प्रेमशंकर रघुवंशी, सोम ठाकुर इत्यादि। इस दूसरी किंतु प्रमुख पीढ़ी ने पूर्व पीढ़ी से हटकर शिल्प और कथ्य में नए प्रयोग किए। कविता का सामाजिक दायित्व भी होता है, यह इस पीढ़ी ने अनुभव किया। इसी के चलते इस पीढ़ी में सामाजिकता और साम्यवादिता की अवधारणा भी अपने सृजन में निश्चित की। वैचारिक आग्रहों को सृजनात्मक आकार दिया। और तय था कि इनके इन आग्रहों पर कथ्य और शिल्प का बदलाव का होना। यहीं पर प्रयोगधर्मिता की भी अपनी नई राह बनी। समय के साथ प्रयोगधर्मिता बदलती रही है। सामाजिक परिस्थितियों की आँच तीसरी पीढ़ी ने अधिक अनुभव की। वैश्विक परिस्थितियों ने भी स्थानिक रूप धारण किया। बाजार की आहट सातवें दशक में भी नवगीत ने सुनी। पहली और दूसरी पीढ़ी के बगल में रहकर भी इसने अपने कथ्य को समकालीन सोच से जोड़ा तथा पिछली पीढ़ियों से अधिक स्पष्टता इसमें आई। इस पीढ़ी

का अपना निजी शिल्प रहा। कथ्य में प्रगतिशीलता आई और प्रयोगधर्मिता के नए आयाम खुले। नवगीत की सही पहचान इस पीढ़ी ने सिद्ध की। इसमें कुछ प्रमुख नाम हैं— गुलाब सिंह, शांति सुमन, अनूप अशेष, श्रीकृष्ण तिवारी, दिनेश सिंह, कैलाश गौतम, कुमार रवीन्द्र, बुद्धिनाथ मिश्र, राम सेंगर, सूर्यभानु गुप्त, कुमारशिव, उमाशंकर तिवारी, श्याम सुंदर दुबे, राजेन्द्र गौतम इत्यादि। अगली पीढ़ी का आकलन अभी होना है। नयी पीढ़ी में कुछ नाम कथ्य और शिल्प के आधार पर अपनी पहचान तो बना रहे हैं, लेकिन मंच मोह से सभी दिखते हैं अधिकांश। ये 'आह' से 'वाह' की तरफ झुक रहे हैं इसलिए इनके कथ्य में समय नहीं समा पा रहा। प्रयोगधर्मिता ही कवि को शिल्प, बिम्ब और प्रतीकों तक उतारती है। नई पीढ़ी को वर्तमान में लिखे जा रहे से परिचित होना पड़ेगा तभी उसके कथ्य और शिल्प में उसकी स्वयं की पहचान बन पायेगी। हमारी पीढ़ी से नयी पीढ़ी तक जीवन के कठोरतम पक्षों के साक्षात्कार हर दिन प्रत्यक्ष होते जा रहे हैं। ये सभी अनुभव जीवन से भावलोको में उतर, नवगीत के नए आयाम बन रहे हैं। नयी पीढ़ी वैचारिक बोध से इन्हें समेट सकती है।

**राजा अवस्थी :** वर्तमान परिदृश्य को देखें, तो कथा-भागवत, पण्डे-पुजारियों तथा कथित संत-महंतों का वितंडावाद; दूसरी ओर महंगाई, भ्रष्टाचार, नैतिक और चारित्रिक पतन की निरंतर बढ़ती घटनायें! ऐसे समय में नवगीत जैसी निष्ठानुशासित काव्य विधा की मनुष्य के भीतर मूल्य स्थापन, स्थितियों से जूझने और जीवन जीने की समझ विकसित करने में क्या भूमिका हो सकती है? या है?

**अनूप अशेष :** यह सच है कि हमारा वर्तमान भयानक और अनैतिक मानदंडों का खुला परिदृश्य रच रहा है। शासन, सत्ता, पदाधिकार, कथित संत-मठ, बाजार सभी में पूँजी का हित प्रमुख हो गया है और इसके लिए सभी शील और नैतिकताएँ तोड़ दी गई हैं। हमारी वर्जनाएँ पंगु हैं। चारों तरफ कहीं दृश्य कहीं अदृश्य काले नागपाश कसने को घेरे हुए हैं। हमारी चारित्रिक स्वच्छता, ईमानदारी, जीवन मूल्य अवाक हैं, स्तब्ध हैं। साहित्य का एक कार्य यह भी है कि वह अनुभूति के स्तर पर हमें विचलित भी करे। जीवन के हर मोड़ पर उसकी दस्तकें सुनी जा सकें।

नवगीत सारी कटुताओं के, सारे तिरस्कारों के बीच अपने शाब्दिक संप्रेषण में विपरीत स्थितियों से जूझने का तथा जीने की समझ विकसित करने का कार्य मनुष्यता और बौद्धिक प्रबुद्धता के लिए कर रहा है। नवगीत उपदेश नहीं है। नवगीत मूलतः भारतीय जातीय परिवेश की कविता है। गाँव के लोक से नागर जीवन के आह्लाद तथा विसंगतियों से यह भेंट करता है। इसमें विभेद नहीं है। जन और जीवन संदर्भों से जुड़ी सारी स्थितियों की किताब है नवगीत। हम अपनी समझ के अनुसार इसकी इस भूमिका को समझ सकते हैं।

**राजा अवस्थी :** आप समूची नवगीत धारा के प्रतिनिधि और वरिष्ठ कवि होने के साथ मध्यप्रदेश के चर्चित और प्रमुख नवगीतकारों में जाने जाते हैं। मध्यप्रदेश में आप नवगीत का भविष्य कैसा देखते हैं?

**अनूप अशेष :** आपको एक बात बताना चाहूँगा; आपने नवगीत और मध्यप्रदेश की बात की है इसलिए। एक समय वह भी था जब मध्यप्रदेश पूरे हिंदी जगत में नवगीत को लेकर सबसे आगे था, और धर्मयुग, साप्ताहिक हिंदुस्तान, जैसी सर्वश्रेष्ठ पत्रिकाओं में यहाँ कोई न कोई नाम हर माह इनमें पढ़ने को मिल जाता था। यह सत्तर के दशक की बात है। ओम प्रभाकर, शलभ श्रीराम सिंह, माहेश्वर तिवारी (होशंगाबाद-विदिशा) में रह रहे थे, नई, अनूप अशेष खूब छप रहे थे तथा प्रेमशंकर रघुवंशी, श्याम सुंदर दुबे, विनोद निगम, विद्यानंदन राजीव भी प्रकाशित हो रहे थे। उस समय बड़ी पत्रिकाओं में मध्यप्रदेश के नवगीत कवियों का वर्चस्व था। कहने का अर्थ यह कि यहाँ की मिट्टी नवगीत के लिए उर्वरा रही है। आज मुझे यह उर्वरा ही लग रही है। आप शहर को ही लें, यहाँ नवगीत ही लिखा जा रहा है। आप सब नवगीत ही लिख रहे हैं। अन्य स्थानों की भोपाल को छोड़कर यही स्थिति है। इन सभी का आकलन करना अभी जल्दबाजी होगी; क्योंकि गले में मिठास है तो मंच आपको ललचाएगा ही। धन वहाँ भी है। अच्छे नवगीत कवियों का भी ईमान यह धन हिला देता है। कैलाश गौतम, बुद्धिनाथ मिश्र और यश मालवीय का प्रमाण सबके सामने है। इसलिए यहाँ के नए कवियों का नाम अभी नहीं ले रहा हूँ, लेकिन मध्यप्रदेश में नवगीत का भविष्य सुखद देख रहा हूँ। भविष्य भीड़ नहीं देखता।

प्रतिभा देखता है। मैं आश्वस्त हूँ भविष्य को लेकर।

**राजा अवस्थी :** जिस तीव्रता से परिदृश्य भयावह और कठिन होता जा रहा है, उससे अधिक गति से कवि-कर्म के क्षेत्र में आने वाले कम हुए हैं; ऐसे में आप नवगीत-कविता का भविष्य कैसा देखते हैं?

**अनूप अशेष :** देश और समाज का भविष्य आगे और भयावह होना है। अभी तो मनुष्यता के कुछ पुण्य शेष हैं। क्षरण में गति तेज है। कविता भी इन्हीं के बीच से आती है। पूरा साहित्य समय, समाज, परंपरा और मूल्यों की ही उपज होता है; किंतु हर क्षरण में, हर स्खलन में कुछ शेष बचता ही है इसलिए चिंता की स्थिति थिर नहीं रहती। स्थितियाँ, परिस्थितियाँ अपना विकल्प खोज लेती हैं। नवगीत ने अकेले ही चलना अपने आरंभ में ही सीख लिया था। चार-छह के साथ आयी यह विधा आज बड़े परिवार के हाथों में है। संख्या बल इसका आधार नहीं हो सकता। निराला एकदम अकेले थे और अकेले ही छंद में क्रांतिकारी परिवर्तन कर दिया, मुक्त छंद भी दिया, मुक्त छंद भी दिया। आज वे सभी विधाओं में सर्वमान्य हैं। तो कम लिखने वालों से विधा विपन्न नहीं होगी। कविता की मुख्यधारा में नवगीत ही रहेगा।

**राजा अवस्थी :** एक साक्षात्कार में एक नवगीतकार-आलोचक से यह प्रश्न किया गया कि नवगीत पर चर्चा करते समय नयी पीढ़ी के नवगीतकारों की चर्चा नहीं की जाती। ऐसा करके क्या नवगीत का अहित नहीं होगा? जवाब में कहा गया कि जो लोग मुझे किताब भेजने तक की जहमत नहीं उठाते, उनके बारे में कैसे लिखूँ? सवाल उठता है कि किसी भी आलोचक को किसी विधा विशेष पर अधिकार पूर्वक लिखने के लिए सामग्री स्वयं जुटानी चाहिए या रचनाकारों को अपनी चर्चा करवाने के लिए आलोचकों तक स्वयं पुस्तक पहुँचाकर निरंतर उनके संपर्क में रहना चाहिए? आप क्या कहते हैं?

**अनूप अशेष :** मेरा विश्वास आलोचकों के बल पर साहित्य के उत्थान का कभी नहीं रहा। कबीर, तुलसी, रैदास की कविता आलोचकों के साथ कभी नहीं चली;

**संपर्क :**

राजा अवस्थी

गाटरघाट रोड, आजाद चौक, कटनी-483501 (म.प्र.), मो. 9617913287

फिर क्या बात है कि आज साहित्य से आगे आलोचना चल रही है। कोई भी आलोचक अपनी आलोचना का उत्स कविता से, कथ्य से ही तो लेगा। आलोचना से साहित्य निर्मित नहीं होता। यह आलोचक की ही विवशता होगी उसकी पहचान के लिए कि वह साहित्य तक, नवगीत तक पहुँचे। नवगीत आलोचना के पीछे नहीं चलता। आलोचक की तीमारदारी आज तक नवगीत ने नहीं किया। आज तक नामवर सिंह वगैरह ने नवगीत पर आलोचना नहीं लिखी। डॉ. शंभुनाथ सिंह और नामवर सिंह वाराणासी में साथ थे, संगत भी थी, तो क्या नवगीत गुम गया? शंभुनाथ सिंह अपरिचित रह गये। नवगीत-कवि को नवगीत के प्रति ही समर्पित होना चाहिए, आलोचकों के प्रति नहीं। आलोचक को स्वयं ही पुस्तकों तक पहुँच बनानी चाहिए; प्रकाशक से अथवा कवि, लेखक से।

**राजा अवस्थी :** नवगीत की दीर्घकालीनता और नए रचनाओं के लिए आप कुछ कहना चाहेंगे?

**अनूप अशेष :** नवगीत की दीर्घकालीनता तो समय ही तय करेगा। केवल नवगीत ही क्यों साहित्य की किसी भी विधा की। नवगीत छांदसिक कविता की केन्द्रीय विधा के रूप में स्थापित है, तो इसकी दीर्घकालीनता पर संशय नहीं होना चाहिए। अभी दूर तक ऐसी कोई संभावना नहीं दिख रही, जो गीत की तरह नवगीत को अपदस्थ कर सके; और अब तो समकालीन कविता कही जानेवाली छंदमुक्त कविता के कवि भी छांदसिक कविता से जुड़ने लगे हैं। आलोचक डॉ. नामवर सिंह, शिव कुमार मिश्र, विश्वनाथ त्रिपाठी, मैनेजर पाण्डेय इत्यादि भी नवगीत को स्वीकारने लगे हैं इनका, यानी नवगीत के विपक्ष का अनुमोदन भी नवगीत की दीर्घकालीनता को प्रमाणित कर रहा है। नए रचनाकारों को समकाल और समकालीन सोच तथा साहित्य, खासकर कविता से अंतरंग होना पड़ेगा। बिना अध्ययन नवगीत संभव नहीं होगा। पत्रिकाओं से संपर्क की निरंतरता जरूरी है। हिंदी कविता तथा हिंदीतर कविताएँ किस मोड़ पर पहुँच रही हैं इसे खुली दृष्टि से देखना होगा।

## खोई हुई कविता को याद करते हुए

डॉ. कमल कुमार

प्रवक्ता, हिंदी विभाग

उमेश चंद्र कॉलेज, कोलकाता

‘सुख एक बासी चीज है’ सदानंद शाही का दूसरा कविता संग्रह है। इसके पहले उनका एक कविता संग्रह ‘असीम कुछ भी नहीं’ १९९२ में प्रकाशित हो चुका है। लंबे अंतराल के बाद यह संग्रह आया है। इसमें कवि ने समाज और जीवन के कई अनछुए पहलुओं को अपनी कविताओं में रचा है। यह कविता संग्रह कवि की सामाजिक सक्रियता और आम जन से जुड़ाव के आत्मिक रूप को दिखाता है। कवि एक जिज्ञासु की तरह अपने आस पास हो रही हलचलों को बड़ी बारीकी से महसूस करता है। कवि की नजर हर उस शै पर है जो प्राकृतिक रूप से अपना मूल्य खो रहे हैं। मनुष्यता और आस्था में गिरावट आ रही है। अपनी जगह पर कोई टिक कर नहीं रहना चाहता। गिरगिट की तरह रंग बदलने वाली दुनिया में कवि अपनी चिंता भरे प्रश्नों को जाहिर करते हुए कह रहा है— *कैसे इतना रूप बदलते हो/कहाँ से सीखी इतनी माया/हमें भी सिखाते।*

भूमंडलीकरण और उदारीकरण की नीति ने बाजार को बढ़ावा दिया। बाजार का अपना गणित होता है। आज बच्चे बाजार के सबसे आसान शिकार हैं। बचपन को बचा पाना मुश्किल होता जा रहा है। छल-प्रपंच से भरे जमाने में एक बच्चे की कोमल सोच कितनी जायज लगती है। बाल मन की अभिव्यक्ति करने वाली अनेक कविताएँ इस संग्रह में हैं। कवि ने बड़ी सूक्ष्मता से बाल मन की गतिविधियों को पकड़ा है; उनके अनगढ़पन में कवि सौंदर्य देखता है— *बच्चे तमाम महान और विद्वतापूर्ण शब्दों को/ अंड का बंड कर देते हैं। यह दुनिया उनके लिए खेल का मैदान है। वे महान से महान चीजों से खेल सकते हैं।* कवि की नजरों में बच्चे दुनिया को बदलने में लगे हुए हैं, खुदा के वास्ते उन्हें तंग मत करिये। बच्चे का मन कोरे कागज की तरह होता है, वह अपने आस पास हो रहे बदलाव को तेजी से सीखता है। कवि जर्मनी के नेका नदी के किनारे खेल रहे बच्चों को देखकर सोचता है कि क्या दुनिया के सारे बच्चे एक ही जुबान बोलते हैं— *मैंने देखा/ बच्चे सूखी टहनियाँ लिए/ पानी से खेल रहे थे/ छपर छपर कर रहे थे/ खुश हो रहे थे/ किलक रहे थे।* यह बाल सुलभ सोच आज के इस आधुनिक परिवेश में द्रुत गति से खत्म हो रहे बचपन को बचाने की जरूरत का इशारा करती यह कविताएँ वास्तविकता से अवगत कराती हैं। एक तरफ बाल मन तो दूसरी तरफ अनुभव सिद्ध लोग। कवि दोनों को कविता का विषय बनाता है। अनुभव में सीखने और सिखाने की अपार संभावना होती है। अनुभवी मनुष्य में जीवन और सच्चाई के प्रति निडरता आ जाती है। कवि इन अनुभवसिद्ध लोगों से सीखने की बात करता है— *सच्चाई के बायें चलते चलो/ पहुँच जाओगे सुरक्षित/ कहते*

हैं बूढ़े लोग/ इस नसीहत के साथ कवि ने टूटते परिवारों में बेसहारा और हाशिये पर रखे गये बुजुर्गों की वेदना को भी चित्रित किया है।

हमारे जीवन में दुःख का भी उतना ही महत्व है जितना की सुख का। सुख और दुःख जीवन के लिए सिक्के के दो पहलू की तरह हैं। सुख आनंद है तो दुख क्या है? बीते हुए कल की याद है। दुःख आने वाले कल की आशंका या आत्मा में लगी काई है- या दुःख रेजगारी है/ जिसे हम बचाये फिरते हैं/ शायद सफर में आ जाये काम। महादेवी ने कहा है कि दुःख हमें उच्च मानवता के शिखर पर बैठा देता है। दुख बेहद निजी चीज है। व्यक्ति सुख तो सबके साथ मिलकर बाँटना चाहता है, लेकिन दुख अकेले भोगता है। यादें हमारे जीवन की अमूल्य धरोहर हैं, निराशा के क्षणों में यह यादें हमें आगामी जीवन के लिए संबल प्रदान करती हैं। इसीलिए कवि भी सुख को बासी चीज कहता है अर्थात् उसमें ताजापन नहीं है। हम अपने यादों की पूँजी को खोना नहीं चाहते इसलिए उसे अपने हृदय के कोने में संजो कर रखते हैं। लेकिन कवि उसे वापस करना चाहता है- *इनका क्या करूँ, किस सागर में डुबो जाऊँ/ किस बैंक में डिपोजिट कर दूँ/ या कहो, तुम्हारे ही नाम पार्सल कर दूँ।* इन कविताओं में मौजूद संवेदना हमारे विचारों को झकझोरते हुए जगाती हैं और जीवन की वास्तविक धरातल से रूबरू कराती हैं। कवि ही हफों की तड़प को महसूस कर सकता है। पच्चीस साल पुरानी चिट्ठी को मंजिल तक पहुँचाने के लिए उसके हफों में तड़प दिखाई देती है। स्मृति भी कई बार दुख का कारण बन जाती है। इस भागती-दौड़ती दुनिया में जब हम अपनी परेशानियों और झंझटों में डूबते उतराते अपने वजूद को भूल रहे होते हैं तब याद आते हैं पिता। समकालीन कविता के लगभग सभी कवियों ने कमोबेश पिता पर कविताएँ लिखी हैं। पिता को याद करते हुए कवि कहता है- *यहाँ आदमियों के जंगल में/ अकेले-जूझते बैँड़ियाते बच्चों के माथे पर/ वात्सल्य की झुरझुरी उगाते/ द्वाढ़स बंधाते/ याद आते हैं पिता/।* यह सार्वभौम पिता है।

इस उत्तर आधुनिक दौर में हमारे लिए वही महत्वपूर्ण है जो हमारे फायदे का हो। महत्त्वहीन (अनुपयोगी) चीजों

का अब कोई वजूद नहीं है। कवि इसीलिए विशिष्ट होता है क्योंकि उसे सबकी चिंता होती है। हजारों वर्ष की सभ्यता से प्राप्त निधियों में से वह किसी को खोना नहीं चाहता है। कविता और मनुष्यता का इतिहास साझा है। आज जो खबर न बन सके उसका कोई महत्व नहीं रह गया है। ऐसे में एक कविता का खोना जब कोई खबर ही न हो तब कवि की चिंता जायज है- *भला बताइए/ कि तेजी से भगती इस दुनिया में/ जिसमें सदियों से बटोरी गई/ बेशकीमती चीजें खोती चली जा रही हों/ एक मामूली से कवि की/ मामूली से कविता का खोना/ क्या ऐसी बात है/ जिसकी नोटिस ली जाए।*

हमने अपनी नदियों के साथ बहुत बुरा बर्ताव किया है। आज कई नदियाँ सूख चुकी हैं तो कई सूखने की कगार पर हैं। वे तेजी से जहरीले नालों में बदल रही हैं। नदियाँ सिर्फ प्रदूषण या जलश्रोत के माध्यम के रूप में ही महत्वपूर्ण नहीं हैं; उनमें मानव सभ्यता के विकास का सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास दर्ज है। पारंपरिक जलश्रोतों को सुखाकर हमने वहाँ बड़े-बड़े भवन या कुछ और निर्माण कर लिए; जिसकी वजह से आज हर शहर पानी की समस्या से जूझ रहा है। हम नदियों को निचोड़ रहे हैं। पीने के पानी के प्राथमिक स्रोत तालाबों, कुओं को भी हमने खत्म कर दिया है। कवि ने अपनी चिंता प्रकट करते हुए सवाल उठाया है- *धीरे-धीरे सूखते चले गए/ मुहल्ले के कूड़ेदान बने वे/ अब भटाए जा रहे हैं कुएं।*

कवि जिस सादगी और सहजता से बेचैनी को बतकही की शक्ल में पेश करता है; वह काबिलेगौर है। इस संकलन की कविताओं से गुजरना अपने आप को महसूस करने जैसा लगता है। कविता के शब्दों का स्वाभाविक प्रयोग पाठक को संवेदना के धरातल पर साधारणीकृत करता है। कवि जनपदीय भाषा के शब्दों के प्रयोग से कविता की धार को और तेज करता है। बोलचाल की भाषा के प्रयोग से नए अर्थ पिरोने में कवि कोई संकोच नहीं करता। इस बदलाव से कविता और भावप्रणव हो जाती है। इससे कविता में मूर्तिमत्ता आती है। कई रोजमर्रा की चीजें जिसे हम यूँ ही जाने देते हैं कवि की पारखी नजर उसे भी देख लेती है। समकालीन कविता ने छोटी से छोटी

वस्तुओं को भी काव्य का विषय बनाया है। कवि की चिंता में सबके लिए जगह है। वह हरे मिर्च का तीखापन भी बचा लेना चाहता है। उसे चिंता है और डर भी है कि कहीं इस राम हल्ले में हरी मिर्च छूट न जाय। कवि की चिंता यह है कि कहीं अगली सदी ही बेमजा न हो जाय; हरी मिर्च के तीखेपन के बगैर। यह जीवन में स्वाद के बहाने अति कम महत्वपूर्ण चीजों के प्रति चिंता व्यक्त करता है। यह परोक्ष रूप से कविता को बचाने का ही प्रयास है।

प्रेम जीवन का महत्वपूर्ण अंग है। प्रेम सर्वोच्च मूल्य है। प्रेम केवल ऐंद्रिक सुख नहीं है। वह जितना भीतर खुलता है उतना ही बाहर भी। प्रेम अपने से बाहर को जानने का माध्यम है। कवि कहता है *जिससे सालों साल प्यार करता रहा हूँ/ उसे कितना जानता हूँ/ प्रेम समर्पण के साथ ही साथ आश्वासन भी मांगता है। वह जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं के साथ-साथ प्रेम को भी जरूरी मानता है। वह कहता है कि- साँस भर हवा/ आँचल भर धूप/ अँजुरी भर रूप/ और जीवन भर तुम्हारा प्यार चाहिए।*

हुनरमंद लोगों के महत्त्व को हम नकार नहीं सकते। उनके होने का भाव समाज को आश्वस्ति देता है। उनसे ही दुनिया में सौन्दर्य है। इस संग्रह में कवि ने हुनरमंद लोग शीर्षक कविता में धुनिया, जुलाहे, नाविक, गड़ेरिया, कुम्हार

और गाड़ीवान जैसे कामगारों का सजीव चित्रण किया है। जो अपने हाथों अपना काम करने के महत्त्व को दर्शाता है। भारतीय समाज सामंती संस्कृति का समाज रहा है। यहाँ काम करना हेय माना जाता रहा है। 'कालाहांडी: कुछ सवाल', 'एक पौराणिक का बयान', 'नयी चादर बुनी जाती रहेगी', 'भाषा और भेड़िया', 'देवी की प्रतिमा' और 'विसर्जन' शीर्षक कविताएँ अपने विषय संवेदना से संपृक्त और ज्वलंत मुद्दों पर सवाल करती हैं। प्रस्तुत संग्रह कवि के संवेदनशीलता और रचनात्मकता को प्रस्तुत करता है। इस कविता से कवि अपने मनोभाव को प्रकट कर रहा है- *सफलताओं का इतिहास लिखा जाता है/ और असफलताएँ कविताओं में दर्ज होती हैं/ इसलिए लाजिम है कि कविताएँ/ असफलता के पक्ष में खड़ी हों।*

इस संग्रह में कवि ने नयेपन की तलाश के जीवन में कविता को बचाने का प्रयास किया है। इस संग्रह की अधिकांश कविताएँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में छप चुकी हैं, लेकिन इस संग्रह को पढ़ते हुए इनकी ताजगी लगातार महसूस होती है। कविताएँ छोटी-छोटी हैं लेकिन उनकी अभिव्यक्ति बहुत बड़ी। समकालीन कविता के इतिहास में इन कविताओं का महत्त्व उल्लेखनीय होगा। यह बेहद पठनीय और संग्रहणीय कविता संकलन है।

**समीक्ष्य कृति :** सुख एक बासी चीज है (कविता संग्रह)

**कवि :** सदानन्द साही

**समीक्षक :** डॉ. कमल कुमार

**प्रकाशक :** प्रतिश्रुति प्रकाशन-कोलकाता

**संस्करण :** 2015,

**मूल्य :** 120/- रुपये मात्र

**संपर्क:**

उमेशचंद्र कॉलेज, 13, सूर्यसेन स्ट्रीट, कोलकाता-12

## जीवन को ढूँढ़ती कविताएँ

मंजुला उपाध्याय मंजुल

मीरा श्रीवास्तव नवें दशक की चर्चित कवयित्री हैं। 'ऊनी शॉल' इनका प्रथम काव्य संग्रह है। संग्रह में प्रकाशित ७५ कविताओं का बिंब अपनी विविधताओं में, गहरी सूक्ष्म दृष्टि से संवेदित हैं। अधिकांश कविताएँ स्त्री-अस्तित्व से जुड़ी, उनके अकेलेपन या फिर चुकते क्षणों में, जिंदगी तलाशती स्त्रियों का उद्बोधन हैं। आधी-आबादी के बावजूद स्त्रियाँ पूर्णतया स्वतंत्र नहीं हुई हैं। सब कुछ के बावजूद, स्त्री के भीतर एक अदद स्त्री अब भी मौजूद है। भले ही वह स्त्री मध्यमवर्गीय श्रेणी से आती हो, लेकिन समय और समाज के प्रति वे आज भी सजग हैं। ऐसे कैनवास पर स्त्री का आत्म-साक्षात्कार ही प्रस्तुत संग्रह की अपनी अहम् उपस्थिति है। यँ कुछ कविताएँ प्रकृति, रिश्ते, क्षणों, अध्यात्म और समय-यथार्थ के क्षणों, बिंबो से जुड़ी हुई हैं।

स्त्री चेतना से जुड़ी कुछ प्रमुख कविताएँ- 'औरत, न औकात, न बिसात,' 'औरत वरन औरत', 'औरत में तब्दील एक लड़की', संवाद माँ से एक बेटी' उल्लेखनीय है। मीरा औरत के भीतर की शून्यता को इन बातों से बाँटती है कि- *"औरत की जात/ ना औकात, न बिसात/ न घर का। न घाट की।। (कविता- औरत, न औकात, न बिसात)*

मीरा इस कविता में उस स्त्री को भी देखती हैं, जिसकी वजह से 'अन्नपूर्णा चौक-भंडारे में जिससे अकूत बरक्कत से पुरुष कहीं न कहीं स्त्री की उपस्थिति में, अपना सुकून भरा अक्स देखता है, बावजूद वह स्त्री विवश है, और न ही स्त्री की कोई बिसात है। यह सन्नाटे में गूँजती चीख है या फिर एक चुप-चुप सी स्त्री की छवि है, जिसके भीतर अपने टूटने का तो बोध है, लेकिन अपने वजूद को ताक पर रख कर। संभव है, यह स्त्री छवि, मानो परिवार की सीमाओं के भीतर शहीद होने के लिए जन्मी हो। यही बात कविता- 'औरत बस औरत' की स्त्री भी ऐसी छुअन को ही महसूस करती है, इन अभिव्यक्तियों में- *'अपनी लाचारगी, बेचारगी की/ गठरी सिर पर लिए किस सन्न से गुजार देती है/ तमाम उम्र।* क्योंकि यह औरत हारी हुई नजर आती है, इन शब्दों में कि- *'हर औरत बहरहाल औरत ही/ हुआ करती है।'* इस जगह मीरा स्त्री की औकात को सीमाओं में बाँध डालती हैं। जबकि स्त्री के लिए आज स्पेस का बड़ा माहौल तैयार है। संभव है, यह स्त्री की यथावादी स्त्री नियति है। चूँकि आज की स्त्री समय के प्रति चौकन्नी है। समाज का विकसित स्वरूप उनके व्यक्तित्व को आमंत्रित कर रहा है। यह सच है कि कवयित्री स्त्री की घुटती-छवि से ज्यादा प्रभावित हैं। लेकिन आत्म बोध या फिर आत्म सजगता का भी तो अपना वजूद है।

स्त्री अस्तित्व की नाभिनाल कविता 'जायज शिकायत' एवं 'संवाद माँ से एक बेटी का' में बड़ी संवेदना और तरलता उजागर है। जहाँ स्त्री की अहमियत, उसकी उपस्थिति-अनुपस्थिति में किस कदर महसूस जाता है, यह दृष्टांत मौजू है- *'हाँ, आज जब वह नहीं है/ मैं तुम्हें*



साफ-साफ सुन पा रही हूँ/ देख पा रही हूँ/ मेरी छोटी गोरीया/ मेरी सोन चिरैया। (कविता- 'जायज शिकायत') स्त्री का नाभिनाल, समर्पित ममत्व में उपस्थित है। इस कविता में एक स्त्री, दूसरी स्त्री में, स्त्री की उपस्थिति और उसकी स्नेहशील उपस्थिति को महसूस करती है। वह स्त्री एक माँ है, जो बेटी के ब्याहे जाने पर महसूसती है। हालांकि प्रस्तुत कविताएँ अपनी तीन कड़ियों में, स्त्री दृष्टिकोण से लबरेज उपस्थित होकर, अद्भुत रूप में अपनी स्त्री छवि को देखती हैं। इस कविता की अन्य कड़ियों में 'संवाद माँ से एक बेटी का' गौरतलब है- 'तुम्हारी आँखों से गिरते आँसू/ माँ कहाँ समेटूँ माँ? यह कविता माँ को संपूर्णता में देखती है, जो प्रकृति की महान उपलब्धि है।

इस कविता का आकर्षण माँ के भीतर बेटी के प्रति सखीपन को महसूसना भी मुग्ध करता है, इन पंक्तियों में- 'तुम ही तो कहा करती थी/ सयानी होने पर बेटी, बेटी नहीं होती/ सखी बन जाती है।' इसी शीर्षक से बेटी के भीतर भी माँ का प्रेरक एवं शाश्वत रूप उभरता है कि- 'तुम्हारी ही नेमत है माँ!। यह आदम तुम्हारी ही दी है/ जिसे बड़ी जद्दो-जहद के बाद/ आज भी बचा रखा है मैंने, माँ!।' कविता माँ बेटी की अंतरंगता में स्त्री का वास्तविक स्वरूप एवं चरित्र की संरचनाओं के साथ अपनी व्यापक अवधारणाओं को सृजित भी करती है। इसी शीर्षक की तीसरी कड़ी में, आत्मविश्वास का सांस्कृतिक स्वरूप है, इन पंक्तियों में- 'जब भी मैं हार जाऊँ/ आना माँ, आना/ वैसे ही जब नीरव रात में मेरे भय की छाया ले जाती थी/ तुमको पास मेरे/ आना माँ, आना।' इन कविताओं का यथार्थ, रिश्तों के रेशे-रेशे से गुजरने जैसा है! संवेदनाओं का यह यथार्थ ही, कविता के प्रति मुग्धता के साथ, आत्मसात की प्रबल मनोस्थिति बनती है। 'माँ' के बिंब पर लिखी गई कविताओं की श्रेणी में, मीरा की कविताएँ भी एक विशिष्ट स्थान तलाश लेती हैं।

स्त्री ईश्वर की दी गई बड़ी नियामत है। धरती का सबसे खूबसूरत कोई अस्तित्व है, तो वह है स्त्री। यहीं से स्त्री का सौंदर्य प्रकृति से जुड़ा है। बावजूद स्त्री के विपक्ष में कई क्रूर सत्य भी हमें रोज विचलित करते हैं। कविता 'सर्कस की लड़की' का यह दृश्य हमें बेचैन कर डालता है

'यह जो इतनी छोटी फ्रॉक तुमने पहन रखी है/ जिसकी लंबाई तुम्हारी जांघों की सुडौलता को छिपा नहीं पाती/ तुम्हारी यह कसी हुई छोटी फ्रॉक।' स्त्री देह के प्रति पुरुष के बनैलेपन जैसी प्रवृत्तियों को व्यक्त करती है।

साथ ही उस मासूम स्त्री देह की विवशता भी हमें दहला जाती है। मीरा की यह सूक्ष्म निगाहें हैं तो स्त्री पक्ष का गुंफित अकेलापन, 'अछोर नदी सा सन्नाटा' एवं 'अकेलेपन की धुंध' भी काफी विचलित कर रही हैं। अपने कई सवालों में, यहाँ भी मौजूद है मीरा की दृष्टि 'कहाँ छूट गए सहचर के पगचाप? कहाँ खो गई आत्मीयता?'

नदी, पक्षी, रेगिस्तान, मेघ प्रकृति आदि बिंबों पर संकलित कविताएँ हमें नये भाव-बोध के साथ, जीवन में इनकी उपस्थिति का आत्मतोष भी व्यक्त करती हैं। प्रकाशित कविताओं के इन आशयों में- 'भादों का आसमान', 'शहरी गोरीया', 'गुम होते परिन्दे', 'मेघों का मेल आई. डी.', 'अमराई का कोयल', 'छज्जे पर बिखरा चावल और गोरीया', 'हवा तो हवा है', 'चिटिर-पिटिर का ठौर-ठिकाना-पीढ़ी वीं सदी की', 'छतनार बट वृक्ष', 'सावन का इंतजार', 'आज नदी जिन्दा है', 'गोरे-चिट्टे बादल', 'सिर पटक रहा सागर' आदि कविताएँ पर्यावरण संकट के साथ-साथ इनके अस्तित्व और सौंदर्य-बोध के अवमूल्यन को गहरे अर्थों में व्यक्त करती हैं। जहाँ इनके अस्तित्व शून्यता का संकट भी, गहरे मानव बोध के अंतस में, भूकंप की तरह चटक पैदा करते हैं।

प्रेम पुष्पित भावों की अनुगूँज भी इस संग्रह की कई कविताओं में अपने प्रभावोत्पादकता के साथ, पाठकों के मानस में, प्रेम-तरलता की संवेदनाओं का सुकून और अंतस को गुदगुदाने वाली कई स्फुरणाएँ लेकर मौजूद है पूरा का पूरा। कविता- 'तुम साथ होते हो, तो...' का वह मनोभाव, स्त्री-पुरुष के मध्य प्रेम-अस्तित्व को सम्पूर्णता और पारदर्शिता के साथ, महसूस करती है। पंक्तियाँ देखें- 'तुम्हारा साथ हो तो.../जिंदगी बेमानी नहीं लगती/ तुम्हारे साथ होवे से ही/ सब कुछ खास होता है।' स्त्री के समर्पण की छवि भी गौरतलब है- 'जब भी मैं हारी हूँ/ कैसे बिना किसी के बताए, सुझाए/ मैं जा खड़ी होती हूँ पास तुम्हारे।' स्त्री की यही चेतना, पुरुष के पौरुषेय सौंदर्य के साथ ही

साथ, पुरुष के प्रति विश्वास का एक घना अस्तित्व गृती है, जहाँ जीवन के प्रति विश्वास खिल उठता है, और जीवन सौंदर्य की मूर्त-अमूर्त परिकल्पना, हमें सभ्य-समाज की संरचना में भी शामिल करती है, क्योंकि प्रेम का अहम् प्रभाव, जीवन को, रचनात्मक पक्ष से जोड़ता है। साथ ही 'अपने होने' के अस्तित्व बोध को विस्तारता में ले जाता है। कवयित्री इस मर्म को पूरे विश्वास से संजोती है- 'कि मेरा छतनार वट-वृक्ष तुम्हारे संरक्षण में/ और भी छतनार हो, और भी विशाल हो' (विता- मेरी महत्वाकांक्षा का प्रतिरूप)। संग्रह की शीर्षक कविता 'ऊनी शॉल' का प्रेम उद्गार भी हमें मुग्ध करती है- 'तुम्हारे होने के भाव से भर, कस लेना/ उस शॉल को, अपनी देह पर/ तुम हो... यही हो/ अभी हो, सदा हो... मेरे पास। अद्भुत और मनोरम है यह भाव-बोध, जिसे मीरा बड़ी ही सूक्ष्मता

से और समीपता से महसूस किया है।

अंततः संग्रह की तमाम कविताएँ अपनी संवेदनाओं के साथ, पाठकों को शामिल करने में सक्षम हैं। भाषा की सरलता एवं अभिव्यक्ति की सहजता, कविता के तमाम बिंबों को पारदर्शिता के साथ मौजूद करती है, क्योंकि मीरा की कविताएँ समय-संकट के साथ जीवन की विषम स्थितियों का सामना करने में यथोचित समायोजन के भावों को भी गढ़ती हैं। बावजूद संग्रह की कविताओं में निराशा, हताशा संत्रास, क्रूरता, बहशीपन, उदासी, अकेलेपन की अनुभूतियाँ भी केन्द्रस्थ हैं।

**समीक्ष्य कृति :** ऊनी शॉल (कविता संग्रह)

**कवयित्री :** डॉ. मीरा श्रीवास्तव

**समीक्षक :** मंजुला उपाध्याय 'मंजुल'

**प्रकाशक :** अभिधा प्रकाशन, मुजफ्फरपुर

**मूल्य :** दो सौ रुपये मात्र।

**संपर्क :** सम्राट चौक, पूर्णियाँ- 854301 (बिहार), मो. 94318659798

बांग्ला की सुप्रसिद्ध लेखिका महाश्वेता देवी, लब्ध प्रतिष्ठ चित्रकार सैयद रज़ा, जाने माने पत्रकार एवं कवि नीलाभ तथा हिंदी के वरिष्ठ आलोचक प्रभाकर श्रोत्रिय के पुण्य-प्रयाण पर श्रद्धावनत् है। **मुक्तांचल परिवार...**

**भूल-सुधार :**

मुक्तांचल (अप्रैल-जून २०१६) 'उपन्यास केन्द्रित अंक' में डॉ. प्रिया राय के लेख में 'ग्लोबल गाँव का देवता' की जगह 'ग्लोबल गाँव के देवता' पढ़े।

## आधी आखादी का बच से सामना

आनंद प्रसाद नोनियाँ

‘अब वो आसमान तोड़ रही है’ कवयित्री सुषमा त्रिपाठी का प्रथम काव्य संग्रह है। लोकतंत्र के चौथे खंभे अर्थात् पत्रकारिता में अपनी सक्रिय भूमिका के निर्वहन के साथ ही साथ कवयित्री का यह काव्य संग्रह तत्कालीन परिस्थितियों में समाज को आडम्बरों, विसंगतियों एवं विरोधाभासों के विरुद्ध आवाज उठाने के लिए प्रेरित करता है। इस काव्य संग्रह में कवयित्री ने अपने २० वर्षों (१९९६-२०१६) के संघर्षों, अनुभवों और विचारों को अभिव्यक्त किया है। संग्रह की प्रथम कविता में ही कवयित्री ने ‘मेरे मन’ कविता की इन पंक्तियों के माध्यम से “पग-पग की ठोकर खाओगे/ गिर पड़ोगे फिर तुम कभी/ पर गिरकर ही लक्ष्य सिद्धि कर पाओगे।” संघर्षरत व्यक्तियों को प्रेरित व प्रोत्साहित करने का भरसक प्रयास करती है।

‘माँ, एक बात बताओ’ में कवयित्री माँ के संघर्षों को बयां करती है कि किस कदर एक माँ अपनी बच्ची को बड़ा करने में कठिन परिस्थितियों का सामना करती है ‘हमारे दर्द पर जमाना हँसता है जब ये दिल रोता है/ जो हमें जन्म देती है, खून से सींचकर बड़ा करती है/ हमारे सुख में हँसती है, दुःख में रोती है।’ अत्यंत मार्मिक कविता है जो हृदय को आलोड़ित कर यथार्थ को समाज के सम्मुख प्रकट करती है। विश्वास तो किसी भी रिश्ते में होना अनिवार्य है, बिना विश्वास के इस संसार में कुछ नहीं। ‘विश्वास’ वह ईंट है जो किसी भी रिश्ते की नींव है। ‘अभी भी जिंदा है विश्वास’ में कवयित्री का ‘विश्वास’ के प्रति सकारात्मक दृष्टि का परिचय मिलता है। ‘जनता की आवाज थे/ आज शोषक हो गये/ रक्षक कल तक थे जो आज भक्षक हो गये।’ तत्कालीन परिस्थितियों को उद्घाटित करती है। आज समाज में, देश में किस प्रकार अराजकता फैली है और लोग अपने स्वार्थ की पूर्ति हेतु ‘अपना उल्लू सीधा’ करने में लगे हुए हैं।

आम जनता किस पर विश्वास करे, जब रक्षक ही भक्षक बन जाए। कविता की पंक्ति ‘कल स्टोव में जलती थी/ आज तंदूर में पकती है/ तैंतीस के आंकड़ों में आजादी उसकी अब तक उलझी है।’ पंक्तियों में कवयित्री ने महिलाओं के शोषण, उत्पीड़न, पीड़ा, कष्ट को रेखांकित किया है। ३३ प्रतिशत के आरक्षण से क्या महिलाएँ सुरक्षित होंगी? यह सवाल अब भी कायम है। ‘व्यक्ति से जुड़ेगा व्यक्ति/ सार्थक होंगे सारे सपने/ बलिदान व्यर्थ न जाएगा/ अभी भी जिंदा है विश्वास’। व्यक्ति से व्यक्ति का संपर्क बढ़ेगा, तभी सारे सपने पूरे होंगे लेकिन आजकल रोजमर्रा की जिंदगी में व्यक्ति के पास, व्यक्ति के लिए ना तो समय है और ना ही जुड़ने का भाव। किंतु फिर भी इन विपरीत परिस्थितियों में कवयित्री का हृदय सकारात्मक सोच के साथ विश्वास पर टिका है कि इस ओर यदि ‘सोचेगा इंडिया, तभी तो बढ़ेगा इंडिया।’

‘गीत’ कविता में कवयित्री ने वर्षा ऋतु पर ध्यान आकृष्ट किया है। ‘सावन’ के महीने की भूमिका जीवन में अत्यंत महत्वपूर्ण है। ‘गीत’ में गीत की इन पंक्तियों के माध्यम से ‘बरसों कि तुम्हारे छूने से/ कली फूल बने, खिले फुलवारी/ फिर प्यासे जग की प्यास बुझे, जीवन मुस्काए, भरे किलकारी।’ मन सचमुच झूम उठता है। बदरा, धानी, चूनर हमारे लोकगीतों के शब्दों की याद दिलाता है।

‘हाँ मैं औरत हूँ’। कविता में कवयित्री ने स्त्री किस कदर जीवन चक्र में घूमती है, नाना प्रकार के संघर्षों, समस्याओं से दो-चार होती है फिर भी दूसरों की उपेक्षा न करते हुए कहती है-

“मैं नदी हूँ, जिसमें बहकर कितनों ने प्यास बुझायी।  
मैं धरती हूँ, रक्त बहाकर जग में जो हरियाली लायी।”

स्त्री को हमेशा समर्पण ही करना पड़ता है, समर्पण चाहे वह दूसरों के लिए करें या परिवार के लिए दोनों ही शर्तों में उसे अपने को प्रमाणित करना पड़ता है-

“अपनों की खातिर टोकर खायी,  
बेचारी और बेबस ही हमेशा कहलायी।”

जिंदगी की जटिलता में इंसान के लिए अपनी अस्मिता बचाकर रखना एक कठिन चुनौती हो गई है।

कवयित्री का स्वदेश प्रेम भी इस काव्य संग्रह में दिखता है। कविता ‘स्वदेश के प्रति’ मन में देश प्रेम की भावना को उजागर करती है। उत्तर में करता सुरक्षा, हिमगिरी का उज्ज्वल तन है। नीलम है तेरा आकाश, कण-कण है तेरा चंदन।”

‘बीसवीं सदी’ कविता में कवयित्री अपने अनुभवों को तराशती हुई कह उठती है कि “हालात तो वही हैं, सिर्फ वक्त बदला है/ चेहरा तो वही है बस नकाब बदला है।” शोषण, अन्याय, संकीर्णता, गरीबी, मजहब के झगड़े सभी बीमारियाँ अब भी मुँह बाये खड़ी हैं और इसके इलाज की तलाश जारी है।

‘बताओ तो ईश्वर’ कविता में कवयित्री ईश्वर से प्रश्न करती हुई नजर आती है। “एक को दिए समस्त अधिकार, एक निर्बल दूजा शक्तिमान/ तुमने विश्वास किया मनुष्य पर सोचा नहीं/ अहंकार उसका कर सकता है सर्वनाश।” मनुष्य अपनी शक्तियों का दुरुपयोग करता है, जब तक

वह संघर्षरत होता तब तक इच्छाओं, आकांक्षाओं, भावनाओं को मारे रखता है लेकिन जिस दिन उनके पास ‘शक्तिमान’ की ताकत आती है वह अहंकार में डूबकर विनाश की ओर उन्मुख होता है। संसार बदल चुका है। मनुष्य की मनुष्यता, उसका सद्व्यवहार लुप्त हो चुका है। तभी तो कवयित्री कह उठती है-

“रचनी होगी असमानता से मुक्त सृष्टि  
लिखना होगा तुम्हें नूतन विधान।”

‘नाम’ कविता में कवयित्री की मार्मिक भावनाएँ उजागर हुई हैं। कविता की आरंभिक पंक्तियाँ- “बहुत चर्चा है आजकल/ कहते हैं नाम जरूरी है। खासतौर से आज आदमी के लिए/ पहचान जरूरी है।” आज का इंसान ‘नाम’ के चक्कर में दूसरों को पद दलित कर नैतिकता और मानवता को बेवकूफी बताकर आगे बढ़ना चाहता है। देश, जाति, धर्म और संप्रदाय के ‘नाम’ पर भले ही आग लगे आजकल ‘नाम’ जरूरी है।

‘माँ एक बात कहो मैं’ में कवयित्री मन की उलझनों, दुविधाओं से सामना करती है। “जीवन की बलिवेदी पर हमारे/ है हर मर्यादा अवलंबित। भग्न हृदय है, मग्न है जीवन में/ कुछ भी तो ठीक नहीं है।” अपनी इच्छाओं को कभी न कभी, कहीं न कहीं मारना ही पड़ता है, जीवन रूपी पटरी पर समझौता एक्सप्रेस दौड़ानी ही पड़ती है। सारा जीवन समर्पण है, त्याग है।

‘आप का शुक्रिया’ में कवयित्री ने स्वच्छंद मत से प्रेम की व्याख्या की है, ‘प्यार’ में कितना उतार-चढ़ाव होता है, इश्क में कुछ फिक्स नहीं होता क्योंकि यह किसी का नहीं सुनता। “लम्हों ने खता की, सदियों ने सजा पायी/ ये वो कहते होंगे, मगर, हम नहीं।/ लम्हों में जिंदगी जीना सिखा गए/ आपका शुक्रिया।।”

‘तुम्हारे जाने के बाद’ कविता में कवयित्री हताशा, निराशा को उद्घाटित कर रही है- “मैं जीना चाहती हूँ/ अपनी जिंदगी का पूरा इतिहास/ बस! उस एक पल में/ बाँध लेना चाहती हूँ अपना आकाश।” कवयित्री यहाँ जिंदगी जीने के मायने की व्याख्या कर रही है कि किस प्रकार किसी के न होने से जीवन में खालीपन लगता है-

“खुद में खाली सी हो गयी हूँ।

शायद तुम्हारे जाने के बाद।”

‘किताब है जिंदगी में’ कवयित्री ने किताब की महत्ता को प्रतिपादित किया है। पहली की पंक्ति में जीवन का सार छुपा है- ‘किताब है जिंदगी/ लिखता है जिस पर/ तकदीर अपनी आदमी।’

‘मौजूदगी’ कविता में कवयित्री जीवन की जद्दोजहद में अपने को बचाये व बनाये रखने वाले उस शख्स की मौजूदगी का अहसास दिलाती है जो दो जून की रोटी की के लिए संघर्षरत है- “दोनों कंधों पर, लिए भारी थैला/ हाथ में प्लास्टिक का माइक, घूमाता/ वह दिख ही जाता है/ नए-पुराने चाहे अनचाहे गीत/ गुनगुनता है तेज गाड़ियों से बचता है।”

“मॉडल” कविता में उत्तर आधुनिक परिदृश्य देखने को मिलता है- “लाखों के जेवर, डिजाइनों पर छिड़ी बहस/ हर किसी को रखना है स्टेटस/ स्टेटस है पर लेबल गिर गया है/ इंसान मॉडल रह गया है।”

आधुनिकता के रंग में ‘इंसान’ अपनी अस्मिता खोता जा रहा है, कुछ पाने ‘की’ चाहत में, बहुत कुछ मिटता जा रहा है।

‘शब्द’ का कोई साथ दे या ना दे पर शब्द हमेशा साथ देते हैं, जिंदगी के साथ भी जिंदगी के बाद भी।” शब्द से ही तो गढ़ा जाता है वो सब कुछ जो संभव नहीं लेकिन ‘शब्द’ ही हैं जो देते हैं साथ।

‘कोई नहीं है मगर शब्द देते हैं साथ।

बुझती हुई लौ में, लगा देते हैं आग।।’

‘आशीर्वाद’ कविता में कवयित्री महिलाओं के प्रति आशीर्वाद के रूप में उन्हें बाँधना नहीं चाहती।

“मुझे तो बस बढ़ते जाना है/ निरंतर अनजान पथ पर/ देना है तो बंधन नहीं सृजन का दें आशीर्वाद/ जिसका इंतजार शायद हर लड़की को है।”

‘आधुनिक द्रोणाचार्य सुनों’ में कवयित्री ने वर्तमान परिप्रेक्ष्य को उजागर करते हुए इस कविता के माध्यम से उन सभी गुरुओं अर्थात् द्रोणाचार्य पर आघात किया है जिन्होंने शिष्यों के साथ पक्षपात किया है। जिनके लिए ‘टेढ़ा पर मेरा है’ आधुनिक उपयुक्त पंक्ति फिट बैठती है।

“सिर्फ एक को लेकर चलना, उसको ही राह दिखाना/ उसको ही पलकों पर रखना, दूसरों से ही दूर जाना/ बस एक अँगुली की खातिर, हर अँगुली कुचलते जाना/ कहो! द्रोणाचार्य, क्या आदर्श गुरु की यही पहचान है?”

“तुम जो भी थी” में कवयित्री ने महिलाओं के प्रति उत्पीड़न, प्रताड़ना, बेबसी को व्याख्यायित किया है- “न दामिनी, न निर्भया, तुम जो भी थी/ सिर्फ, एक औरत थी, जीना चाहती थी/ देखे थे तुमने, न जाने कितने सपने।”

कविता केवल एक बेहतरीन भाषा, व्यापक, मिथक या शिल्प भर नहीं है। वह जीवन में चलकर जीवन में फिर न उतरे, उसे माँजे नहीं, उसे श्रण के सौंदर्य का दर्शन न करा पाए तो वह कविता क्या ?

बहरहाल, “अब वो आसमान तोड़ रही है” कविता संग्रह में कवयित्री ने तत्कालीन परिस्थितियों की समस्याओं के साथ ही साथ कुछ ऐसे तथ्य समाज के सामने रखे हैं जिनके बारे में सोचना पड़ेगा और विकसित चिंतनशीलता के साथ आगे बढ़ना होगा। खासकर हमारे देश में स्त्री शिक्षा की कमी है, जिसके कारण महिलाओं पर शोषण, उत्पीड़न की असामान्य घटनाएँ घटित होती हैं। जरूरी है स्त्री-शिक्षा, उन्हें प्रेरित करते हुए आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करना होगा। तभी तो भारत सरकार की योजना ‘बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ’ सार्थक हो पाएगा।

इस संग्रह में कवयित्री ने जीवन के हर एक पहलू को छुआ है और वर्तमान समस्याओं को भी उजागर किया है। हम उपन्यास, कहानी पढ़ते हैं लेकिन कविता की छोटी पंक्ति ही हमें अत्यधिक संदेश दे जाती है और साथ ही परिस्थितियों पर सोचने को मजबूर कर जाती है। सच ही कविता की एक पंक्ति से वह ‘आनंद यात्रा’ प्राप्त होती है जो वातानुकूलित अपार्टमेंट में नहीं मिल पाता है।

**समीक्ष्य कृति :** अब वो आसमान तोड़ रही है (काव्य संग्रह)

**कवयित्री :** सुषमा त्रिपाठी

**समीक्षक :** आनंद प्रसाद नोनियाँ

**प्रकाशक :** मानव प्रकाशन, १३१, चितरंजन

एवेन्यु, कोलकाता- ७०००७३

**मूल्य :** ३०० रुपये मात्र/-

**संपर्क :** 09748322234/ कोलकाता

### अमृतलाल नागर : जन्मशती समारोह

सेठ सूरजमल जालान पुस्तकालय, श्री बड़ाबाजार कुमार सभा पुस्तकालय तथा बड़ा बाजार लाइब्रेरी के संयुक्त तत्त्वावधान में ४ सितंबर २०१६ को 'अमृतलाल नागर: जन्मशती समारोह' विषय पर संगोष्ठी आयोजित हुई। जिसमें प्रधान वक्ता प्रख्यात कथाकार गोविन्द मिश्र, प्रधान अतिथि नागर जी की पौत्री डॉ. दीक्षा नागर एवं अध्यक्ष श्री विमल लाठ ने अपने विचार प्रस्तुत किए।

प्रधान वक्ता श्री गोविन्द मिश्र ने अपना वक्तव्य रखते हुए कहा कि "प्रेमचंदोत्तर कथा साहित्य में नागर जी का अन्यतम स्थान रहा है। प्रेमचंद की सलाह पर नागर जी ने यथार्थ का आश्रय तो ग्रहण किया, लेकिन उन्होंने अपनी लीक स्वयं बनायी। परंपरा से हटकर लिखने का अधिकारी वही व्यक्ति होता है जो परंपरा का रस बनाकर पचा जाए। अद्भुत किस्सागोई, भाषिक सौंदर्य तथा जीवन को उकेरने की प्रभावी पद्धति ने नागर जी को बड़े कथाकार के रूप में प्रतिष्ठित किया। नागर जी का कथा-साहित्य साहित्यकारों एवं साधारण पाठक दोनों को समान रूप से प्रभावित करता है।

प्रधान अतिथि डॉ. दीक्षा नागर ने नागर जी के पारिवारिक जीवन से जुड़े प्रसंगों का उल्लेख करते हुए बताया कि उनके उपन्यासों में मार्मिकता किन संस्कारों तथा विचारों के कारण आई।

अध्यक्षीय वक्तव्य में श्री विमल लाठ ने उनकी कहानियों के मंचीय महत्त्व पर प्रकाश डाला। कार्यक्रम का संचालन डॉ. प्रेम शंकर त्रिपाठी ने किया तथा धन्यवाद ज्ञापन श्री भरत जालान ने किया।

प्रस्तुति : श्रीमोहन तिवारी

### कविता की एक अभूतपूर्व साँझ

नीलांबर संस्था द्वारा आईसीसीआर सभागार में कविताओं पर आधारित कार्यक्रम 'एक साँझ कविता की' का आयोजन किया गया। इस अवसर पर कविता को लोकप्रिय बनाने के लिए संस्था की ओर से मल्टीमीडिया का सकारात्मक उपयोग कर उसे डिजीटल रूप में प्रस्तुत किया गया। 'एक साँझ कविता की' के पहले आयोजन में अशोक सिंह (दुमका), नीलम सिंह, नीलकमल, विमलेश त्रिपाठी, आनंद गुप्ता और संजय राय ने अपनी कविताओं का पाठ किया। इन कवियों का परिचय और इनकी कविताओं के पाठ बिल्कुल अभिनव ढंग से कराया गया। इस कार्यक्रम में आलोचक के तौर पर प्रो. वेदरमण, प्रियंकर पालीवाल, प्रफुल्ल कोलख्यान ने कविताओं के संबंध में अपने-अपने वक्तव्य रखे। प्रो. वेदरमण ने कहा- 'कविता मूलतः सिर्फ सुंदर शब्दों का संचयन नहीं है, और संवेदनाओं की अतिरेकता कविता के तत्त्वों को कृत्रिम कर देता है। प्रियंकर पालीवाल ने कहा कि जहाँ बाजार को साहित्य को हाशिए पर ला रहा है, वहीं नीलाम्बर की ये पहल साहित्य मुख्यधारा में शामिल करने की पहल है। प्रफुल्ल कोलख्यान ने कविता के लोक तत्त्वों पर बात रखते हुए कहा कि इन कवियों से असीम संभावनाएँ हैं। उन्होंने नीलांबर संस्था के इस प्रयास की सराहना करते हुए कहा कि संस्था ने कविता को 'सेलेबस' बनाने का सराहनीय कार्य किया है। संगोष्ठी के अध्यक्ष प्रो. शंभुनाथ ने कहा, 'सचमुच कविता

की ये सुंदर सांझ थी, यह हमें आशान्वित करती है कि कविता जीवन को बचाने के लिए प्रतिबद्ध है। कविता के इस नये रूप से जीवन को देखा जाना अभूतपूर्व है। मैंने ऐसा कार्यक्रम आज तक नहीं देखा था।' इस कार्यक्रम में मुक्तिबोध, सर्वेश्वर और अरुण कमल की कविताओं पर आधारित वीडियो फिल्म भी दिखाया गया। इस कार्यक्रम में डिजीटल माध्यम से चर्चित कवयित्री और लेखिका रश्मि भारद्वाज (दिल्ली), समीक्षक निवेदिता भावसर (उज्जैन), कवि एवं लेखक वीरू सोनकर (कानपुर), लेखक एवं प्रो. संजय जायसवाल और अर्चना खंडेलवाल (कोलकाता) एवं राजभाषा अधिकारी विनोद यादव ने भी योगदान दिया। श्रोता के रूप में आये कवि राज्यवर्द्धन जी ने कहा यह कार्यक्रम मील की पत्थर साबित होगी। कविताओं पर एक कोलाज ममता पाण्डेय, निधि पाण्डेय, पंकज सिंह, सृष्टि सिंह, अभिषेक पाण्डेय, अवधेश शाह, प्रदीप तिवारी और विशाल पाण्डेय ने प्रस्तुत किया। प्रिया और पूनम सिंह ने अतिथियों का पारंपरिक रूप से स्वागत किया। संस्था के सचिव ऋतेश पाण्डेय ने कहा कि एक सांझ कविता की शृंखला अनवरत चलती रहेगी, फिलहाल हम आर्थिक रूप से इतने सुदृढ़ नहीं हैं, लेकिन धीरे-धीरे हम इसका विस्तार अलग-अलग राज्यों में भी करेंगे। पूरे कार्यक्रम के संयोजन में मनोज झा ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। कार्यक्रम का संचालन ममता पाण्डेय ने किया। धन्यवाद ज्ञापन दिया राहुल शर्मा ने।

प्रस्तुति- ममता पाण्डेय

### ‘मुक्तांचल’ प्राप्ति स्थान

आनंद प्रकाशन : 176/178, रवीन्द्र सारणी, कोलकाता- 700007

मानव प्रकाशन : 131, चितरंजन एवेन्यू, कोलकाता- 700073

मोहन बुक एजेंसी : 2, डेकर्स लेन, कोलकाता-700069

ओम न्यूज एजेंसी : रंगमहल टाकीज के सामने, न्यू मार्केट भोपाल

श्री सुमन कुमार : प्रगतिशील पुस्तक भंडार, इलाहाबाद बैंक के सामने,  
अशोक राजपथ, पटना-800004

पुस्तकालय : सेठ सूरजमल जालान पुस्तकालय (राम मंदिर), कोलकाता

हेम बुक सेंटर : जे.एन.यू. दिल्ली

मौर्या बुक स्टाल : लंका, वाराणसी

परिदृश्य प्रकाशन: 1, अनमोल बिल्डिंग, शोहराबजी, सांतुक लेन,  
धोबी तालाब, मरीन लाइन, ईस्ट मुंबई- 400002

प्रभात बुक सेंटर : सी/207, शीतल स्टार, शीतल नगर, एम.टी.एन.एल के पीछे,  
मीरा रोड (ईस्ट), मुंबई- 401107

ज्ञानदीप : नियर फिरालाल, एच.बी. रोड, राँची-834001

लालमणि साव बुक स्टॉल: आर. एन. साव चौक, पूर्णिया-854301

गोविंद न्यूज पेपर मार्केट : कैंट साइट, रेल बाजार, कानपुर-208004

श्याम सुंदर गुप्ता न्यूज पेपर मार्केट : कैंट साइट, (नियर रेलवे स्टेशन) कानपुर-208004

‘मुक्तांचल’ का हिंदी उपन्यास पर केन्द्रित विशेष अंक प्राप्त हुआ। धन्यवाद! साहित्य की विविध विशिष्टताओं और विधाओं के नूतन विकास का अध्ययन प्रस्तुत करती यह पत्रिका परंपरा और इतिहास का शोधपरक आयोजन भी है। अपने अतीत में हिंदी उपन्यास उत्सुकता और जिज्ञासापूर्ण तिलस्मी तथा अय्यारी में कथानकों का रचना कौशल था तो आज का उपन्यास मनुष्य की यथार्थ जिंदगी का दर्पण बन गया है। प्रेमचंदोत्तर उपन्यास-विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास तथा सूचना तंत्र के विज्ञापन युग से प्रभावित सांस्कृतिक तथा सामाजिक परिवर्तनों से उपजी संवेदनाओं से प्रभावित हैं। ऐतिहासिक तथा पौराणिक कथानक भी नये अर्थों का विस्तार कर रहे हैं। इस अंक में आप ने बीसवीं सदी का अंत और उपन्यास शीर्षक से डॉ. राणा प्रताप का लेख दिया है, जो इन कथनों का प्रमाण है। अनुशीलन और विमर्श स्तंभों में ऐतिहासिक, राजनैतिक और उत्तर आधुनिक सामग्री का विवेचन उत्तम है। कविता, कहानी तथा भाषांतर भी उच्च कोटि के हैं।

सूर्य प्रसाद शुक्ल, कानपुर

‘मुक्तांचल’ का एक वर्ष से नियमित पाठक हूँ और हाल ही में उपन्यास पर विशेष केंद्रित अंक पढ़ चुका हूँ। आलेख, अनुशीलन, विमर्श, गवेषणा और कविता जैसे स्तंभ जानदार लगे। समकालीन हिंदी उपन्यास के फ्रेम में ‘लोकतंत्र’ (डॉ. वेद प्रकाश अमिताभ), सेवासदन: समकालीन समस्याओं का आख्यान (डॉ. सरजू प्रसाद मिश्र), बीसवीं सदी का अंत और उपन्यास (डॉ. राणा प्रताप) तथा उत्तर आधुनिक व्यवस्था (प्रोफेसर जगदीश्वर चतुर्वेदी) इस विशेषांक की गरिमा को वर्द्धित करने वाले लेख हैं। अशोक अंजुम, जहीर कुरेशी, डॉ. नलिन, और धर्मेन्द्र गुप्त साहिल की गज़लें प्रासंगिक एवं अत्यंत जानदार लगी। ...और इन सब के प्रारंभ में अत्यंत चिंतन प्रधान, यथार्थ से लबालब प्रासंगिक तथा शानदार लगा। संपादकीय अर्थात् ‘संस्तुति’। इससे पत्रिका ‘मुक्तांचल’ की गरिमा और गौरव में अभिवृद्धि होगी, इसमें संदेह नहीं। ‘बौद्धिक चिंतन का प्रकर्ष : महादेवी साहित्य का गद्य पर्व’ लेख भी ऐसी साहित्यिक पत्रिकाओं को ऊर्जा प्रदान करता है। डॉ. अर्जुन चव्हाण, कोल्हापुर

‘मुक्तांचल’ का अप्रैल-जून २०१६ अंक मिला। धन्यवाद! आपने अच्छा किया इस अंक को हिंदी उपन्यास केंद्रित करके। हालांकि इस अंक के उपन्यासों पर विशेष सामग्री प्रस्तुत की गई है और जिन उपन्यासों को अध्ययन-विश्लेषण के लिए चुना गया है, उनमें ज्यादातर पुराने उपन्यास-सेवासदन, मैला आँचल, कुंभीपाक आदि हैं। पत्रिका की भी सीमा है और कम समय में वांछित उपन्यासों पर लेख लिखवाने में दिक्कत भी पेश आती है। अच्छे लेखों के उपलब्धता तो वैसे भी कठिन है। तथापि आपने सीमा के बावजूद अंक निकाल लिया यह कम नहीं है। विमल वर्मा के लेख का अभाव खला। आशा है, अगला अंक बेहतर निकलेगा।

रामनिहाल गुंजन, आरा



‘मुक्तांचल’ का ताजा अंक हाल ही में प्राप्त हुआ है बिल्कुल सुरक्षित जो अपने अभिनव अंदाज एवं तेवर में है, यद्यपि इसकी यात्रा लंबी नहीं है, फिर भी इसने जो मानक स्थापित किये हैं, वो किसी राष्ट्रीय एवं स्तरीय पत्रिकाओं से कम नहीं। अपने तीन वर्षों की गौरवशाली यात्रा में मुक्तांचल ने साहित्य संसार में जो कीर्तिमान स्थापित किया है, निश्चित रूप से स्तुत्य है, जो आपके भगीरथ प्रयास का परिणाम है। हिंदी का गढ़ माने जाने वाली पट्टी कोलकाता से निकलने वाली पत्रिकाओं में मुक्तांचल के सूचीबद्ध होने से एक और अध्याय का जुड़ाव हो गया है।

मैं आपको विशेष रूप से पूर्णिया की साहित्यिक सरजमीं से धन्यवाद ज्ञापित करना चाहूँगा कि पूर्णिया से आपका आत्मीय लगाव होने के कारण बराबर यहाँ के रचनाकारों को आप स्थान देती रही हैं, ताजा अंक अप्रैल-जून २०१६ में पूर्णिया जनपद के वरिष्ठ रचनाकार डॉ. छोटेलाल बहरदार एवं अरुण अभिषेक की रचनाएँ शामिल हैं। इन दोनों रचनाकारों की ओर बड़ी ही विनम्रतापूर्वक आभार व्यक्त करता है।

शिव नारायण शर्मा ‘व्यथित’, पूर्णिया, बिहार

‘मुक्तांचल’ अप्रैल-जून २०१६ अंक मिला। आभार! संस्तुति में आपके विचारों से सहमत हुआ जा सकता है किंतु साहित्य के प्रति सकारात्मक-रूख ही कारगर है। आज सृजनरत-साहित्यकार क्या परोस रहे हैं, राष्ट्रीय, समाज और अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में यह गौरतलब है। आलोचक, पाठक उनके कार्यों को देख रहे हैं। मानवीय संवेदनाओं से शून्य रचनाएँ हमें प्रभावित नहीं कर रही हैं। उपभोक्ता-संस्कृति और खुले-अर्थतंत्र में हमारी नियति और विडंबनाओं को समझने की जरूरत कहीं अधिक है।

देवनाथ सिंह आनंद गौतम का आलेख ‘भीष्म साहनी: दृष्टि और सृष्टि’ संक्षिप्त किंतु पठनीय है। बहुमुखी प्रतिभा के धनी भीष्म साहनी पर विशेष आलेख उनके जीवन और रचना-जगत की बारीकियों को उद्घाटित करता है। वहीं, डॉ. राणा प्रताप का आलेख ‘बीसवीं सदी का अंत और उपन्यास’ बहुत ही संक्षिप्त है। अच्छा होता प्रवृत्तियों के आधार पर उपन्यास-कला की बारीकियों को उद्घाटित किया जाता। आलेख संग्रहणीय हैं।

डॉ. वेद प्रकाश अमिताभ का ‘समकालीन हिंदी उपन्यास के फ्रेम में ‘लोकतंत्र’- आलेख परिश्रम से लिखा गया है। अमिताभ जी ने प्रयास किया है कि लोकतंत्र उपन्यासों में किस अर्थ में गुंफित है, फलित है? लोकतांत्रिक-व्यवस्थाओं में जन की स्थिति कैसी है? विकास के नाम पर होने वाले विनाश की भयावहता कैसे वर्जित है? लोकतंत्र में आधारित पंचायतों को स्थापना की जरूरत सफल है? आदि कई प्रश्नों में उत्तर ढूँढ़ने का प्रयास किया है। वहीं, डॉ. सरजू प्रसाद मिश्र का आलेख –सेवासदन वैश्या-समाधान पर केन्द्रित प्रेमचंद का उपन्यास है। समाज में धार्मिक और सामाजिक परंपराओं द्वारा पोषित मूल्यों से मुक्ति का संदेश है जहाँ नारी को पुरुष के समकक्ष बने रहने पर मुक्ति-मार्ग में कांटे बने रखे गये थे। आज स्थितियाँ बदली हैं। वहीं, डॉ. छोटेलाल बहरदार का आलेख ‘मैला आंचल: व्यक्ति, समय और समाज’ शोधपरक है। आलेख में समय और समाज को अच्छी तरह उकेरा गया है। उन परिस्थितियों का भी जिक्र किया गया है, जहाँ समाज की गति धीमी हो गयी है। उपन्यास के विविध पहलुओं को बड़ी बारीकी से परोसा गया है। रेणु कालीन सामाजिक-राजनैतिक और राष्ट्रीय समस्याओं का उद्घाटन भी आलेख में समाहित है।

डॉ. पुनीत कुमार राय का आलेख ‘प्रेमचंदोत्तर हिंदी-उपन्यासों में ग्राम्य-जीवन’ उल्लेखनीय है। प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों में कथ्य, भाषा और मूल्य में निरंतर विघटन हुआ है। उपनिवेशवादी दुःस्थितियाँ यहाँ भी हैं। ‘मैला आंचल’, ‘आधा गाँव’, ‘परती परिकथा’ ‘जल टूटता हुआ’ ‘लोक-ऋण’, ‘जंगल जहाँ शुरू होता है’, ‘अरे चांडाल’, ‘अग्नि बीज’, ‘राग-दरबारी’ ‘धरती धन न अपना’, ‘रेहन में रघू’ आदि उपन्यास ग्राम्य-जीवन की सही और समग्र पहचान है। यह एक दस्तावेज है। वहीं, डॉ. रामकिंकर पाण्डेय का आलेख ‘ऐतिहासिक उपन्यासों

के सर्जक वृंदावन लाल वर्मा पठनीय है। ऐतिहासिक उपन्यासों के सर्जक वृंदावन लाल वर्मा का इतिहास के प्रति दृष्टिकोण अतीतजीवी नहीं बल्कि वर्तमान की पीठिका पर विकसित स्वरूप है। गढ़कुण्डार, विराटा की पद्मिनी, झाँसी की रानी, महारानी दुर्गावती, अहिल्या बाई, रामगढ़ की रानी, मृगनयनी, आदि ऐतिहासिक प्रसिद्ध उपन्यासों हैं। वर्मा जी की उपन्यास रचना की कला आने वाले युग की थाती है।

डॉ. तरसेम गुजराल का 'कुम्भीपाक' का सभ्यता-विमर्श और डॉ. विवेक कुमार जायसवाल का 'कितने पाकिस्तान: रुहानी तकलीफों की दास्तान' आलेख भी गंभीर और पठनीय है। कमलेश्वर और नागार्जुन की रचना-शक्ति के बारे में सब को पता है।

राकेश भारतीय की 'बर्फ' कहानी नीरज की जिंदगी की कहानी लगी जहाँ कनाडियन पत्नी और उसके बीच में बर्फ सी जम गयी है। वहीं, सुशांत सुप्रिय की कहानी 'कहानी कभी नहीं मरती' सिमरन की दर्द-भरी जिंदगी की कथा लगी जहाँ सुरेंद्र और सिमरन अपना घर बसा लेते हैं। झंझावत और कठिनाइयाँ उसे रोक नहीं पाया। छब्बे पा जी से कथा सुनना सुरेन्द्र को अच्छा लगता था। वहीं, विद्या लाल की कहानी बिन ब्याही युवा लड़की की कहानी लगी जो एक समाज के लिए चुनौती थी। शेखर अब खाली लौट आया था। वह उसे वापस नहीं किया।

एकांत श्रीवास्तव के उपन्यास 'पानी भीतर फूल' पर डॉ. मीरा सिन्हा का समीक्षा आलेख पठनीय है। वहीं, कुसुम अंसल के उपन्यास 'तापसी' पर अरुण अभिषेक का समीक्षा-आलेख भी गौरतलब है।

कृष्ण भावुक, काली प्रसाद जायसवाल की कविताएँ जिंदगी की सच्चाइयों को उकेरने में सक्षम हैं। वहीं, अशोक अंजुम, जहीर कुरेशी, डॉ. नलिन और धर्मेन्द्र गुप्त 'साहिल' की गजलें जीवनानुभव, सच्चाईयों और युगीन स्थितियों की ओर हमारा खींचती है।

कलाधर, पूर्णिया, बिहार

'मुक्तांचल' के अंक मिले। अप्रैल-जून के अंक की संपादकीय हमारे समय के जरूरी सवाल उठाती है। साहित्य समाज का दर्पण है, पद आज भी विचारणीय है, दरअसल बाजार ने इस समीकरण को उलट-पुलट करके रख दिया है। साहित्य समाज और पाठकों के आपसी संबंधों पर नये सिरे से विचार करने की जरूरत है। नये लोग इस बहस से बचते हैं यह संवादहीनता खतरनाक है। कोई भी पीढ़ी नये रचनाकारों से निर्मित होती है। हिंदी में कुछ लोग आत्म मुग्धता के शिकार हैं। इस विमर्श को आगे बढ़ाने की पहल करनी चाहिए।

अंक में प्रो. जगदीश्वर चतुर्वेदी का लेख ...उत्तर आधुनिक अवस्था अद्भुत है पिछले अंकों में उन्होंने नामवर सिंह, राहुल सिंह जी पर लेख लिखा है। इस तरह के गंभीर लेखों की आज आवश्यकता है आज कल जो लिखा जा रहा उसमें हड़बड़ी ज्यादा दिखाई देती है। रमेश कुंतल मेघ का लेख मौलिक है। इस तरह के विषय पर केवल वही लिख सकते हैं। भगवती बाबू के उपन्यास पर शशिभूषण द्विवेदी नये ढंग से विचार करते हैं। प्रेमचंद और रेणु का मूल्यांकन अच्छा लगा। कुल मिलाकर यह अंक हिंदी उपन्यासों को समझने में हमारी मदद करता है। बंगला अथवा अन्य भारतीय भाषाओं के अनुवाद भी दें। कवियों के साक्षात्कार भी होने चाहिए। इससे हमें आज के समय की रचनाशीलता का पता चलेगा।

हम सब जानते हैं कि हम ऐसे समय में रह रहे हैं जहाँ साहित्य की भूमिका सीमित होती जा रही है। इसके लिए नेटवर्क जरूरी है, मेरा अनुभव है कि हिंदी में पाठकों की कमी नहीं है बस उन तक पहुँचने की जरूरत है। ऐसे समय में आप और आपकी टीम जिम्मेदारी निभा रही है।

यह सोचना हमें दुखी करता है कि जिस भाषा को बोलने वालों की संख्या ५० करोड़ से ज्यादा है वहाँ पत्रिकाएँ अधिकतम तीन हजार और किताबें एक हजार से ज्यादा नहीं छपतीं लेकिन बांग्ला में यह बात उलट है। उत्तर-पूर्व में साहित्य की चेतना ज्यादा है। हिंदी पढ़ी हमें निराश करती है क्योंकि यहां किसी तरह के सांस्कृतिक आंदोलन नहीं हुए हैं। पढ़ना हमारी दिनचर्या में शामिल नहीं है।

स्वप्निल श्रीवास्तव, फैजाबाद

**केंद्रीय हिंदी संस्थान**  
**मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार**

संपर्क: हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा-282005, फोन: 0562-2530684, वेबसाइट: [www.hindisansthan.org](http://www.hindisansthan.org), [www.khsindia.org](http://www.khsindia.org)

**संक्षिप्त परिचय**

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा 1961 ई. में स्थापित एक स्वायत्त शैक्षिक संस्था है। इसका संचालन स्वायत्त संगठन केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल द्वारा किया जाता है। संस्थान का मुख्यालय आगरा में स्थित है और इसके आठ क्षेत्रीय केंद्र: दिल्ली, हैदराबाद, गुवाहाटी, शिलांग, मैसूर, दीमापुर, भुवनेश्वर तथा अहमदाबाद में हैं।

**संस्था के प्रमुख उद्देश्य-**

■ भारतीय संविधान के अनुच्छेद 351 के अनुपालन में अखिल भारतीय भाषा के रूप में हिंदी का विकास करते हुए इसके विकास और प्रसार की दृष्टि से उपयोगी शैक्षणिक पाठ्यक्रमों की प्रस्तुति एवं संचालन ■ विभिन्न स्तरों पर गुणवत्तापूर्ण हिंदी शिक्षण का प्रसार, हिंदी शिक्षकों का प्रशिक्षण, हिंदी भाषा और साहित्य के उच्चतर अध्ययन का प्रबंधन, हिंदी के साथ विभिन्न भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक भाषा वैज्ञानिक अध्ययन को प्रोत्साहन और हिंदी भाषा एवं शिक्षण से जुड़े विविध अनुसंधान कार्यों का आयोजन अपने विभिन्न पाठ्यक्रमों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के लिए परीक्षा आयोजन तथा उपाधि वितरण ■ संस्थान की प्रकृति एवं उद्देश्यों के अनुरूप उन अन्य संस्थाओं के साथ जुड़ना या सदस्यता ग्रहण करना या सहयोग करना या सम्मिलित होना, जिनके उद्देश्य संस्थान के उद्देश्यों से मिलते-जुलते हों और इन समान उद्देश्यों वाले संस्थानों को संबद्धता प्रदान करना ■ समय-समय पर नियमानुसार अध्येतावृत्ति (फैलोशिप), छात्रवृत्ति और पुरस्कार, सम्मान पदक की स्थापना कर हिंदी से संबंधित कार्यों को प्रोत्साहन आदि।

**संस्थान के कार्य-**

● **शिक्षणपरक कार्यक्रम :** (i) विदेशी विद्यार्थियों के लिए हिंदी शिक्षण, (ii) हिंदीतर राज्यों के विद्यार्थियों के लिए अध्यापक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम, (iii) नवीकरण एवं संवर्द्धनात्मक कार्यक्रम (iv) दूरस्थ शिक्षण कार्यक्रम (स्ववित्तपोषित), (v) जनसंचार एवं पत्रकारिता, अनुवाद अध्ययन और अनुप्रयुक्त हिंदी भाषाविज्ञान के सांध्यकालीन पाठ्यक्रम (स्ववित्तपोषित)

● **अनुसंधानपरक कार्यक्रम :** (i) हिंदी शिक्षण की अधुनातन प्रविधियों के विकास के लिए शोध, (ii) हिंदी भाषा और अन्य भाषाओं का तुलनात्मक व्यतिरेकी अध्ययन, (iii) हिंदी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में आधारभूत एवं अनुप्रयुक्त अनुसंधान, (iv) हिंदी भाषा के आधुनिकीकरण और भाषा प्रौद्योगिकी के विकास के उद्देश्य से अनुसंधान, (v) हिंदी का समाज भाषा वैज्ञानिक सर्वेक्षण और अध्ययन, (vi) प्रयोजनमूलक हिंदी से संबंधित शोधकार्य। अनुसंधानपरक कार्यों के दौरान द्वितीय भाषा एवं विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण के लिए उपयोगी शिक्षण सामग्री का निर्माण।

● **शिक्षण सामग्री निर्माण और भाषा विकास :** (i) हिंदीतर राज्यों और जनजाति क्षेत्र के विद्यालयों के लिए हिंदी शिक्षण सामग्री निर्माण, (ii) हिंदीतर राज्यों के लिए हिंदी का व्यतिरेकी व्याकरण एवं द्विभाषी अध्येता कोशों का निर्माण, (iii) विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण पाठ्यपुस्तकों का निर्माण, (iv) कंप्यूटर साधित हिंदी भाषा शिक्षण सामग्री का निर्माण, (v) दृश्य-श्रव्य माध्यमों से हिंदी शिक्षण संबंधी पाठ्यसामग्री का निर्माण, (vi) हिंदी तथा हिंदीतर भारतीय भाषाओं में द्विभाषी/त्रिभाषी शब्दकोशों का निर्माण।

**संस्थान के प्रकाशन :** हिंदी भाषा एवं साहित्य, भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, तुलनात्मक एवं व्यतिरेकी अध्ययन, भाषा एवं साहित्य शिक्षण, कोश विज्ञान आदि से संबद्ध विभिन्न विषयों पर उपयोगी पुस्तकों का प्रकाशन। अब तक 150 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। विभिन्न स्तरों एवं अनेक प्रयोजनों की पाठ्यपुस्तकों, सहायक सामग्री तथा अध्यापक निर्देशिकाओं का प्रकाशन। त्रैमासिक पत्रिका- 'गवेषणा', 'मीडिया' और 'समन्वय पूर्वोत्तर' का प्रकाशन।

**पुस्तकालय :** भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, भाषा शिक्षण और हिंदी साहित्य के विभिन्न विषयों की पुस्तकों के विशेषीकृत संग्रह की दृष्टि से हिंदी के सर्वश्रेष्ठ पुस्तकालयों में से एक। लगभग एक लाख पुस्तकें। लगभग 75 पत्र-पत्रिकाएँ (शोधपरक एवं अन्य)।

**संस्थान से संबद्ध प्रशिक्षण महाविद्यालय :** हिंदी शिक्षण-प्रशिक्षण के स्तर को समुन्नत करने तथा पाठ्यक्रम में एकरूपता लाने के उद्देश्य से उत्तर गुवाहाटी (असम), आइजोल (मिजोरम), मैसूर (कर्नाटक), दीमापुर (नागालैंड) के राजकीय हिंदी शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालयों को संस्थान से संबद्ध किया गया है।

**योजनाएँ :** ■ भारतीय सांस्कृतिक केंद्र, कोलंबो में सिंहली विद्यार्थियों के लिए केंद्रीय हिंदी संस्थान के पाठ्यक्रम की 2007-08 से शुरुआत ■ अफगानिस्तान के नान्गरहर विश्वविद्यालय (जलालाबाद) में संस्थान द्वारा निर्मित बी.ए. का पाठ्यक्रम 2007-08 से प्रारंभ ■ विश्व के कई अन्य देशों (चेक, स्लोवानिया, यू.एस.ए., यू.के., मॉरिशस, बेल्जियम, रूस आदि) के साथ शैक्षणिक सहयोग और हिंदी पाठ्यक्रम संचालन के संबंध में संवाद जारी ■ हिंदी के बहुआयामी संवर्धन के लिए हिंदी कॉर्पोरा परियोजना, हिंदी लोक शब्दकोश परियोजना, भाषा-साहित्य सीडी निर्माण परियोजना, पूर्वोत्तर लोक साहित्य परियोजना तथा लघु हिंदी विश्वकोश परियोजना पर कार्य।

-डॉ. कमल किशोर गोयनका

उपाध्यक्ष, के.हि.शि.म.

ई-मेल : [kkgoynanka@gmail.com](mailto:kkgoynanka@gmail.com)

-प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय

निदेशक

ई-मेल : [nkpandey65@gmail.com](mailto:nkpandey65@gmail.com)

[directorofkhs@yahoo.co.in](mailto:directorofkhs@yahoo.co.in)

इस पार तक...

नीलाभ

(१६ अगस्त १९४५ - २३ जुलाई २०१६)



जहाँ मैं साँस ले रहा हूँ अभी  
वहाँ से  
ओझल है हत्यारों की माँद  
ओझल है संसद के नीचे जमा होते  
किसानों के खून के तालाब  
ओझल है देश के सबसे बड़े  
व्यापारी की टकसाल  
ओझल है खबरें  
और तस्वीरें  
और शब्द  
जहाँ मैं साँस ले रहा हूँ अभी  
भगदड़ मची हुई है आदिवासियों में  
कौंध रही हैं संगीनों वर्दियों में सजे  
हुए जल्लादों की  
चारों तरफ फैली हुई है रात  
खौफ की तरह  
वहाँ एक सुगबुगाहट है  
आग का राग गुनगुना रहा है कोई

बंदूक को साफ करते हुए,  
जूते के तस्मे कसते हुए  
पीठ पर बाँधने से पहले  
पिटू में चीजें हिफाजत से रखते हुए  
लंबे सफर पर जाने से पहले  
उस सब को देखते हुए  
जो नहीं रह जाने वाला है  
ज्यों-का-त्यों  
उसके लौटने तक या न लौटने तक  
इसी के लिए तो वह जा रहा है  
अनिश्चित भविष्य को भरे  
अपने मैगजीन में  
पूरे निश्चय के साथ।  
जहाँ साँस ले रहा हूँ अभी  
जल उठा है  
एक आदिवासी का अलाव  
अँधेरे के खिलाफ।

(जहाँ मैं साँस ले रहा हूँ अभी)



Application No: 1254088

Title code: WBHINO1615/25/1/2014-TC, Dtd: 18/07/2014

ब्रह्म विद्यार्थी मंत्र के लिए प्रकाशक श्रीराम कुमार सिंह और मुद्रक गोपी कृष्ण पालुदे  
प्रिन्सिंग, 50 सैलराम वॉय स्ट्रीट, कोलकाता से मुद्रित एवं 6/2/L आशुतोष मुखर्जी लेन,  
मोहाकिया, हावड़ा- 711100 से प्रकाशित।  
संपादक : डॉ. योग सिन्हा